प्रस्तुत चित्र में 'भी' के माध्यम से विभिन्न
यों का समन्वय दर्शाया गया है। चित्र के निचले
। में होठों के माध्यम से निकलती विभिन्न ध्वनि
ों के द्वारा स्याद्‌वाद को चित्रित किया गया है।
कांत जैन दर्शन का हृदय है, स्याद्‌वाद उसकी
मव्यक्ति की पद्धति।

जैन धर्म और दर्शन

जैन धर्म और दर्शन

मुनिश्री प्रमाणसागर जी महाराज

शिक्षा भारती

पूर्व प्रकाश

मनुष्य चिंतनशील प्राणी है। उसकी प्रवृत्ति खोजी रही है। उसने सदा से जीव और जगत्, चित् और अचित्, सत्ता और परमसत्ता के विषय में चिंतन किया है। जो कुछ भी उसके तर्क बुद्धि और अंतर्दृष्टि से अधिगत हुआ वही दर्शन है। दर्शन का अर्थ है 'दिव्यदृष्टि'।

जीवन के दुःखों को दूर करना ही दर्शन का मूल उद्देश्य है। भारतीय दर्शनों के अनुसार केवल सत्य की खोज और उनका ज्ञान प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं है किंतु उसे आत्मसात् कर तदनुरूप जीना भी आवश्यक है। यही कारण है कि भारत में धर्म और दर्शन सहचर और सहगामी रहे हैं। दर्शन सत्ता की मीमांसा करता है और उसके स्वरूप को तर्क एवं विचार से ग्रहण करता है, जिससे कि मोक्ष की उपलब्धि हो। धर्म उस तत्त्व को प्राप्त करने का व्यावहारिक उपाय है। दर्शन हमें आदर्श लक्ष्य को बताता है, धर्म उसको प्राप्त करने का रास्ता है। दर्शन द्वारा तत्त्व प्रतिपादित होते हैं, धर्म उनका क्रियान्वयन करता है। हेय को छोड़ता है उपादेय को ग्रहण करता है। दर्शन और धर्म दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

दर्शन की अनेक धाराएं हैं। उनका वर्गीकरण भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के रूप में किया जा सकता है। जैन दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का अपना एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकांत, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह ये चार महान् स्तंभ हैं। जिन पर जैन दर्शन का महाप्रासाद खड़ा है। जैन दर्शन जीवन दर्शन है। यह केवल कमनीय कल्पनाओं के अनंत आकाश में विचरण नहीं करता वरन् उन विमल विचारों को जीवन के प्रत्येक व्यवहार में प्रतिफलित करता है।

जैन साहित्य का विपुल भंडार है। उसके अधिकांश ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश जैसी प्राचीन भाषाओं में होने से नयी पीढ़ी का उनमें प्रवेश नहीं हो पाता। हिंदी भाषा में भी कुछ सरल और कुछ जटिल ग्रंथों का सृजन हुआ है। उन सभी की अपनी उपयोगिता है। लेकिन भाषागत जटिलता एवं प्रस्तुतिगत कठिनाई के कारण नयी पीढ़ी उनसे पूर्णतया लाभान्वित नहीं हो सकी है। आज की नयी पीढ़ी हर बात को उसकी वैज्ञानिकता एवं युक्तियुक्तता के साथ समझना चाहती है। यदि धर्म और दर्शन जैसे गूढ़ विषयों की भी वैज्ञानिक प्रस्तुति हो तो वह उसके लिए सहजग्राह्य बन सकती है। अतैव आज प्राचीन ग्रंथों की आधुनिक व्याख्या की आवश्यकता है।

इसी उद्देश्य से वर्षों से यह भावना थी कि जैन दर्शन की वैज्ञानिकता को रेखांकित करनेवाली पुस्तक लिखी जानी चाहिए। यद्यपि इस प्रकार की कई पुस्तकें लिखी जा चुकी

हैं। फिर भी पाठक उनसे पूर्णतया लाभान्वित नहीं हो सके हैं। क्योंकि या तो अत्यधिक विस्तार है या वे अति संक्षिप्त हैं। संस्कृतनिष्ठ भाषा भी उनकी दुरूहत कारण बनी है। इसके साथ ही जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण तथ्यों को अनावृत करने आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों का समावेश भी उनमें नहीं हो सका है। प्रस्तुत कृति प्रयास की एक कड़ी है।

प्रस्तुत सृजन में नया कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है वह सब पूर्वाचार्यों की दे ही है। मैंने तो पुरातन आचार्यों की देशना को नूतन आयाम देने का नम्र प्रयत्न मात्र ि है, जिससे कि आचार्यों की वाणी से सर्वसाधारण लाभान्वित हो सके। मैं अपने प्रयास कितना सफल हो सका इसका निर्णय तो विज्ञ पाठक ही करेंगे. फिर भी मुझे विश्वास है यह कृति पूर्वाचार्यों के मूलग्रंथों को हृदयंगम करने में सहायक बनेगी। यदि ऐसा हो स तो मैं अपने प्रयास को सार्थक समझूंगा।

सर्वप्रथम मैं परम पूज्य गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के चरणों विनयावनत होता हुआ हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं, जिनके कृपापूर्ण आशीष से क और कृतिकार का यह स्वरूप बन सका है।

कृति के लेखन में पूर्वाचार्यों के अनेक ग्रंथों का आलंबन है। अतः मैं पूरी आच परंपरा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्हें अपनी आस्था का अर्घ्य समर्पित करता इसके साथ ही मैं उन सभी आधुनिक विद्वानों का भी आभारी हूं जिनकी खोजपूर्ण पुस्त का आश्रय इस कृति में लिया गया है। प्रस्तुत सृजन में अनेक साधर्मी साधकों जिनवाणी के आराधकों ने अपने मूल्यवान सुझावों से कृति की उपयोगिता को बढ़ाया अतः मैं उनके प्रति भी कृतज्ञ हूं।

पुस्तक लेखन के क्षेत्र में मेरा यह प्रथम प्रयास है। अतः प्रतिपादनगत त्रुटियां सं संभाव्य है। विज्ञजनों से निवेदन है कि उनका बोध कराते हुए पुस्तक की उपयोगिता बढ़ में सहायक बनें।

आचार्यश्री विद्यासागर जी

आमुख

कुछ समय पूर्व मुझे अमरकंटक में पांच दिन पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के सानिध्य में व्यतीत करने का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अमरकंटक भारत के विशेष तीर्थों में से है। वह नर्मदा तथा दो अन्य नदियों का उद्‌गम है। बड़ा रमणीक स्थान है। आचार्यश्री की उपस्थिति ने उस रमणीकता में चार चांद लगा दिए थे। उन पांच दिनों में आचार्यश्री से विभिन्न विषयों पर जो चर्चाएं हुईं वे मेरे लिए चिरस्मरणीय थीं। उन चर्चाओं में धर्म, अध्यात्म, संस्कृति, साहित्य, देश और समाज की दशा और दिशा आदि भी विषय छूटे नहीं। सबसे बड़ी बात यह थी कि उन सारगर्भित चर्चाओं का मूल अधिष्ठान मानव उसका जीवन और मानवीय मूल्य थे।

आचार्यश्री के संघ में कई मुनि थे, जिन्होंने मेरा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। वे सारी चर्चाओं में बड़े मनोयोग से सम्मिलित रहे, उनके चेहरों पर निरंतर मुस्कराहट थी। स्पष्ट था कि चर्चाएं उनके आनंददायक थीं। वस्तुतः अपने गुरु की भांति वे स्वयं ज्ञान, विद्वता और वक्तव्यकला से अभिसिक्त हैं।

इन अंतेवासी संतों में मुनि प्रमाणसागर जी की छाप मेरे मन पर बड़ी गहरी पड़ी। जब-जब उनसे बातचीत का प्रसंग आया, मैंने पाया कि वह विद्वान हैं, किन्तु विद्वता के बोझ से दबे नहीं हैं, बड़े सरल हैं और सहज हैं। बाद में जब कटनी में मैंने उनके गूढ़ प्रवचन सुने तो मुझे अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति हुई। जैन तत्त्व ज्ञान को वह कथा-कहानियों के माध्यम से इतना ग्राह्य बना देते थे कि श्रोता मंत्र-मुग्ध होकर उनकी बात सुनते थे। बाद में भोपाल में भी उनसे लंबी चर्चा हुई।

इन्हीं मुनि महाराज को आज मैं एक नए रूप में देख रहा हूं, वह रूप है लेखक का। उनकी पुस्तक जैन धर्म और दर्शन की पांडुलिपि मेरे सामने है। विषय नया अथवा अछूता नहीं है। उस पर पहले भी अनेक लेखकों ने पुस्तकें लिखी हैं। वे सुपाठ्य, ज्ञानवर्धक और उपयोगी हैं। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक की अपनी विशेषता है। मुनि साधक होते हैं। वे जो कुछ कहते या लिखते हैं वह उनकी साधना में से प्रस्फुटित होता है। गांधीजी कहा करते थे, "मेरा जीवन ही मेरा दर्शन है।" इसी प्रकार साधक के हाथ में हर घड़ी साधना की तुला होती है। उस तुला पर तौल कर ही वह अपनी बात कहता है। इस पुस्तक की विशिष्टता यही है कि कोरे पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर नहीं लिखी गई है, इसके पीछे लेखक की अनुभूतियां हैं, जो पुस्तक को अधिकाधिक ग्राह्य बना देती हैं।

पुस्तक की पृष्ठभूमि में लेखक धर्म और दर्शन को परिभाषित करते हुए कहते हैं :

"मूल तत्व-द्रष्टाओं ने अपनी आत्मा के अंतर-मंथन से जो नवनीत प्राप्त किया है, धर्म उसी की अभिव्यक्ति है। उसी के निरूपण से विविध दर्शनों की उद्भूति हुई है। दर्शन का अर्थ होता है दृष्टि।"

वस्तुतः इसी दृष्टि की प्रधानता जैन धर्म और दर्शन का मूलमंत्र है। यदि यह कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यह दृष्टि प्रदान करना ही इस पुस्तक का अभिप्रेत है।

जैन धर्म भावप्रधान धर्म है और जैन दर्शन भावना प्रधान है। जैन धर्म में साधना को प्रमुखता दी गई है। सहज साधना की चर्चा का परमोत्कृष्ट रूप मुनि दीक्षा है। सब प्रकार के परिग्रह से मुक्ति, राग-द्वेष से सर्वथा विरति, वीतराग मार्ग का अनुसरण और आत्मसाधना में निमग्नता, यह है मुनिचर्या। मुझे हर्ष है कि ऐसे ही एक मुनि की लेखनी से इस पुस्तक का सृजन हुआ है। उनकी अंतरंग भावना और धर्म के अनवरत अध्ययन का प्रतिफल है यह पुस्तक। सर्वथा निरपेक्ष……भाव से रचित यह कृति तद्विषयक द्विषयक कृतियों में अपनी अलग पहचान रखती है।

'जैन' का उद्भव 'जिन' से है जो अपने को, अर्थात् अपनी इंद्रियों को जीतता है वह 'जिन' है। जिन कोई ईश्वरीय अवतार नहीं है। जिसने काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह-माया आदि को संपूर्ण रूप में जीत लिया, वही सच्चा विजेता है, जिन है। जहां तक धर्म का संबंध है, उसका अर्थ है धारण करना। जिस प्रकार बिना नींव के किसी भवन की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार बिना धर्म के मानव जीवन की सार्थकता नहीं हो सकती।

जैन तत्त्व चिंतकों ने वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। वैसे तो जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसके स्वभाव में धर्म न हो, परंतु आचार-स्वरूप धर्म केवल जीवात्मा में पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि धर्म का संबंध आत्मा से है। जीव के विशुद्ध आचार को धर्म कहा गया है। वही आत्मा का स्वभाव है।

जहां तक जैन धर्म का संबंध है, उसका अपना लंबा इतिहास है, उसकी अपनी परंपराएं हैं। उसका उद्भव कब हुआ और अपने विकास में उसे किन-किन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा। उसका सांगोपांग विवेचन लेखक ने इस पुस्तक में किया है। इतिहास पूर्व-दर्शक और मार्ग-प्रदर्शक होता है। विभिन्न दृष्टियों से जब उसका प्रतिपादन किया जाता है तो समन्वय के अभाव में न्याय-अन्याय के दृष्टिकोण बन जाना स्वाभाविक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साधक समन्वय का मार्ग अपनाता है। अपनी साधना-प्रधान दृष्टि से लेखक ने स्वतंत्र चिंतन से साक्ष्य के साथ इस पुस्तक में बड़ी गंभीरता से इसका विवेचन किया है।

जैन धर्म के इतिहास के विषय में अनेक भ्रांतियां हैं। भगवान महावीर को जैन धर्म का प्रवर्त्तक मानकर कहा गया है कि वह और बौद्धधर्म समकालीन हैं। यह एक बड़ी भूल है। ऐतिहासिक अभिलेखों और पुरातात्विक अवशेषों से पता चलता है कि जैन धर्म बहुत प्राचीन है। उसका प्रवर्त्तन तीर्थंकर भगवान आदिनाथ या ऋषभदेव ने किया था। इसकी विस्तृत चर्चा लेखक ने इस पुस्तक में की है।

इसी प्रकार की भ्रांतियाँ जैन दर्शन के विषय में हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि भारतीय दर्शन दो वर्गों में विभाजित है—आस्तिक और नास्तिक। वैदिक दर्शनों को आस्तिक और जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शनों को नास्तिक माना जाता है। यह वर्गीकरण भूल से हुआ है। लेखक ने लिखा है :

"आस्तिक और नास्तिक शब्द अस्ति नास्ति दिष्टं मति इस पाणिणी सूत्र के अनुसार ये शब्द बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसको हम दूसरे शब्दों में इंद्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं की सत्ता को मानने वाला नास्तिक कहलाता है। स्पष्टतः इस अर्थ में जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्द-प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तु तत्व पर विचार करने के कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्टय ही है।

चार्वाक जहां नास्तिक दर्शन है वहां जैन और बौद्ध दर्शन आस्तिक हैं क्योंकि ये दोनों ही मोक्ष और परलोक में आस्था रखते हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शन में दो ही विभाग हैं—वैदिक और अवैदिक, जैन और बौद्ध दर्शन दूसरी कोटि में आते हैं, क्योंकि ये वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते।

जैन धर्म और दर्शन विश्व को निवृत्ति मूलक जीवन शैली प्रदान करता है। संतुलित जीवन जीने की कला जैन धर्म की प्रमुख देन है। यह अहिंसा-मूलक सिद्धांत से सम्पृक्त है। महात्मा गांधी ने श्रीमद्रायचंद्र के सदुपदेश से आजीवन निवृत्ति मूलक शैली अपनाई और अहिंसा को अपने जीवन का आधार स्तम्भ बनाया। 'जीओ और जीनो दो' यह जैन दर्शन-जैन धर्म का प्रमुख सिद्धांत है। जैनाचार अहिंसा की भूल-भित्ति पर अवस्थित है।

चार खंडों में विभक्त पुस्तक के आरंभ में जैन धर्म की पृष्ठभूमि बताते हुए मुनिश्री ने जैन इतिहास की एक झलक दर्शायी है। अनंतर तत्व एवं द्रव्य का विवेचन है, जिसमें जीव और उसकी अवस्थाएं, अजीव तत्व और पुद्गल द्रव्य का विशद वर्णन करके अगले अध्याय में कर्म बंध की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। फिर वह आते हैं आत्म विकास के क्रमोन्नत सोपान पर। जैनाचार, मुनिधर्म, सल्लेखना आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए वह अनेकांत व स्याद्वाद की प्रस्तुति के साथ पुस्तक का समापन करते हैं। पुस्तक की संपूर्ण सामग्री को उन्होंने उन्नीस अध्यायों में समेटा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनागम के मूल तत्वों के निरूपण से लेकर कर्म सिद्धांत की विशद व्याख्या करते हुए कर्म बंध से मुक्ति के उपाय संवर-निर्जरा द्वारा मोक्ष-साधन, अनंतर श्रावक को श्रावकाचार और श्रमण को श्रमणापचार का प्रतिपादन करते हुए जैनधर्म की मूल धुरी अनेकांत और स्याद्वाद का सविस्तार उल्लेख करते हैं। और अंत में सल्लेखना का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

जैन धर्म और दर्शन बड़ा जटिल विषय है। उसकी परिभाषिक शब्दावली में सामान्य पाठक तो क्या प्रबुद्धवर्ग भी प्रायः उलझ जाता है। किंतु मुनिश्री ने इस पुस्तक में गूढ़ से गूढ़ तत्वों को भी सरल तथा लोकभाषा में समझाया है। उन्हेंाने मूल शब्दावली को छोड़ा ही नहीं है, लेकिन उदाहरणों के द्वारा उसे स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने विश्व के विख्यात दार्शनिक विज्ञान वेत्ताओं के मतों को मूल शब्दावली में परिभाषित किया है। इस शब्दावली

को उन्होंने सुगम बोधगम्य बना दिया है।

प्रामाणिकता की दृष्टि से उन्होंने यथास्थान संदर्भ भी दे दिए हैं। पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के सभी अंतेवासी, जैनधर्म दर्शन और साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन में अनवरत संलग्न रहते हैं और वाणी तथा लेखनी के द्वारा जिन सिद्धांतों को सरल से सरल भाषा में लोक-कल्याणार्थ प्रतिपादित करते रहते हैं। मुनि श्री प्रमाणसागर जी का यह प्रयास भी उसी दिशा का है। अपने अध्ययन, चिंतन और मनन के द्वारा गूढ़ विषयों को सहज रूप में प्रस्तुत करने की कला में वह निष्णात है। उसका उत्कृष्ट नमूना यह पुस्तक है। इससे सामान्य पाठक वर्ग को तो लाभ होगा ही, प्रबुद्ध वर्ग को भी समाधान होगा।

यह पुस्तक वर्तमान समय के एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। आज हमारा देश बड़ी तेजी से भौतिक मूल्यों का उपासक बन रहा है। नैतिक मूल्य आहत हो रहे हैं। मानव-जीवन का चरम लक्ष्य आज विस्मृत हो गया है। मानव भटक रहा है। इस संक्रात काल में, संकट काल में, यह पुस्तक दीप-स्तंभ का काम करती है। यह उस मार्ग को दर्शाती है, जो लोक कल्याण का मार्ग है, जो समाज की सुप्त चेतना को जागृत करता है।

ऐसी उद्बोधक कृति सुलभ करने के लिए, मैं विद्वान लेखक के प्रति हृदय से श्रद्धावनत हूं और आशा करता हूं कि इस कृति का सभी वर्गों और क्षेत्रों में हार्दिक स्वागत होगा।

- यशपाल जैन

7/8, दरियागज
नई दिल्ली-110002
26 जनवरी, 1992

अनुक्रम

पृष्ठभूमि

धर्म और उसका ध्येय

भारत एक धर्म प्रधान देश है। आदिकाल से ही यहां के अनेक तत्त्व चिंतकों ने जीवन और जगत् के संबंधों को पहचाना है। उसके रहस्य को समझा है। व्यक्ति के सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण, संयोग-वियोग के कारणों पर उनका ध्यान गया। उन्होंने व्यक्ति के राग द्वेषादिक द्वंद्वों तथा उसके जन्म और मृत्यु के चक्र से ऊपर उठने के मार्ग की गवेषणा की है। जिस प्रकार अपने दीर्घकालीन जीवन के अनेक प्रयोगों के बाद कोई निष्पत्ति वैज्ञानिकों के हाथ लगती है, वे वस्तु की तह में जाकर उसके मर्म को पकड़ते हैं तब उन्हें कोई सूत्र मिलता है। ठीक उसी तरह ऐहिक चिंताओं से मुक्त तथा दृष्टाओं ने अपनी आत्मा के अंतर्मंथन से जो नवनीत प्राप्त किया है, धर्म उसकी ही अभिव्यक्ति है। उसी के निरूपण के लिए विविध दर्शनों की उद्भूति हुई है। 'दर्शन' का अर्थ होता है 'दृष्टि'। दर्शन विभिन्न दृष्टि बिंदुओं के वैचारिक पक्ष का नाम है, जबकि धर्म उसके आचारात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। आत्मा क्या है? परलोक क्या है? विश्व क्या है? ईश्वर क्या है? आदि जिज्ञासाओं का समाधान दर्शन से ही किया जाता है। दर्शन के ही माध्यम से जीवात्मा अपनी अनंत शक्ति को पहचानकर परमात्म दशा को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। यद्यपि धर्म और दर्शन अलग-अलग हैं, फिर भी इन दोनों में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। विचारों का प्रभाव मनुष्य के आचरण पर अवश्य पड़ता है तथा व्यक्ति का आचार ही व्यक्ति के विचारों को अभिव्यक्ति दे सकता है। आचार के बिना विचार साकार रूप ग्रहण नहीं कर सकता। एक-दूसरे के अभाव में दोनों अधूरे और एकांगी हैं। व्यक्ति के आचार और विचारों का सम्यक् समायोजन ही धर्म का परम ध्येय है।

सभी धर्मों के अपने सिद्धांत हैं, उनका अपना इतिहास है तथा उनकी अपनी-अपनी परंपराएं हैं। जहां तक जैन धर्म की बात है, उसके उद्भव, विकास, सिद्धांत, इतिहास और परंपराओं के संबंध में हमें समझना है।

'जैन' शब्द 'जिन' से बना। जिन शब्द संस्कृत के 'जी' धातु के गर्भ से जन्मा है। यह जीतने के अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् जो इंद्रियों को जीतता है वह 'जिन' है। 'जिन' कोई ईश्वरीय अवतार न होकर काम क्रोधादिकों को जीतनेवाला सामान्य मनुष्य है। उस 'जिन' के अनुयायी 'जैन' कहलाते हैं। जैन का अर्थ हुआ 'जिन' का अनुसरण करनेवाला, 'जिन' के चरण-चिह्नों पर चलनेवाला।

'धर्म' शब्द संस्कृत के 'धृ' धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ धारण करना है। अर्थात्

जो धारण किया जा सके, वह धर्म है। जैन तत्त्व चिंतकों ने 'वत्थू सहावो धम्मो' वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जिसका कोई स्वभाव/धर्म न हो किंतु आचारस्वरूप धर्म सिर्फ जीवात्मा में ही पाया जाता है। अतः धर्म का संबंध आत्मा से है। इसलिए जीव के विशुद्ध आचरण/चरित्र को धर्म कहा गया है। यही आत्मा का स्वभाव है।

इसी धर्म को विविध दृष्टियों से भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किया गया है। एक आचार्य के अनुसार दया/करुणा धर्म की आधारशिला है। एक परिभाषा के अनुसार, जो व्यक्ति को दुःख के गर्त से निकालकर सुख के शिखर तक पहुंचा दे वह धर्म है। जीव के यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान और आचरण को भी धर्म कहा गया है। इन सभी लक्षणों में जीव की जागतिक समस्याओं से मुक्ति का ध्येय निहित है। इनकी व्याख्या हम अगले प्रकरणों में करेंगे।

उद्‌भव

अब हम जैन इतिहास की ओर देखते हैं। जैन धर्म के इतिहास के संबंध में बहुत-सी भ्रांतियां फैलायी गयी हैं। इस क्षेत्र में जैनों के साथ न्याय नहीं हुआ है। प्रायः यही कहा जाता है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म के समकालीन है तथा इसका प्रवर्तन भगवान महावीर ने किया था। यह कथन पक्ष व्यामोह एवं तद्‌विषयक अज्ञान का ही परिणाम है। प्राप्त ऐतिहासिक अभिलेखों एवं पुरातात्विक अवशेषों से जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। यह बात सुस्पष्ट है कि इस युग में जैन धर्म का प्रवर्तन प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने किया था। इनकी ऐतिहासिकता को सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. हर्मन जैकोबी, डॉ जिम्मर, डॉ. सेन, डॉ. राधाकृष्णन एवं वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता भी स्वीकार करते हैं। भागवत 5/2/6 में भी जैन धर्म के संस्थापक ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है।[1] ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में भगवान ऋषभदेव का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है। साथ ही उनमें जिन वातवसन और वातरसन मुनियों का उल्लेख मिलता है उनका भी संबंध जैन मुनियों से ही है।[2] प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में भी ऋषभदेव को जैन धर्म का प्रचारक कहा गया है।[3] जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों में से भगवान ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर भगवान की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है।[4] इसके अतिरिक्त हड़प्पा-मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त सीलों, मोहरों पर उत्कीर्ण कायोत्सर्ग मुद्राओं से जैन धर्म की ऐतिहासिकता के साथ-साथ उसकी प्राग्वैदिकता भी सिद्ध होती है।[5] अस्तु इस पर विशेष विचार आगे इतिहास के प्रकरण में हम स्वतंत्र रूप से करेंगे।

1. जैन दर्शन, पृ. —2
2. ऋग्वेद 4/55/3, ऋग्वेद —10/136
3. देखो न्याय बिंदु —1/142-51
4. देखें आगे जैन इतिहास एक झलक प्रकरण
5. सिंध फाइव थाइजेंड इअर्स एगो माडर्न रिव्यू, अगस्त —1932

जैन दर्शन नास्तिक नहीं

समस्त भारतीय दर्शनों को यदि वैदिक और अवैदिक इन दो विभागों में बांटा जाए तो जैन और बौद्ध दर्शन अवैदिक दर्शन की कोटि में आते हैं; क्योंकि न तो वे वेदों को प्रमाण मानते हैं न ही उसे ईश्वर प्रणीत या अपौरुषेय मानते हैं। इसी मान्यता के कारण कुछ लोग समस्त भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में विभक्त कर जैन और बौद्ध दर्शन को चार्वाकों की तरह नास्तिक दर्शन कहते हैं; जो कि मात्र कल्पना आधारित है; क्योंकि ऐसे तो कोई भी किसी को आस्तिक और किसी को नास्तिक ठहरा सकता है। वस्तुतः आस्तिक और नास्तिक होना वेदों को मानने या न मानने पर निर्भर नहीं है, अपितु परलोक को मानने और न मानने के आधार पर ही आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का वर्गीकरण होता है। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध दोनों दर्शन सर्वथा आस्तिक दर्शन हैं, क्योंकि दोनों मोक्ष और परलोक में आस्था रखते हैं।

वेद आधारित आस्तिकता और नास्तिकता की उक्त मान्यता को एक परंपरागत भ्रम निरूपित करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने प्रो. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य कृत जैन दर्शन पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है—"भारतीय दर्शन के विषय में एक परंपरागत मिथ्या भ्रम का उल्लेख करना भी हमें आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ काल से लोग ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शन की आस्तिक और नास्तिक नाम से दो शाखाएं हैं। तथाकथित वैदिक दर्शनों को आस्तिक दर्शन और जैन तथा बौद्ध जैसे दर्शनों को 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है।

वस्तुतः यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं नितांत मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द 'अस्ति नास्ति दिष्टं मति' (पा. 4.4.30) इस पाणिनि सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसको हम दूसरे शब्दों में इंद्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं) की सत्ता को माननेवाला आस्तिक और न माननेवाला नास्तिक कहलाता है। स्पष्टतः इस अर्थ में जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्द प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तु तत्त्व पर विचार करने के कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्टय ही है।[1]

सांस्कृतिक दृष्टि से जैन धर्म ने विश्व को एक समन्वित जीवन शैली दी है। कमल पत्र पर पड़े जल बिंदु की तरह त्याग और भोग की संतुलित जीवन जीने की कला जैन धर्म की प्रमुख देन है। जिस सह-अस्तित्व की चर्चा आज जोर-शोर से की जाती है, वह हजारों-हजार वर्ष पहले से ही जैन धर्म के अहिंसा मूलक सिद्धांत से जुड़ा हुआ है। 'जिओ और जीने दो' का जीवन दर्शन जैन धर्म का प्रमुख उद्घोष है। जैनाचार अहिंसा की ही मूलभित्ति पर खड़ा है। जैनत्व की आधारशिला ही अहिंसा है। अतः हम जैन संस्कृति को अहिंसा मूलक संस्कृति भी कह सकते हैं।

जैन समाज की संरचना जातीय आधार पर न होकर कर्मों/गुणों के आधार पर की गयी है। जैन दर्शन के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने जन्म मात्र से महान् नहीं बनता

1. जैन दर्शन, पृ. 15

अपितु अपने सत्कर्मों से ही वह महान् बन पाता है। मानव मात्र के प्रति समान दृष्टि रखकर की जानेवाली इस समाज व्यवस्था में ब्राह्मणत्व आदि जातियों का प्रमुख आधार वर्ग विशेष में जन्म न होकर अहिंसादिक सद्व्रतों के संस्कार ही हैं। इस मान्यता के अनुसार जिनमें अहिंसा, दया आदि सद्व्रतों के संस्कार विकसित हों वे ब्राह्मण, पर की रक्षा की वृत्ति वाले क्षत्रिय, कृषि, वाणिज्यादि व्यापार प्रधान वैश्य तथा शिल्प सेवादि कार्यों से अपनी आजीविका करनेवाले शूद्र हैं। कोई भी शूद्र अपने व्रत आदि सद्‌गुणों का विकास कर ब्राह्मण बन सकता है। ब्राह्मणत्व का आधार व्रत संस्कार है न कि नित्य ब्राह्मण जाति।[1]

कर्मणा वर्ण व्यवस्था स्वीकार कर जैन दर्शन ने ऐसे समाज की व्यवस्था दी है जिसमें न तो किसी वर्ग विशेष को संप्रभुता प्रदान कर विशेष संरक्षण प्रदान किया गया है, न ही किसी को हीन बताकर उसे अनावश्यक शोषण का शिकार बनाया गया है। मानव मात्र के प्रति सम भूमिका के आधार पर की जानेवाली इस सामाजिक व्यवस्था को हम समता मूलक समाज व्यवस्था भी कह सकते हैं। अतः जैन समाज समता मूलक समाज है।

जैन आगम चार अनुयोगों में विभक्त है। इन्हें जैनों के चार वेद भी कहते हैं, वे हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। 'प्रथमानुयोग' महापुरुषों के जीवन चरित्र द्वारा तत्त्व बोध कराता है। 'करणानुयोग' में लोक और अलोक का विभाग तथा कालचक्र के परिवर्तन का वर्णन है। 'चरणानुयोग' में मुनियों और गृहस्थों की चर्या का वर्णन है। 'द्रव्यानुयोग' में जीवाजीवादिक द्रव्यों का विवेचन है। अधिकांश जैन साहित्य प्राकृत/अर्धमागधी भाषा में है। संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, मराठी, हिंदी आदि अन्य भाषाओं में भी जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। जैनाचार्यों ने प्रायः सभी भाषाओं को अपनाकर साहित्य जगत् की श्रीवृद्धि की है। प्रायः उन्होंने जन प्रचलित भाषा में ही अपने भावों को अभिव्यक्ति दी है।

जैन धर्म के मूल तत्त्व

जैनाचार की मूलभित्ति अहिंसा है। अहिंसा का जितना-सूक्ष्म विवेचन जैन परंपरा में मिलता है, उतना अन्य किसी परंपरा में देखने को नहीं मिलता। प्रत्येक आत्मा चाहे वह किसी भी योनि में क्यों न हो तात्विक दृष्टि से समान है। चेतना के धरातल पर समस्त प्राणी समूह एक हैं। उसमें कोई भेद नहीं है। जैन दृष्टि का यह साम्यवाद भारत के लिए गौरव की चीज है। इसी साम्यवाद के आधार पर जैन परंपरा यह घोषणा करती है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन से भी किसी के वध की बात न सोचें। शरीर से हत्या कर देना तो पाप है ही, किंतु मन में तद्‌विषयक भाव होना भी पाप है। मन, वचन, काय से किसी भी प्राणी को संताप नहीं देना, उनका वध नहीं करना, उसे कष्ट नहीं देना यही सच्ची अहिंसा है। वनस्पति जगत् से लेकर मानव तक की अहिंसा की यह कहानी जैनाचार की विशिष्ट देन है। विचारों में एकात्मवाद का आदर्श

1. आदिपुराण 30/46 (ब्राह्मणः व्रत संस्कारात्)

तो अन्यत्र भी मिल जाता है, किंतु आचार पर जितना बल जैन दर्शन में दिया गया है उतना अन्यत्र नहीं मिल सकता। आचार विषयक अहिंसा का उत्कर्ष जैन परंपरा की अपनी देन है।

सामाजिक दृष्टि से इसी अहिंसा को व्रतों के रूप में व्याख्यायित किया गया है। अहिंसा को केंद्रबिंदु बनाकर उसके रक्षार्थ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे आचार सूत्र दिए गए हैं। जैनाचार के पांच व्रतों का ठीक रीति से पालन हो, इस उद्देश्य से व्रतों के दो स्तर स्थापित किए गए हैं—प्रथम अणुव्रत और द्वितीय महाव्रत। हिंसादिक पापों का परिपूर्ण त्याग महाव्रत कहलाता है तथा आंशिक रूप से त्याग होने पर अणुव्रत होता है। साधु महाव्रतों का पालन करते हैं तथा श्रावक (गृहस्थ) अणुव्रतों का। साधना द्वारा श्रावक क्रमशः साधुत्व की ओर कदम बढ़ाते हैं। व्रताचरण के उक्त आधार पर जैन संघठन मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविका रूप चार संघों में विभक्त हैं। इसे ही चतुर्विध संघ कहते हैं।

जैन साधना में त्याग और तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर इनके ज्ञान मूलक होने की अनिवार्यता है। ज्ञान रहित त्याग और तप निरर्थक माना गया है। इस दृष्टि में तप का मुख्य लक्ष्य इस तथ्य को अनुभूत करना है कि शरीर, शरीर है; आत्मा, आत्मा है। दोनों के अस्तित्व अलग-अलग हैं। शरीर जड़ है तथा आत्मा चेतन है। शरीर नाशवान है आत्मा शाश्वत है, लेकिन दोनों एक-दूसरे से इतने श्लिष्ट हैं कि इनके भेद का विश्वास नहीं हो पाता। शरीर और आत्मा का भेद समझने पर ही जैन साधना की शुरुआत होती है, "यही भेद विज्ञान या सम्यक् दर्शन कहलाता है।" भेद-विज्ञान की पृष्ठभूमि में ही तप सार्थक हो पाता है। इसे जैन साधना का प्रथम सोपान कहा गया है। परमानंद की प्राप्ति तप का चरम लक्ष्य है।

वस्तु की स्वतंत्रता जैन दर्शन का प्रमुख वैशिष्ट्य है। जैन धर्म में प्रत्येक जड़ या चेतन सभी की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गयी है। इस दृष्टि में व्यक्ति स्वयं अपना नियंता है। जो जैसा करता है वह वैसा ही भरता है। अतः किसी अन्य ऐसे ईश्वर या उस जैसी किसी अचिंत्य शक्ति को मान्यता नहीं दी गयी है जो हमें पुरस्कृत या दंडित करती हो, जिनके हाथों हमारा संपोषण या संहार होता हो। प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमन में पूर्ण स्वतंत्र है। अन्य पदार्थ दूसरे के परिणमन में निमित्त तो हो सकते हैं पर उसकी सत्ता का उल्लंघन नहीं कर सकते।

जैनदर्शन में लोक व्यवस्था का भी यथेष्ठ विवेचन है। तदनुसार यह लोक छह द्रव्यों से भरा है। वे हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। 'जीव' चेतनावान द्रव्य है। 'पुद्गल' चेतना रहित है। 'धर्म' द्रव्य जीव और पुद्गलों की गति में सहायक है। 'अधर्म' द्रव्य उनके ठहरने में हेतु है। 'आकाश' द्रव्य सभी को स्थान/अवगाह देता है। यह लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से बंटा हुआ है। 'लोक' शब्द संस्कृत के 'लुक्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'देखना'। जहां तक जीवादिक द्रव्य देखे या पाए जाते हैं वह लोक है। उससे बाहरी क्षेत्र को अलोक कहते हैं। समस्त आकाश अविभाज्य है। 'काल' द्रव्य सबके परिवर्तन या परिणमन में हेतु है। धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक ही हैं। ये पूरे लोक में व्याप्त हैं। काल द्रव्य असंख्य है। जीव अनंत हैं तथा पुद्गल अनंतानंत हैं। ये सब अनादि निधन हैं। ये सदा से हैं। इनका होना ही इनकी विशिष्टता है। इन्हें सत् कहते

हैं। सत् का कभी विनाश नहीं होता, न ही असत् का उत्पाद। प्रत्येक सत् गुण पर्यायों वाला होता है। अपनी गुण पर्यायों के माध्यम से इनमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक परिणमन होता रहता है, यह सत् का लक्षण है। इसमें प्रतिक्षण कुछ नया उत्पन्न होता है, पुराना मिटता है। यही इसका उत्पाद व्यय है। नये की उत्पत्ति और पुराने के विनाश के बाद भी द्रव्य अपनी मौलिकता को नहीं छोड़ता, यही इसकी ध्रौव्यता है। जैसे सोने के दो आभूषण हैं—मुकुट और कंगन। सुनार से मुकुट गलवाकर कंगन बनवाया गया। इसमें मुकुट का व्यय हुआ और कंगन का उत्पाद, लेकिन सोना ज्यों का त्यों बना रहा। समग्र लोक व्यवस्था उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की परिधि में ही संचालित है।

जैन दर्शन में सात तत्त्वों का उल्लेख है। वे हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, जीव चेतनावान हैं, अजीव चेतना रहित है। जीव और अजीव का योग ही संसार है। आस्रव और बंध संसार के कारण हैं। कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं। उनका आत्मा के साथ एक रस हो जाना बंध है। आस्रव का निरोध संवर है। कर्मों के झड़ने को निर्जरा कहते हैं तथा कर्मों से पूर्ण मुक्ति मोक्ष है। जीव और अजीव का योग ही संसार है। आस्रव और बंध संसार के कारण हैं। संवर और निर्जरा मोक्ष के साधन हैं। मोक्ष जीव की स्वाभाविक अवस्था है। यही जीव की मुक्ति यात्रा का वृत्तांत है।

'अनेकांत' जैन दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु अनंत धर्मात्मक है, अर्थात् एक ही वस्तु परस्पर विरोधी अनेक धर्मों/गुणों का पिंड है। उसे समझने के लिए अनेकांतात्मक दृष्टि को अपनाना जरूरी है। अनेकांत का अर्थ है अनंत धर्मात्मक वस्तु को तत्तत् दृष्टि से स्वीकार कर वस्तु का समग्र बोध करानेवाली दृष्टि। उसके बिना वस्तु का समग्र बोध नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु को हम जैसी देखते हैं वस्तु वैसी ही नहीं है, अपितु उसे उन जैसी अनंत दृष्टियों से देखे जाने की संभावना है। हमारा स्वल्प ज्ञान समग्र वस्तु को विषय नहीं बना सकता। जब तक हम वस्तु को समग्र दृष्टि से नहीं देखते तब तक हमें उसका समग्र बोध नहीं हो सकता। वस्तु के समग्र बोध के लिए अनेकांतात्मक दृष्टि को अपनाना अनिवार्य है।

स्याद्वावाद् उसी अनेकांतात्मक वस्तु तत्त्व के प्रतिपादन के लिए अपनायी जानेवाली भाषा शैली है। 'स्यात्' यह एक निपात् शब्द है। इसका अर्थ 'शायद' या 'संदेह' नहीं। यह तो कथंचित् किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि से, किसी एक धर्म की विवक्षा से आदि अर्थों में प्रयुक्त है। 'वाद' शब्द का अर्थ है कथन अथवा वचन। इस प्रकार जो स्यात् का कथन अथवा प्रतिपादन करनेवाला है वह स्यादवाद् है। तात्पर्य यह है कि जो विरोधी धर्म का निराकरण न करता हुआ अपेक्षा विशेष से विवक्षित पक्ष/धर्म का प्रतिपादन करता है वह स्याद्वावाद् है।

जब वस्तु तत्त्व ही अनेकांतात्मक है तब हम उसे एक साथ पूरा नहीं कह सकते। उसके लिए हमें सापेक्ष वर्णन शैली अपनाने की जरूरत है। जैसे—कोई व्यक्ति किसी का पिता है तो वह सिर्फ पिता ही नहीं है। अन्य संदर्भों में पुत्र, पौत्र, चाचा, भतीजा, मामा, भांजा, भाई आदि अनेक रिश्ते उसके साथ संभव हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हमें जो कुछ कहना है सापेक्ष ही कहना है। ऐसा कहकर ही हम वस्तु स्थिति का सही कथन कर सकते हैं। पुत्र की

अपेक्षा से ही उसे पिता कहा जा सकता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्सटाईन ने जिस Theory of Relativity का कथन किया है वह यही सापेक्षता का सिद्धांत है। लेकिन वह सिर्फ भौतिक पदार्थों तक ही सीमित है। जैन दर्शन में इसे और भी व्यापक अर्थों में कहा गया है कि लोक के सारे अस्तित्व सापेक्ष हैं। उन्हें लेकर कहा गया कोई भी निरपेक्ष कथन सत्य नहीं है।

इस प्रकार हम कहें कि 'आत्मा' से 'परमात्मा' की यात्रा करनेवाला यह जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। इसकी अपनी मौलिक और स्वतंत्र परंपरा है। यह किसी की शाखा नहीं है। अहिंसा जैन संस्कृति की अमूल्य निधि है। जैनाचार अहिंसा की ही मूल भित्ति पर खड़ा है। अनेकांत जैन विचार का मूलाधार है। वास्तु स्वातंत्र्य की उद्घोषणा करनेवाले जैन धर्म में कर्मणा वर्ण व्यवस्था को स्वीकार कर जो समता मूलक समाज व्यवस्था दी गयी है वह जैन धर्म की अनन्य देन है।

जैन दर्शन का विज्ञान

जैन-दर्शन की यह विशेषता मानी जा सकती है कि यह दर्शन अत्यंत विशाल, सर्वग्राही एवं उदार (catholic) दर्शन है, जो विभिन्न मान्यताओं के बीच समन्वय करने एवं सबों को उचित स्थान देने को तत्पर है। तथा इसका दृष्टिकोण बहुत अंशों में वैज्ञानिक प्रवृति (Spirit) से मेल खाता है। साथ ही साथ, यह बुराइयों को हटाकर विनाश के कगार पर खड़ी मानवता को सुख, शांति एवं मुक्ति का संदेश भी देता है। यह धर्म-दर्शन इतना पूर्ण और समृद्ध है कि, एक ओर विज्ञान के अनुकूल है, और दूसरी ओर विज्ञान के अशुभ प्रतिफलों से मुक्त भी है। इसमें विज्ञान की सभी खूबियां वर्तमान है साथ ही यह उनकी खामियों से भी मुक्त है। बल्कि यह उसकी पूरक प्रक्रिया भी हो सकता है। और विज्ञान को मानवतावादी और कल्याणकारी दृष्टिकोण भी दे सकता है।

हरेन्द्रप्रसाद वर्मा
—आस्था और चिंतन से उद्धृत

जैन इतिहास—एक झलक

- जैन परंपरागत इतिहास
- तिरेसठ शलाका पुरुष
- प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव
- वैदिक साहित्य में ऋषभदेव
- वात रसना श्रमण केशी और भगवान ऋषभदेव
- पुराणों और स्मृतियों में ऋषभदेव
- बौद्ध साहित्य में ऋषभदेव
- सिंधुघाटी और जैन धर्म
- शिलालेखीय साक्ष्य
- विद्वानों के अभिमत
- अन्य तीर्थंकर
- तीर्थंकर नेमीनाथ
- तीर्थंकर पार्श्वनाथ
- तीर्थंकर महावीर
- महावीर के बाद जैन धर्म
- श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव
- दिगम्बरत्व की प्राचीनता
- दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं में भेद
- उत्तर कालीन पंथ भेद

जैन इतिहास—एक झलक

किसी भी धर्म के मौलिक सिद्धांतों को समझने के पूर्व उसके उद्भव और विकास की कहानी की जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक है। उक्त जिज्ञासाएं जहां उस धर्म/संस्कृति की निर्मल परंपरा का बोध कराती हैं, वहीं अनेक प्रकार के ऐतिहासिक सत्य को भी अनावृत करती हैं। प्रत्येक धर्म का अपना इतिहास है, उसके उद्भव और विकास की एक लंबी कथा है, जो अपने-अपने प्रवर्तकों/प्रचारकों से संबद्ध है, जहां तक जैन धर्म के इतिहास की बात है इस संबंध में एक लंबी कालावधि तक भ्रमपूर्ण स्थिति रही है। कोई इसे बौद्ध धर्म की शाखा समझते हैं तो कोई इसे वैदिक क्रियाकांडों के विरोध में उत्पन्न हुआ धर्म मानते हैं। कोई भगवान महावीर को इसका संस्थापक मानने की भूल में हैं। तो कोई इसके उद्भव का संबंध भगवान पार्श्वनाथ से जोड़ते हैं। भारतीय इतिहास के क्षेत्र में हुए अधुनातन अन्वेषणों ने उक्त मान्यताओं का निराकरण कर जैन धर्म की प्राचीनता को संपुष्ट किया है।

जैन मान्यता के अनुसार जैन धर्म अनादि से है, जो समय-समय पर उत्पन्न होनेवाले चौबीस तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित होता रहा है। चौबीस तीर्थंकरों की यह परंपरा अनंतकालीन है। इस युग में जैन धर्म का प्रवर्तन भगवान ऋषभदेव ने किया था। इसके प्रमाण स्वरूप पुरातात्विक सामग्री, ऐतिहासिक अभिलेखों एवं साहित्यिक संदर्भों का अभाव नहीं है। इन्हीं के आधार पर अनेक प्राच्य व पाश्चात्य विद्वानों ने अपने गवेषणात्मक निष्कर्षों में यह बात स्थापित की है कि जैन धर्म प्रागैतिहासिक/प्राग्वैदिक धर्म है। इसके आद्य प्रवर्तक ऋषभदेव रहे हैं। इस अध्याय का प्रयोजन जैन परंपरागत इतिहास की संक्षिप्त प्रस्तुति के साथ उसकी प्राचीनता को संपुष्ट करना है।

जैन परंपरागत इतिहास

जैन अनुश्रुतियां भारत का इतिहास उस समय से प्रस्तुत करती हैं जब आधुनिक नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। उस समय व्यक्ति प्रायः जंगलों में रहते थे। मनुष्य ग्राम व नगरों में नहीं बसते थे। लोग न खेती करना जानते थे, न पशु-पालन, न ही कोई उद्योग-धंधे। उस समय के लोग अपने खान-पानादि समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति प्राकृतिक कल्पवृक्षों से कर लिया करते थे। (इच्छित/कल्पित आवश्यकताओं की पूर्ति हो

जाने से ही इन्हें कल्पवृक्ष कहा जाता था) उस समय न कोई समाज व्यवस्था थी न ही पारिवारिक संबंध। माता-पिता युगल पुत्र-पुत्री को जन्म देकर दिवंगत हो जाते थे। पुराणकारों ने उक्त व्यवस्था को भोग-भूमि व्यवस्था कहा है। धीरे-धीरे उक्त व्यवस्था में परिवर्तन हुआ और उस युग का आरंभ हुआ जिसे पुराणकारों ने कर्मभूमि कहा है। इसे हम आधुनिक सभ्यता का प्रारंभ भी कह सकते हैं। कल्पवृक्षों से फल प्राप्ति में कमी आने लगी। फलतः लोग एक-दूसरे से झगड़ने लगे। शीत-तुषारादि की बाधाएं सताने लगीं। जंगली पशुओं का आतंक बढ़ने लगा। उस समय क्रमशः 14 कुलकर हुए, जिन्होंने तत्कालीन समस्याओं का समाधान कर समाज को नई व्यवस्था दी। जैन परंपरा में कुलकरों का वही स्थान है जो कि वैदिक परंपरा में मनुओं का। मनुओं की संख्या भी चौदह बतायी गयी है। कुलकरों ने लोगों को हिंसक पशुओं से रक्षा का उपाय बताया। भूमि/वृक्षों की वैयक्तिक स्वामित्व की सीमाएं निर्धारित कीं। हाथी, घोड़ा आदि वन्य पशुओं का पालन कर उन्हें वाहन के उपयोग में लाना सिखाया। बाल-बच्चों का लालन-पालन एवं उनके नामकरणादि का उपदेश दिया। शीत-तुषारादि से अपनी रक्षा करना सिखाया। नदियों को नौकाओं द्वारा पार करना, पहाड़ों पर सीढ़ियां बनाकर चढ़ना, वर्षा से छत्रादिक धारण कर अपनी रक्षा करना सिखाया और अंत में कृषि द्वारा अनाज उत्पन्न करने की कला सिखाई। जिसके पश्चात् वाणिज्य, शिल्प आदि वे सब कलाएं व उद्योग-धंधे हुए जिनके कारण यह भूमि कर्मभूमि कहलाने लगी।

इस प्रकार सभी कुलकरों ने अपने-अपने समय में समाज को सभ्यता का कोई न कोई अंग प्रदान किया जिससे आधुनिक सभ्यता का विकास होने लगा। ऐतिहासिक दृष्टि से विद्वानों ने इस काल को पूर्व और उत्तर पाषाण युग का समन्वित रूप कहा है।

तिरेसठ शलाका पुरुष

चौदह कुलकरों के पश्चात् जिन महापुरुषों ने कर्मभूमि की सभ्यता के युग में धर्मोपदेश व अपने चरित्र द्वारा अच्छे-बुरे का भेद सिखाया, ऐसे तिरेसठ महापुरुष हुए, जो शलाका पुरुष अर्थात् विशेष गणनीय पुरुष माने गए हैं। उन्हीं का चरित्र जैन पुराणों में विशेष रूप से पाया जाता है। इन तिरेसठ शलाका पुरुषों में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बलभद्र और नौ प्रतिनारायण सम्मिलित हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

24 तीर्थंकर—1. ऋषभदेव, 2. अजितनाथ, 3. संभवनाथ, 4. अभिनंदन नाथ, 5. सुमति नाथ, 6. पद्मप्रभ, 7. सुपार्श्व नाथ, 8. चंद्रप्रभ, 9. पुष्पदंत, 10. शीतलनाथ, 11. श्रेयांस नाथ, 12. वासपूज्य, 13. विमलनाथ, 14. अनंतनाथ, 15. धर्मनाथ, 16. शांतिनाथ, 17. कुंथुनाथ, 18. अरहनाथ, 19. मल्लिनाथ, 20. मुनिसुव्रत नाथ, 21. नमिनाथ, 22. नेमिनाथ, 23. पार्श्वनाथ, 24. महावीर

12 चक्रवर्ती—1. भरत, 2. सगर, 3. मघवा, 4. सनतकुमार, 5. शांति, 6. कुंथु, 7. अरह, 8. सुभौम, 9. पद्म, 10. हरिसेन, 11. जयसेन, 12. ब्रह्म दत्त,

9 नारायण—1. त्रिपृष्ठ, 2. द्विपृष्ठ, 3. स्वयंभू, 4. पुरुषोत्तम 5. पुरुषसिंह 6. पुरुष

पुण्डरीक, 7. दत्त, 8. लक्ष्मण, 9. कृष्ण।

9 प्रतिनारायण—1. अश्वग्रीव, 2. तारक, 3. मेरक, 4. मधु, 5. निशुंभ, 6. बलि, 7. प्रह्लाद, 8. रावण, 9. जरासंध।

9 बलभद्र—1. अचल, 2. विजय, 3. भद्र, 4. सुप्रभ, 5. सुदर्शन, 6. आनंद, 7. नंदन, 8. राम, 9. बलराम।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभ

अंतिम कुलकर नाभिराज और उनकी पत्नी मरूदेवी से ऋषभदेव उत्पन्न हुए। इनका जन्म अयोध्या में हुआ था। इन्हें वृषभनाथ भी कहा जाता है। चौबीस तीर्थंकरों में से आदिम/प्रथम होने के कारण इन्हें आदिनाथ भी कहा जाने लगा। जैन धर्म का प्रारंभ यहीं से माना जाता है। अपने पिता की मृत्यु के बाद ये राज्यसीन हुए। उन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प आजीविका के साधनभूत इन छह कर्मों की विशेष रूप से व्यवस्था की तथा देश और नगरों को सुविभाजित कर संपूर्ण भारत को बावन जनपदों में विभाजित किया। लोगों को कर्मों के आधार पर इन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन तीन वर्णों की व्यवस्था की, इसलिए इन्हें प्रजापति कहा जाने लगा। इनकी दो पत्नियां थी—सुनंदा और नंदा। इनसे उन्होंने शतपुत्रों एवं दो पुत्रियों को जन्म दिया। जिनमें सुनंदा से भरत और ब्राह्मी तथा नंदा से बाहुबली और सुंदरी प्रमुख है। इन्होंने अपनी ब्राह्मी और सुंदरी नामक दोनों पुत्रियों को क्रमशः अंक और अक्षर विद्या सिखाकर समस्त कलाओं में निष्णात किया। ब्राह्मी लिपि का प्रचलन तभी से हुआ। आज की नागरी लिपि को विद्वान उसका ही विकसित रूप मानते हैं।

एक दिन राजमहल में नीलांजना नामक नृत्यांगना की नृत्य करते हुए ही आकस्मिक मृत्यु हो जाने से इन्हें वैराग्य हो गया। फलतः अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को समस्त राज्य का भार सौंपकर दिगंबरी दीक्षा धारण कर वन को तपस्या करने चले गए। भरत बहुत प्रतापी राजा हुए। उन्होंने अपने दिग्विजय द्वारा सर्वप्रथम चक्रवर्ती पद प्राप्त किया।[1] इसलिए इस देश का नाम इनके नाम के आधार पर भारत पड़ गया। जैनेतर साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है तथा विद्वानों ने भी इसमें अपनी सहमति प्रदान की है।

ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक कठोर तपस्या की। उसके परिणामस्वरूप उन्होंने कैवल्य प्राप्त कर समस्त भारत भूमि को अपने धर्मोपदेश से उपकृत किया। चूंकि उन्होंने अपने समस्त विकारों को जीत लिया था। इसलिए ये जिन कहलाए तथा इनके द्वारा प्ररूपित धर्म जैन धर्म कहलाने लगा। अपने जीवन के अंत में उन्होंने कैलाश पर्वत से मोक्ष/निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार जैन धर्म का प्रवर्तन प्रारंभ हो गया और उसी समय से जैन धर्म पूरे राष्ट्र का धर्म बन गया।

जैन धर्म की उक्त मान्यता का समर्थन जैनेतर साहित्य एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के

1. (अ.) देखें भरत और भारत

(ब.) मार्कण्डेय पुराण—एक अध्ययन, पृ. 138, डॉ० वासदेवशरण अग्रवाल

आधार पर भी होता है। वैदिक साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है, साथ ही उसमें जिन वातरसना केशी आदि मुनियों का उल्लेख मिलता है। विद्वज्जनों ने उनका संबंध भी जैन मुनियों से ही माना है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में प्रयुक्त 'अर्हन्' शब्द भी जैन संस्कृति के पुरातन होने का परिचय देता है।

वैदिक साहित्य में ऋषभदेव

पाठकों की सुविधा के लिए विद्वानों के लेखों के आधार पर यहां कुछ वैदिक ऋचाओं/मंत्रों को उद्धृत करते हैं जिनसे जैन संस्कृति का परिचय मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर ऋषभदेव को ज्ञान का आगार तथा दुखों व शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है कि—

असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिभा, अस्य शुरुधः संतिपूर्वीः।
दिवो न पाता विद्थस्धीभिः क्षत्रं राजाना प्रतिवोदधाथे ॥[1]

अर्थात् जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और पृथ्वी की प्यास बुझा देता है उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक ऋषभ महान हैं, उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि परंपरा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और सिद्ध) आत्माएं अपने ही आत्म गुणों से चमकती हैं। अतः वही राजा हैं, वे पूर्व ज्ञान के आगार हैं और आत्म पतन नहीं होने देते।

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धांत था—आत्मा में ही परमात्मा का अधिष्ठान है। उसे प्राप्त करने का उपाय करो। इसी सिद्धांत की पुष्टि करते हुए वेदों में उनका नामोल्लेख पूर्वक कहा गया है—

त्रिधावद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश[2]

अर्थात् मन, वचन, काय से बद्ध (संयत) ऋषभदेव ने घोषणा की—महादेव मर्त्यों में निवास करता है।

उन्होंने अपनी साधना व तपस्या से मनुष्य शरीर में रहते हुए उसे प्रमाणित भी कर दिखाया था। ऐसा उल्लेख भी वेदों में है—

तनमर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे[3] ऋग्वेद 39/17

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे। जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदशा में देवत्व प्राप्त की थी।[4]

वातरसना श्रमण/केशी और भगवान ऋषभदेव

ऋग्वेद में जो वातरसना मुनियों और श्रमणों की साधना का चित्रण मिलता है, उसका संबंध जैन मुनियों से ही है—

---

1. ऋषभ सौरभ पृ. 14 पर उद्धृत।
2. ऋषभ सौरभ पृ. 14 पर उद्धृत।
3. ऋषभ सौरभ पृ. 14 पर उद्धृत।
4. ऋषभ सौरभ पृ. 14

मुनयो वातरसनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानुध्राजिं यंति यद्‌वासो अविक्षत॥
उन्मदिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम।
शरीरादेस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥[1]

अर्थात् अतींद्रियार्थदर्शी वातरसना मुनि मल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई पड़ते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् वे रोक लेते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से दीप्तिमान होकर देवता स्वरूप प्राप्त हो जाते हैं। सर्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर वे मौनेय की अनुभूति में कहते हैं "मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायु भाव में स्थित हो गए। मर्त्यो ! तुम हमारा बाह्य शरीर मात्र देखते हो, हमारे अभ्यंतर शरीर को नहीं देख पाते।" यह वर्णन निश्चित ही किसी वैदिकेतर तपस्वी का है और वे तपस्वी ऋषभदेव ही होंगे। तैत्तरीयारण्यक 7.1 में इन्हीं वातरसना मुनियों को 'श्रमण' और 'उर्ध्वमंथी' भी कहा है। साथ ही उसमें ऋषभदेव का भी उल्लेख है—'वातरसना हवा ऋषभाः श्रमणा उर्ध्वमंथिनों वभूतुः।'[2]

श्रीमद्‌भागवत में श्रमणों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो वातरसना उर्ध्वमंथी श्रमण मुनि हैं वे शांत, निर्मल, संपूर्ण परिग्रह से सन्यस्त ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं। वातरसना मुनियों का संबंध दिगंबर श्रमणों से ही है, इसलिए निघंटू की भूषण टीका में श्रमण शब्द की व्याख्या इस रूप में की है—

श्रमणा दिगंबराः श्रमणाः वातरसना।

भागवत 11/2 में उपर्युक्त व्याख्या का समर्थन इसी प्रकार करते हुए कहा गया है—

श्रमणा वातरसना आत्म विद्या विशारदाः।

श्रमण दिगंबर मुनि का ही नामांतर है। आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण में वातरसन शब्द का अर्थ निर्ग्रंथ, निरंबर, दिगंबर करते हुए कहा है—

दिग्‌वासां वातरसना निर्ग्रंथेशो निरंबरः। *आदि पुराण*

इसी प्रकार ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर केशी, अर्हन् यति और व्रात्यों का उल्लेख आया है। विद्वानों के अनुसार उनका संबंध भी जैन संस्कृति से ही है। ऋग्वेद के गवेषणात्मक अध्ययन के आधार पर डा. सागर मल जैन ने 'ऋग्वेद में अर्हत और ऋषभवाची ऋचाएं' नामक लेख में लिखा है—

"ऋग्वेद में न केवल सामान्य रूप से श्रमण परंपरा और विशेष रूप से जैन परंपरा से संबंधित अर्हत, अर्हंत, व्रात्य, वातरसना मुनि, श्रमण आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है अपितु उसमें अर्हंत परंपरा के उपास्य वृषभ का भी उल्लेख शताधिक बार मिलता है। मुझे ऋग्वेद में वृषभवाची 112 ऋचाएं प्राप्त हुई हैं। संभवतः कुछ और ऋचाएं भी मिल सकती हैं।[3] यद्यपि यह

1. ऋग्वेद 10, 136, 2-3
2. जैन दर्शन और सस्कृति का इतिहास पृ ,11
3 डॉ गोकुल प्रसाद के अनुसार ऋग्वेद में 141 ऋचाओ में ऋषभदेव का स्तुतिपरक उल्लेख एव उत्कीर्तन हुआ है जिनमें ऋषभदेव को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुःखों का नाशक कहा गया है।
—णाणसायर ऋषभ अक पृ. 21

कहना कठिन है कि इन समस्त ऋचाओं में प्रयुक्त वृषभ शब्द ऋषभदेव का ही वाची है, फिर भी कुछ ऋचाएं तो अवश्य ऋषभदेव से संबंधित ही मानी जा सकती हैं। डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. जिम्मर, प्रो. विरूपाक्ष वार्डियर आदि कुछ जैनेतर विद्वान भी इस मत के प्रतिपादक हैं कि ऋग्वेद में जैनो के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से संबंधित निर्देश उपलब्ध होते हैं"[1]

पुराणों और स्मृतियों में ऋषभदेव

इस प्रकार वेदों में ऋषभदेव का उल्लेख तो मिलता ही है, श्रीमद्भागवत, मार्कण्डेय पुराण, कूर्मपुराण, वायु पुराण, अग्नि पुराण, ब्रह्मांड पुराण, बराह पुराण, विष्णु पुराण एवं स्कंध पुराण आदि में ऋषभदेव की स्तुति के साथ ही साथ उनके माता-पिता पुत्र आदि के नाम तथा जीवन की घटनाओं का भी सविस्तार वर्णन है।[2]

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध अध्याय तीन में अवतारों का कथन करते हुए बताया गया है। "राजा नाभि की पत्नी मरूदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान ने आठवां अवतार ग्रहण किया। इस संबंध में उन्होंने परमहंसों को वह मार्ग दिखाया जो सभी आश्रम वासियों के लिए वंदनीय है।" महाभारत शांतिपर्व में भी ऋषभदेव का उल्लेख है। ऐसा कहा जाता है कि अड़सठ तीर्थों की यात्रा करने से जो फल प्राप्त होता है उतना फल भगवान आदिनाथ के स्मरण मात्र से ही मिल जाता है—

अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।
श्री आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत ॥

इस प्रकार वैदिक साहित्य के अनुशीलन से ऋषभदेव की ऐतिहासिकता के साथ-साथ जैन धर्म के प्रस्थापक के रूप में उनके महान व्यक्तित्व का भी पता चलता है।

बौद्ध साहित्य

बौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। धम्म पद में उन्हें 'प्रवर वीर' कहा है (उसभं पवरं वीरं-422)। मंजुश्री मूल कल्प में उनको निर्ग्रन्थ तीर्थकर और आप्त देव के रूप में उल्लिखित किया गया है। 'न्याय विदु' अध्याय तीन में ऋषभ (वृषभ) और बर्द्धमान को सर्वज्ञ अर्थात् केवल ज्ञानी तीर्थकर लिखा है।[3] 'धर्मोत्तर प्रदीप' पृष्ठ 286 में भी उनका स्मरण किया गया है। इस प्रकार ऋषभदेव का उल्लेख प्राचीन इतिहास जैन, वैदिक, बौद्ध तीनों साहित्यों में मिलता है।

सिंधु घाटी और जैन धर्म

पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर भी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। इतिहासकारों और पुरातत्ववेत्ताओं की यह मान्यता है कि वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में जो

---

1. देखे श्रमण, अप्रैल—जून 1994
2. विशेष के लिए देखे—ऋषभ सौरभ पृ 77
3. सर्वज्ञ् आप्ति वा सज्योति ज्ञानादिक मुपदिष्टवान यथा वृषभ वर्धमानदिरिति—न्याय विंदु अ 3

सभ्यता थी वह अत्यंत समृद्ध और समुन्नत थी। विद्वानों ने उसे श्रमण संस्कृति से संबद्ध किया है। सन् 1922 से 1927 के बीच भारतीय पुरातत्व विभाग द्वारा सिंधु घाटी के हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से कई नए तथ्य प्रकाश में आए हैं, जिनसे जैन धर्म की प्राचीनता के साथ-साथ उसकी प्राग्वैदिकता भी सिद्ध होती है। इन दोनों स्थानों में जिस संस्कृति की खोज हुई वह सिंधु घाटी की सभ्यता कही जाती है। विद्वानों के अनुसार वह लगभग 5000 वर्ष पुरानी संस्कृति है। इन स्थानों से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री के आधार पर तत्कालीन भारतवासियों के रहन-सहन, पहनावा व रीतिरिवाज और धार्मिक विश्वासों का पता चलता है।

मोहनजोदड़ो से कुछ नग्न कायोत्सर्ग योगी मुद्राएं मिली हैं, उनका संबंध जैन संस्कृति से है। इसे प्रमाणित करते हुए स्व. राय बहादुर, प्रो. रामप्रसाद चंद्रा ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है—

"सिंधु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देवमूर्तियां न केवल योग मुद्रा में अवस्थित हैं वरन् उस प्राचीन युग में सिंधु घाटी में प्रचलित योग पर प्रकाश डालती हैं। उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की खड़ी मुद्रा भी प्रकट करते हैं और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनों से संबंधित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदि पुराण सर्ग अठारह में ऋषभ अथवा वृषभ की तपस्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्व संग्रहालय में एक शिला फलक पर जैन वृषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमाएं मिलती हैं, जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या 12 में प्रतिबिंबित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिश्री स्थापत्य में कुछ ऐसी प्रतिमाएं मिलती हैं जिनकी भुजाएं दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिश्री मूर्तियां या ग्रीक कुरों प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किंतु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं है जो सिंधुघाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनों की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती है। ऋषभ का अर्थ होता है वृषभ (बैल) और वृषभ जिन ऋषभ का चिह्न है।[1]

प्रो. चंद्रा के इन विचारों का समर्थन प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार भी करते हैं। वे भी सिंधु घाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभदेव की मानते हैं, उन्होंने तो सील क्रमांक 449 पर 'जिनेश्वर' शब्द भी पढ़ा है।[2]

इसी बात का समर्थन करते हुए डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी लिखते हैं कि फलक 12 और 118 आकृति 7 (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती हैं। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है। जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर ऋषभ देवता की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या F.G.H. फलक पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल ही बना है। संभव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा है तो शैव धर्म की तरह जैन

1. मार्डन रिव्यु अगस्त 1932 पृ. 156-60
2. It my also be noted that incription on the indus seal No 449 reads according to my decipherment "Jinesh". Indian Historical Quarterly. Vol. VIII No. 250.

धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिंधु सभ्यता तक चला जाता है।[1]

इसी बात की पुष्टि करते हुए प्रसिद्ध विद्वान राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं—

"मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। जिनके साथ योग और वैराग्य की परंपरा उसी प्रकार लिपटी हुई हैं जैसे कालांतर में वह शिव के साथ समन्वित हो गयीं। इस दृष्टि से जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति युक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व हैं।[2]

इसी संदर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. एम.एल. शर्मा लिखते हैं—

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहर पर जो चिह्न अंकित है वह भगवान ऋषभदेव का है। यह चिह्न इस बात का द्योतक है कि आज से पांच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। सिंधु निवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभदेव की पूजा करते थे।[3]

इसी बात के समर्थन में जैन धर्म को प्रागैतिहासिक धर्म निरूपित करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् वाचस्पति गोरैला लिखते हैं—

"श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म है। मोहनजोदड़ो से उपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परंपरा का प्रतिनिधित्व भी जैन धर्म ने ही किया है। धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैनों का विशेष योग रहा है।"[4]

इसी प्रकार अपनी पुस्तक *'हिमालय में भारतीय संस्कृति'* में विश्वम्भर सहाय प्रेमी लिखते हैं—

'शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से यदि इस प्रश्न पर विचार करें तो भी यह मानना ही पड़ता है कि भारतीय सभ्यता के निर्माण में आदिकाल से ही जैनियों का हाथ था। मोहनजोदड़ो की मुद्राओं में जैनत्व बोधक चिन्हों का मिलना तथा वहां की योग मुद्रा ठीक जिन मूर्तियों के सदृश होना इस बात का प्रमाण है कि तब ज्ञान और ललित कला में जैनी किसी से पीछे नहीं थे।'[5]

इसी आधार पर जैन धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक धर्म है इस बात की पुष्टि करते हुए डॉ. विशुद्धानंद पाठक और पं. जयशंकर मिश्र लिखते हैं—

"विद्वानों का अभिमत है कि यह धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिंधु घाटी की सभ्यता से मिली योग मूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों में ऋषभ तथा अरिष्ट नेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार है। भागवत् और विष्णु पुराण में मिलने वाली

1 हिंदू सभ्यता पृ 39
2. सस्कृति के चार अध्याय पृ 62
3. भारत मे सस्कृति और धर्म पृ ६२
4. भारतीय दर्शन पृ. ९३
5. हिमालय में भारतीय सस्कृति पृ. 47

जैन तीर्थकर ऋषभदेव की कथा भी जैन धर्म की प्राचीनता व्यक्त करती है।"[1]

इसी प्रकार जैनाचार्य विद्यानंदजी द्वारा लिखित *मोहनजोदड़ो, जैन परंपरा और प्रमाण* नामक शोधात्मक लेख दृष्टव्य है। उन्होने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करते हुए लिखा है—

जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद है। प्राचीनता के इस तथ्य को हम दो साधनों से मान सकते हैं—पुरातत्व/इतिहास। जैन पुरातत्व का प्रथम सिरा कहां है, यह तय कर पाना कठिन है क्योंकि मोहनजोदड़ो की खुदाई में कुछ ऐसी सामग्री मिली है जिसने जैन धर्म की प्राचीनता को कम से कम पांच हजार वर्ष आगे धकेल दिया है।[2]

इसी प्रकार हड़प्पा की खुदाई से एक नग्न मानव धड़ मिला है। नग्न मुद्रा कायोत्सर्ग मुद्रा है। केंद्रीय पुरातत्व विभाग के तत्कालीन महानिदेशक टी.एन.रामचंद्रन ने उस पर गहन अध्ययन किया है। उन्होंने अपने *'हड़प्पा एंड जैनिज्म'* नामक शोधपूर्ण पुस्तक में उस मूर्ति को ऋषभदेव की प्रमाणित करते हुए लिखा है—

"हड़प्पा की कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्णित मूर्ति पूर्ण रूप से जैन मूर्ति है, उनके मुख पर जैन धर्म का साम्य भाव दूर से झलकता है।"[3]

डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इसे तीर्थंकर ऋषभ की मूर्ति माना है। उनके अनुसार 'पटना के पास लोहानीपुर से प्राप्त तीर्थंकर महावीर की मूर्ति भारत की सबसे प्राचीन मूर्ति है। हड़प्पा की नग्न मूर्ति और इस जैन मूर्ति में समानता है। इनकी विशेषता है योग मुद्रा।'[4]

बाबू कामता प्रसाद जैन ने भी अपनी पुस्तक *'महावीर और अन्य तीर्थकर'* में लिखा है कि "हड़प्पा से प्राप्त एक प्लेट नं. 10 पर केवल मानव मूर्ति का धड़ उत्कीर्णित है। यह भी नग्न है और कायोत्सर्ग मुद्रा में है। इसका हूबहू साम्य बांकीपुर की जैन मूर्ति में मिलता है। यह मौर्य कालीन है।"[5]

हड़प्पा की संस्कृति को विद्वानो ने ईसा पूर्व 2000 से 3000 का माना है। इससे स्पष्ट होता है कि आज से चार-पांच हजार वर्ष पूर्व भी तीर्थकरों का अस्तित्व था और उनकी पूजा अर्चना होती थी। इन सब आधारों से अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि सिंधु घाटी की सभ्यता जैन संस्कृति से सबद्ध थी। श्री पी आर. देशमुख ने अपनी पुस्तक *इंडस सिविलाइजेशन ऋग्वेद एंड हिंदू कल्चर'* में लिखा है—

"जैनों के पहले तीर्थकर सिधु सभ्यता मे ही थे। सिधु जनों के देव नग्न होते थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता/संस्कृति को बनाए रखा और नग्न तीर्थकरों की पूजा की।" उन्होंने सिधु घाटी की भाषिक संरचना का भी उल्लेख करते हुए लिखा है—

1 भारतीय इतिहास और सस्कृति पृ 199-200
2 मोहनजोदडो जैन परपरा और प्रमाण पृ 12
3 The Harappan Statuette being exactly in the above specified Pore We may not wrong in identifying The God represented as a Trithankara or a Jaina ascetic of accredited fame and penance पृ 4
4 द इडस वैली सिविलाइजेशन एड ऋषभदेव, वी जी नैयर, पृ 1
5 महावीर और अन्य तीर्थकर, पृ 23

"सिधुजनों की भाषा प्राकृत थी। प्राकृत जन सामान्य की भाषा है। जैनों और हिदुओ मे भारी भाषिक भेद है। जैनों के समस्त प्राचीन धार्मिक ग्रथ प्राकृत मे है।, विशेषतया अर्धमगधी मे, जबकि हिन्दुओं के समस्त ग्रथ सस्कृत मे है। प्राकृत भाषा के प्रयोग से भी यह मिद्ध होता है कि जैन प्राग्वैदिक है और सिधु घाटी से उनका सबध था।"[1]

इस विषय मे डॉ प्रेमसागर जैन द्वारा लिखित *"सिधु घाटी में ऋषभ युग"* दृष्टव्य है। उन्होने अपने शोधात्मक लेख मे अनेक प्रमाणो के आधार पर यह स्थापित करते हुए कहा कि "समूची सिधु घाटी उसमे चाहे मोहनजोदडो हो या हडप्पा ऋषभदेव की थी, उनकी ही पूजा अर्चना होती थी।"[2]

इतिहासकारों के अनुसार वैदिक आर्यो के भारत आगमन अथवा सप्त सिधु से आगे बढने से पूर्व भारत में द्रविड नाग आदि मानव जातिया थी। उस काल की सस्कृति को द्रविड सस्कृति कहा गया है। डॉ हेरास, प्रो एस श्रीकठ शास्त्री जैसे अनेक शीर्षस्थ विद्वानो और पुरुतत्ववेत्ताओ ने उस सस्कृति को द्रविड तथा अनार्य सस्कृति का अभिन्न अग माना है। प्रो एस श्रीकठ शास्त्री ने सिधु सभ्यता का जैन धर्म के साथ सादृश्य बताते हुए लिखा है, "अपने दिगबर धर्म, योग मार्ग, वृषभ आदि विभिन्न लाछनो की पूजा आदि बातो के कारण प्राचीन सिधु सभ्यता जैन धर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखती है अत वह मूलत अनार्य अथवा कम से कम अवैदिक तो है ही।[3] हडप्पा से प्राप्त योगी मूर्तिया तथा वैदिक साहित्य में उल्लिखित दस्यु, असुर, नाग और व्रात्य आदि सस्कृतिया भी उन्ही का स्मरण कराती है। ये सभी सस्कृतिया जैन सस्कृति के अगभूत सस्कृनिया थी। इसी बात पर जोर देते हुए मेजर जनरल जे सी आर फर्लाग एफ आर एस ई ने अपने ग्रथ मे लिखा है—

"ईसा पूर्व अज्ञात समय से कुछ पश्चिमी, उत्तरी व मध्य भारतीय तुरानी जिनको द्रविड कहते है, के द्वारा शासित था। द्रविड श्रमण धर्म के अनुयायी थे। श्रमण धर्म जिसका उपदेश ऋषभदेव ने दिया था, वैदिको ने उन्हे जैनो का प्रथम तीर्थकर माना है। मनु ने द्रविडो को व्रात्य कहा है, क्योकि वे जैन धर्मानुयायी थे।"[4]

श्री नीलकठ शास्त्री ने *'उडीसा मे जैन धर्म'* नामक पुस्तक मे जैन धर्म को ससार का मूलधर्म बताते हुए द्रविडो को जैनो से सबद्ध किया है। वे लिखते है—

"जैन धर्म ससार का मूल अध्यात्म धर्म है। इस देश मे वैदिक धर्म के आने से बहुत पहले से ही यहा जैन धर्म प्रचलित था। खूब सभव है कि प्राग्वैदिको मे शायद द्रविडो मे यह धर्म था।'[5] इसी प्रकार पी सी राय चौधरी ने भी जैन धर्म को अत्यत प्राचीन धर्म माना है। उनके अनुसार मगध मे पाषाण युग के बाद कृषि युग का प्रवर्तन ऋषभ युग मे हुआ।[6]

1 इडस सिविलाइजेशन एड हिदू कल्चर, पी आर देशमुख पृ 344
2 सिधु घाटी मे ऋषभयुग डॉ प्रेमसागर जैन णाणसायर ऋषभदेव अक।
3 देखे भारतीय इतिहास— एक दृष्टि, पृ 28
4 सार्ट स्टडीज ऑफ काम्परेटिव रिलिजन पृ 243
5 उड़ीसा मे जैन धर्म पृ 3
6 जैनिज्म इन विहार पृ 47

शिलालेखीय साक्ष्य

जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से कलिंगाधिपति सम्राट खारवेल द्वारा लिखाया गया उदयगिरि, खंडागिरि के हाथी गुफा वाला लेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। *नमो अरहंतानं, नमो सव्व सिद्धानं* से प्रारंभ हुए उक्त लेख में जैन इतिहास की व्यापक जानकारी मिलती है। उसमें लिखा है कि महामेघवाहन खारवेल मगधराज पुष्यमित्र पर चढ़ाई कर ऋषभदेव की मूर्ति वापस लाया था। बैरिस्टर श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने उस लेख का गंभीर अध्ययन करके लिखा है—"अब तक के उपलब्ध इस देश के लेखों में जैन इतिहास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण शिलालेख है। उससे पुराण के लेखों का समर्थन होता है। वह राजवंश के क्रम को ईसा से 450 वर्ष पूर्व तक बताता है। इसके सिवाय यह सिद्ध होता है कि भगवान महावीर के 100 वर्ष के अनंतर ही उनके द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म, राज धर्म हो गया था और उसने उड़ीसा में अपना स्थान बना लिया था।"[1] उक्त लेख से यह प्रमाणित होता है कि भगवान महावीर के समय में भी ऋषभदेव की पूजा अर्चना होती थी।

मथुरा के कंकाली टीला में महत्त्वपूर्ण जैन पुरातत्व के अतिरिक्त 110 शिलालेख मिले हैं। उसमें सबसे प्राचीन देव निर्मित स्तूप विशेष उल्लेखनीय है। अत्यंत प्राचीन होने के कारण इसे देव निर्मित स्तूप कहा जाता है। पुरातत्व वेत्ताओं के अनुसार ईसा पूर्व 800 के आसपास उसका पुनर्निर्माण हुआ।[2] कुछ विद्वान उसे आज से 3000 वर्ष प्राचीन मानते हैं।[3] उसके साथ ही वहां से ई.पू. दूसरी सदी से बारहवीं शताब्दी तक की अनेक तीर्थंकर प्रतिमाएं भी मिली हैं। इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

इन्हीं सब आधारों के कारण विसेंट ए. स्मिथ ने लिखा है—

"मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन परंपरा के समर्थन में विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बात बताती है कि प्राचीन समय में भी वह अपने इसी रूप में मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारंभ में भी वह अपने विशेष चिन्हों के साथ चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता में दृढ़ विश्वासी था।"[4]

विद्वानों के अभिमत

इस प्रकार ऐतिहासिक खोजों, शिलालेखीय अन्वेषणों, पुरातात्विक साक्ष्यों एवं प्राचीन साहित्य के सत्यानुशीलन से ऋषभदेव के साथ-साथ जैन धर्म की प्राचीनता दर्पणवत् स्पष्ट हो जाती है। अब प्रायः सभी विद्वान् यह मानने लगे हैं कि जैन धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है और इसका प्रवर्तन ऋषभदेव ने किया था। प्रसंगानुरोध से इसी क्रम में कुछ विद्वानों के महत्वपूर्ण गवेषणात्मक मंतव्यों/निष्कर्षों को उद्धृत करते हैं जिनसे जैन धर्म की प्राचीनता

---

1. जै. सि. भास्कर भा. 5 वि. पृ. 26-30
2, 3. देखें 'ऋषभ सौरभ' में प्रकाशित डॉ. रमेश चंद शर्मा द्वारा लिखित 'मथुरा के जैन साक्ष्य'
4. दि जैन स्तूपः मथुरा, पृ. 6

का पता चलता है—

1. जैन धर्म के आरंभ को जान पाना असंभव है। इस तरह यह भारत का सबसे पुराना धर्म मालूम होता है।[1]

—मेजर जे.सी. आर. फरलांग

2. जैन धर्म तब से प्रचलित हुआ जब से सृष्टि का आरंभ हुआ। इससे मुझे किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं है कि जैन दर्शन वेदांतादि दर्शनों से पूर्व का है।[2]

—महामहोपाध्याय राम मिश्र शास्त्री

3. जैन परंपरा के अनुसार जैन दर्शन का उद्‌गम ऋषभदेव से हुआ, जिन्होंने कई शताब्दियों पूर्व जन्म धारण किया था। इस प्रकार के पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है जिसके आधार पर कहा ज़ा सकता है कि ईसा से एक शताब्दी पूर्व भी ऐसे लोग थे जो ऋषभदेव की पूजा करते थे, जो सबसे पहले तीर्थंकर थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्द्धमान एवं पार्श्वनाथ से पूर्व भी जैन धर्म प्रचलित था। यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है—ऋषभदेव, अजितनाथ, अरिष्ट नेमि। भागवत पुराण इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे।[3]

—भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन

4. पार्श्वनाथ को जैन धर्म का संस्थापक सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जैन परंपरा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की संभावना है।[4]

—सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. हर्मन जैकोबी

5. जब जैन और ब्राह्मण दोनों ही ऋषभदेव को इस अल्पकाल में जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं तो इस मान्यता को अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।[5]

—स्टीवेन्सन

6. विशेषतः प्राचीन भारत में किसी भी धर्मांतर से कुछ भी ग्रहण करके नूतन धर्म चलाने की प्रथा नहीं थी। जैन धर्म हिंदू धर्म से सर्वथा स्वतंत्र धर्म है। यह उसकी शाखा या रूपांतर नहीं है।[6]

प्रो. मेक्स मूलर

7. डॉ. जिम्मर जैन धर्म को प्रागैतिहासिक वैदिक धर्म से सर्वथा स्वतंत्र तथा प्राचीन मानते हुए लिखते हैं, "ब्राह्मण आर्यों से जैन धर्म की उत्पत्ति नहीं है, अपितु वह बहुत प्राचीन प्राग्‌आर्य, उत्तरपूर्वी भारत की उच्च श्रेणी के सृष्टि विज्ञान और मनुष्य आदि के

---

1. दि शार्ट स्टडीज इन साइंस ऑफ कंपेरेटिव रिलिजन, पृ. 14
2. जैन इतिहास में लोकमत
3. भारतीय दर्शन भाग-1 पृ. 233
4. इंडियन एंटीक्वेरी 46/63
5. It is So Seldom that Jains and Brahmans agree I do not see now. We can refuse them credit in this instance where the do so. **—Kalpsutra Introduction**
6. ऋषभ सौरभ पृ. 29

विकास तथा रीतिरिवाजों के अध्ययन को व्यक्त करता है ।[1]

8. जैन लोग अपने धर्म के प्रचारक सिद्धों को तीर्थंकर कहते हैं। जिनमें आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में संशय नहीं किया जा सकता। श्रीमद्‌भागवत में कई अध्याय ऋषभदेव के वर्णन में लगाए गए हैं। ये मनुवंशी महिपति नाभि और महारानी मरूदेवी के पुत्र थे। इनकी विजय वैजयंति अखिल महीमंडल पर फहराती थी। इनके सौ पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ थे 'भरत'। जो भारत के नाम से अपनी अलौकिक आध्यात्मिकता के कारण प्रसिद्ध थे और जिनके नाम से प्रथम अधीश्वर होने के हेतु हमारा देश भारत के नाम से विख्यात हुआ ।[2]

—बलदेव उपाध्याय

9. ग्रंथों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैन धर्म अनादि है। यह विषय निर्विवाद है तथा मतभेद से रहित है। सुतरां। इस विषय में इतिहास के सुदृढ सबूत है ।[3]

—पं. बालगंगाधर तिलक

10. यह सुविदित है कि जैन धर्म की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। भगवान महावीर तोअंतिम तीर्थंकर थे। भगवान् महावीर से पूर्व 23 तीर्थंकर हो चुके थे। उन्हीं में भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे, जिसके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैन कला में उनका अंकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है। ऋषभनाथ के चरित्र का उल्लेख श्रीमद्‌भागवत में भी विस्तार से आता है और यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि उसका क्या कारण रहा होगा ? भागवत में इस बात का भी उल्लेख है कि महायोगी भरत, ऋषभ के शतपुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारत वर्ष कहलाया ।[4]

—डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल

11. लोगों का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे, किंतु इसका प्रचार ऋषभदेव ने किया था। इसकी पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है ।[5]

—वरदाकांत मुखोपाध्याय

12. जैन और बौद्ध धर्म की प्राचीनता के संबंध में मुकाबला करने पर जैन धर्म वास्तव में बहुत प्राचीन है। मानव समाज की उन्नति के लिए जैन धर्म में सदाचार का बड़ा मूल्य है ।[6]

—फ्रेंच विद्वान् ए. गिरेनाट

13. संसार में प्रायः यह मत प्रचलित है कि भगवान् बुद्ध ने आज से 2500 वर्ष पहले अहिंसा सिद्धांत का प्रचार किया था। किसी इतिहास के ज्ञानी को इसका बिल्कुल ज्ञान नहीं कि महात्मा बुद्ध से करोड़ों वर्ष पूर्व एक नहीं अनेकों तीर्थंकरों ने अहिंसा के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। प्राचीन क्षेत्र और शिलालेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि जैन धर्म

1. Jainism does not drive from Brahman Aryan Sources but reflects the Cosmology and an Anthropalogy of a much old pre Aryan upper class of North Eastern India.
—The Philosophies Of India—p. 217
2. भारतीय दर्शन, पृ. 88 सप्तम संस्करण
3. अहिंसा वाणी, जुलाई 82, पृ. 197-198
4. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका प्रस्तावना पृ. 8
5. जैनधर्म की प्राचीनता पृ. 8
6. जैन धर्म पृ. 128

प्राचीन धर्म है जिसने भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ दिया ।[1]

अन्य तीर्थंकर

पूर्व कथित प्रमाणों एवं उपरोक्त विद्वानों के निष्पक्ष सम्मतियों के आधार पर भगवान ऋषभदेव की ऐतिहासिकता में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता। ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर थे। इनके बाद क्रमशः तेईस तीर्थंकर और हुए, जिनका जीवन चरित्र जैन पुराण, ग्रंथों में सविस्तार मिलता है। इसके अतिरिक्त मथुरा के कंकाली टीला एवं अन्य स्थानों से प्राप्त ईस्वी सन् से शताब्दियों पूर्व की निर्मित प्रतिमाओं से भी शेष तीर्थंकरों का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित होता है ।[2]

तीर्थंकर नेमिनाथ

इनमें बाइसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ जिन्हें अरिष्ट नेमि भी कहते हैं, की ऐतिहासिकता को विद्वानों ने स्वीकार किया है। वे नारायण श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे ।[3] यजुर्वेद आदि ग्रंथों में भी अरिष्ट नेमि का उल्लेख हुआ है।

पुराणों से भी स्पष्ट है कि श्री कृष्ण के समकालीन एक अरिष्ट नेमि नामक ऋषि थे। महाभारत में भी उनका उल्लेख है ।[4]

---

1. जैन धर्म पृ. 128
2. जैन स्तूप एंड अदर एण्टीक्वीटीज ऑफ मथुरा पृ. 24.25
3. Neminath is connected with the leyend of Shri Krishna as his realative .... The Harivansa Puran Estabalishes the Historicity of Neminath. He was never a mythical person. He is refferred to as a Jina in the Prabhasas Purana. Who obtained salvation on the M.T. Raivataka. — **Dr B.C. Law Voa, S.P.No. Vol.V.P. 48**
4. एक समय था जब इतिहासज्ञ विद्वान् भगवान नेमिनाथ की ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं रखते थे, किंतु आधुनिक ऐतिहासिक खोजों के आधार पर अब विद्वान् यह मानने लगे हैं कि श्रीकृष्ण के समय नेमिनाथ जैसे कोई महापुरुष हुए हैं। प्रसिद्ध कोषकार डॉ. नागेंद्रनाथ वसु, पुरातत्वज्ञ, डॉ. फूहरर, प्रो. वारनेट, कर्नल टाड, मि. कवा, डॉ. हरि सत्य भट्टाचार्य, डॉ. प्राणनाथ विद्यालकार, डॉ राधाकृष्णन आदि अनेक प्रौढ़ और प्रामाणिक विद्वान् तीर्थंकर नेमिनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने लगे हैं। स्वय ऋग्वेद, यजुर्वेद, अर्थववेद, सामवेद, ऐतेरेय ब्राह्मण, यास्कनिरुक्त, सर्वानुक्रमणिका टीका वेदार्थ दीपिका, सायण भाष्य, महाभारत, भागवत, स्कंद पुराण एव मार्कण्डेय पुराण आदि प्रसिद्ध ब्राह्मणीय ग्रथों में इनके उल्लेख मिलते हैं। इतना ही नहीं तीर्थकर नेमिनाथ का प्रभाव भारत के बाहर विदेशों में भी पहुंचा प्रतीत होता है।
   कर्नल टाड अपनी पुस्तक *राजस्थान* में लिखते हैं कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। इनमें पहले आदिनाथ या ऋषभदेव थे। दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केण्डिनेविया निवासियों के प्रथम 'ओडिन' तथा चीनियों के प्रथम 'फो' नामक देवता थे। डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार ने इसके अतिरिक्त 19 मार्च 1935 के साप्ताहिक 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में काठियावाड़ से प्राप्त एक प्राचीन ताम्र शासन प्रकाशित किया था। उनके अनुसार उक्त दानपत्र पर जो लेख अंकित था उसका भाव यह है कि 'सुमेर जाति में उत्पन्न बाबुल के खिल्दियन सम्राट नेवुचेदनज्जर ने जो रेवानगर (कठियाबाड़) का अधिपति है, यदुराज की इस भूमि (द्वारका) में आकर रेवताचल (गिरिनार) के स्वामी नेमिनाथ की भक्ति की तथा उनकी सेवा में दान अर्पित किया।' दानपत्र पर उक्त पश्चिमी एशियाई नरेश की मुद्रा भी अंकित है और उसका काल ईसा पूर्व 1140 के लगभग अनुमान किया जाता है। —**भारतीय इतिहास, एक दृष्टि पृ. 45**

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

तेईसवे तीर्थकर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी मे हुआ था। ये उग्रवशी राजा अश्वसेन और महारानी वामादेवी के पुत्र थे। 30 वर्ष की अवस्था मे इनका मन वैराग्य से भर उठा और कुमार अवस्था मे ही समस्त राज पाट छोडकर इन्होने दिगबरी दीक्षा धारण कर तपस्या मार्ग अपना लिया। कुछ दिन तक दुर्द्धर तप करने के उपरात इन्हे कैवल्य की उपलब्धि हुई। तदतर देश देशातरो मे भ्रमण करते हुए उन्होने जैन धर्म का उपदेश दिया। अत मे 100 वर्ष की अवस्था मे बिहार प्रदेश मे स्थित सम्मेद शिखर मे निर्वाण लाभ किया। वह पर्वत तब से आज भी पारसनाथ के नाम से विख्यात है। जैन पुराणों के अनुसार इनके और महावीर के निर्वाण काल मे 250 वर्ष का अतर है। इतिहासकारो के अनुसार इनकी जन्मतिथि 877 ई पू तथा निर्वाण तिथि 777 ई पू है।

पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

तीर्थकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता के बारे मे भी किसी प्रकार के सदेह के लिए कोई स्थान नही है। बौद्ध[1] और जैन[2] ग्रथो मे इनके शिष्यों का उल्लेख मिलता है। उनके स्तूप, मदिर और मूर्तिया स्वय उनके काल से अब तक की बराबर मिलती है, जिनसे उनका अस्तित्व प्रमाणित होता है।[3] डॉ जार्ल चारपेटर, डॉ गिरिनाट, डॉ हर्म्सवर्थ, प्रो रामप्रसाद चद्रा, डॉ विमल चरण लाहा तथा डॉ जिम्मर[4] प्रभृति अनेक विद्वान् इनकी ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हुए कहते है कि 'भगवान् पार्श्व अवश्य हुए, जिन्होंने लोगो को शिक्षाए दी थी। इनकी ऐतिहासिकता स्वय सिद्ध है।'[5]

तीर्थंकर महावीर

अतिम तीर्थकर महावीर का जन्म चैत्र शुक्ल त्रयोदशी (27 मार्च ईस्वी पूर्व 598) के दिन कुड ग्राम में हुआ। कुड ग्राम प्राचीन भारत के व्रात्य क्षत्रियों के प्रसिद्ध वज्जि सघ के वैशाली गणतत्र के अतर्गत था। वर्तमान मे उस स्थान की पहचान बिहार के वैशाली नगर से की गई है। वहा भगवान महावीर का स्मारक भी बना हुआ है। उनके पिता सिद्धार्थ वहा के प्रधान थे। वे ज्ञातृवशी काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय थे तथा माता त्रिशला उक्त सघ के अध्यक्ष लिच्छवि नरेश चेटक की पुत्री थी। उन्हे प्रियकारिणी देवी के नाम से सबोधित किया जाता था। नाथवशी होने के कारण महावीर को बौद्ध ग्रथों में नात पुत्र (नाथ पुत्र) भी

1 मज्झिम निकाय 1/25
2 उत्तराध्ययन गौतम केशी सवाद
3 ककाली टीला मथुरा का जैन स्तूप उनके ही समय बना था।
4 देखे भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ 47
5 At least with respect to Parshva the Tirthankara just preceding Mahavira We have grounds fare Parshva beleiving that he actualy lived thought Parshva is the first of Long Series Whom we can fairly visualize in all historical setting

—Philosophies of India

कहा गया है। महावीर के बचपन का नाम वर्धमान था किंतु समय-समय पर घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं के कारण वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर आदि नाम/उपाधियां भी उनके नाम के साथ जुड़ गए।

भगवान महावीर के समय देश की स्थिति अत्यंत अराजक थी। चारों ओर हिंसा का बोलबाला था। धर्म के नाम पर प्रतिदिन हजारों निरपराध पशुओं की बलियां दी जाती थीं। समाज का अभिजात वर्ग अपनी तथा कथित उच्चता के अभिमान में निम्नवर्ग का हर प्रकार से शोषण कर रहा था। वे मनुष्य होकर भी मानवोचित अधिकारों से वंचित थे। कुमार वर्धमान का मन इस हिंसा और विषमता से होने वाली मानवता के उत्पीड़न से बैचेन था। इस विषम परिस्थिति ने उन्हें आत्मानुसंधान की ओर प्रवृत्त किया। अतः वे तीस वर्ष की भरी जवानी में विवाह के प्रस्ताव को ठुकराकर मार्ग शीर्ष कृष्ण दसवीं (29 नवंबर ई.पू. 569) के दिन समस्त राज-पाठ का त्याग कर दिगंबरी दीक्षा धारण कर लिए। वे बारह वर्ष तक कठिन मौन साधना में रत रहे। परिणामस्वरूप वैशाख शुक्ल दसवीं (23 अप्रैल ई. पूर्व 557) के दिन बिहार के जृम्भक गांव के ऋजुकूला नदी के किनारे उन्हें केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई। वे पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा बन गए। वहां से चलकर वे राजगृह के बाहर स्थित विपुलाचल पर्वत पर पहुंचे। वहां उन्होंने श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन अपना प्रथम धर्मोपदेश दिया।

उनका उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमाग्धी भाषा में हुआ। यही उनका प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन था। (तीर्थंकर महावीर ने किसी नये धर्म का प्रवर्तन नहीं किया था, बल्कि पूर्व तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित धर्म का ही पुनरुद्धार किया था उनकी धर्मसभा समवशरण कहलाती थी। जहाँ जन समुदाय को बिना किसी वर्ण, वर्ग, जाति, लिंग आदि के भेदभाव के कल्याणकारी उपदेश दिया जाता था। इंद्रभूति अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त, सुधर्म, मण्डिक पुत्र, मौर्य पुत्र, अकंपित, अचल, मैत्रेय और प्रभास उनके ग्यारह गणधर या प्रधान शिष्य थे। महासती चंदना उनके अर्जिका/साध्वी संघ की प्रधान थी। सम्राट श्रेणिक उनके प्रधान श्रोता थे तथा महाराज्ञी चेलना श्रावक संघ की नेत्री थीं। इस प्रकार उन्होंने मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की। जिसमें सभी वर्गों/जातियों के लोग सम्मिलित थे। तीस वर्षों तक देश देशांतरों में विहार करके उन्होंने लोक मुक्ति की राह दिखाई। अनेक राज्यों की राजधानियों में उनका विहार हुआ और तात्कालीन राजा-महाराजाओं में अधिकांश उनके उपदेशों से प्रभावित हुए। उनमें से अनेकों ने श्रमण दीक्षा ग्रहण कर आत्मा साधना की। लाखों लोग उनके अहिंसा, संयम, समता और अनेकांत मूलक उपदेशों से प्रभावित होकर अनुयायी बने। भारतवर्ष में प्रायः प्रत्येक भाग में महावीर के अनुयायी थे। भारत के बाहर भी गांधार, कपिसा, पारसीक आदि देशों में उनके भक्त थे।

अंत में 72 वर्ष की अवस्था में कार्तिक कृष्ण अमावस्या (15 अक्टूबर, मंगलवार ईसा पूर्व 527) के दिन प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में मध्यम पावानगर के कमल सरोवर के मध्य स्थित द्वीपाकार स्थल प्रदेश से उन्होंने निर्वाण लाभ प्राप्त किया। उस स्थान पर आज भी एक विशाल मंदिर बना हुआ है, जो हमें भगवान महावीर के निर्वाण का स्मरण दिलाता है।

अहिसा, अनेकात, समता और कर्मवाद रूपधर्म चतुष्टय ही भगवान महावीर के उपदेशों का सार है। सैद्धातिक तथा व्यवहारिक दोनों दृष्टियों से अहिसा का जितना व्यापक रूप भगवान महावीर ने प्रदान किया, सभवतया उतना किसी अन्य धर्मोपदेष्टा ने नहीं दिया। जैन धर्म को उसके अतिम विकसित रूप देने का श्रेय अतिम तीर्थंकर महावीर को ही है।

इस प्रकार ऋषभदेव से महावीर तक जैन धर्म की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म रहा है और उसने व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की एकता एव विकास की दृष्टि से जो सिद्धांत प्रतिपादित किया है वे आज भी उतने ही प्रासगिक और उपयोगी हैं जितने उस समय थे।

महावीर के बाद जैन धर्म

भगवान महावीर के निर्वाणोपरात उनके प्रधान गणधर गौतम जैन सघ के नायक बने। महावीर का शिष्यत्व ग्रहण करने के पूर्व वह वेद-वेदागों के ज्ञाता प्रकाड ब्राह्मण पडित थे। भगवान महावीर के निर्वाण के दिन ही इन्हे शाम को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। 12 वर्ष तक सघ इनके नेतृत्व मे रहा। तत्पश्चात् महावीर सवत् 12 (ई पू 515) मे निर्वाण को प्राप्त हुए। उनके बाद सुधर्माचार्य को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। 11 वर्षो तक सघ इनके नेतृत्व में रहा। उनके निर्वाण के उपरात जबू स्वामी सघ के नायक बने। ये चपा नगरी के एक कोट्याधीश श्रेष्ठि के पुत्र थे और महावीर स्वामी के प्रभाव से शिष्य हो गए थे। इन्होने 39 वर्ष तक धर्म प्रवचन दिया और अत मे मथुरा चौरासी नामक स्थान पर उन्होने निर्वाण लाभ प्राप्त किया। उनके पश्चात् क्रमश विष्णु कुमार, नन्दि पुत्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पॉच श्रुतकेवली हुए, जिनके नेतृत्व मे सघ चला। इन पॉचो का कालयोग 100 वर्ष होता है। इन्हे सपूर्ण श्रुत का ज्ञान था। इनमे अतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का जैन धर्म के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके पूर्व समस्त जैन सघ अखड और अभिभक्त था किंतु इनकी मृत्यु के उपरात साधुओ मे मतभेद, सघभेद, गणभेद आदि प्रारभ हो गए। दिगबर और श्वेताबर रूप विभाजन का बीजारोपण भी यही पर हुआ था।

श्वेतांबर मत का प्रार्दुभाव

उपर्युक्त मतभेदादिक का सबसे बडा कारण मध्यदेश को ग्रसने वाला 12 वर्षीय महादुर्भिक्ष था। आचार्य भद्रबाहु निमित्त ज्ञानी थे। अत उन्होने भावी संकट को जानकर संपूर्ण सघ को दक्षिण भारत की ओर विहार करने का आदेश दिया। उनके नेतृत्व में श्रमण संघ का बहुभाग दक्षिण भारत को प्रस्थान कर गया। मौर्य सम्राट चद्रगुप्त भी उनसे दीक्षा धारण कर दक्षिण की ओर चले गए थे। अपना अत समय निकट जानकर आचार्य भद्रबाहु कर्नाटक के श्रवण बेलगोला के कटवप्र नामक पहाड़ी पर रुक गये तथा समस्त संघ को चोल, पांडय आदि प्रदेशों की ओर जाने का अदेश दिया। वहां उन्होंने समाधिमरण पूर्वक देह त्याग किया। नवदीक्षित सम्राट चंद्रगुप्त भी उनके साथ थे। मुनि चंद्रगुप्त ने भी वहां तपस्या की, जिसके कारण उस पहाड़ी का नाम चंद्रगिरि पड़ गया। इस आशय का छठी शताब्दी का एक

शिलालेख वहां मिला है, जिसके आधार पर विद्वानों ने चंद्रगुप्त को जैन मुनि होना स्वीकार किया है।

उधर आचार्य स्थूलभद्र (शांति आचार्य) के नेतृत्व में एक संघ उत्तर भारत में ही रुक गया था। दुर्भिक्ष के दुर्दिनों में वे अपनी कठोर चर्या/नियम संयम, आचार-विचार को आगमानुकूल सुरक्षित नहीं रख सके। उनमें अनेक प्रकार का शिथिलाचार प्रविष्ट हो गया। परिणामतः वस्त्र, पात्र, आवरण, दंड आदि भी उनसे जुड़ गए। इस प्रकार समय बीतने पर जब सुभिक्ष हो गया तो स्थूलभद्र आचार्य ने उनसे कहा कि "अपने कुत्सित आचरण को छोड़कर अपनी निंदा गर्हा पूर्वक फिर से मुनियों का श्रेष्ठ आचरण ग्रहण कर लो।", किंतु बहुत प्रयास करने के उपरांत भी वे बढ़ते हुए शिथिलाचार को नहीं रोक सके और इसी समय से जैन संघ दो भागों में बंटना प्रारंभ हो गया। पहला संघ मूल आगम के अनुसार आचरण करने वाला था, वह मूल संघ कहलाया तथा दूसरा संघ शिथिलाचारी साधुओं का था, जो आगे चलकर ईसवीं सन् की प्रथम शताब्दी में श्वेतांबर मत के जनक बने।

प्रारंभ में शिथिलाचारी साधुओं ने अपनी नग्नता को छिपाने के लिए एकमात्र खंड वस्त्र रखा, जिसे वे अपनी कलाई पर लटका लेते थे, इसलिए वे अर्द्धफालक कहलाए। मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त एक शिला पट्ट पर (अयागपट्ट) एक ऐसे ही साधु का चित्र अंकित है, जो अपने हाथ पर वस्त्र लटकाए हुए है तथा शेष शरीर नग्न है। आगे चलकर उस वस्त्र को धागे द्वारा कटि में बांधा जाने लगा। फिर लंगोट का प्रयोग होने लगा। धीरे-धीरे संपूर्ण वस्त्र प्रयोग होने लगा। वस्त्रों के साथ पात्र आदि चौदह उपकरणों का भी विधान होने लगा।[1] वस्त्रधारी साधु श्वेतांबर तथा मूल आगम के अनुसार चर्या करने वाले निर्वस्त्र साधु दिगंबर कहलाए। श्वेतांबराचार्य हरिभद्र सूरि के संबोध प्रकरण से प्रकट होता है कि विक्रम की 7वीं, 8वीं शताब्दी तक श्वेतांबर साधु भी एक कटि वस्त्र ही रखते थे तथा जो साधु उस कटि वस्त्र का निष्कारण उपयोग करता था वह कुसाधु माना जाता था,[2] किंतु आगे चलकर वस्त्र पात्रादि का जोरदार समर्थन किया गया। इस क्रम में सर्वप्रथम जंबू स्वामी के काल से जिन कल्प के विच्छेद का मिथक रचकर उस ओर बढ़ने वाले साधकों को रोका गया तथा प्राचीन आगमों में उल्लिखित अचेल नाग्न्य जैसे स्पष्ट शब्दों के अर्थ में भी परिवर्तन कर डाला गया।

इस प्रकार उक्त वस्त्र ही दिगंबर और श्वेतांबर रूप संघ भेद का सबसे बड़ा कारण बना। इस संदर्भ में प्रसिद्ध श्वेतांबर विद्वान् पंडित वेचरदासजी दोशी का निम्न कथन बड़ा

---

1 श्वेताबर साधु के चौदह उपकरण—

1 पात्र 2 पात्र बध 3 पात्र स्थापन 4 पात्र प्रमार्जनिका 5 पटल 6 रजस्त्राण 7 गुच्छक 8-9 दो चादरे 10 ऊनी वस्त्र 11. रजोहरण 12 मुख वस्त्रिका 13 मात्रक 14 चोल पट्टक।

यह उपधि औधिक अर्थात् सामान्य मानी गयी। आगे जाकर जो उपकरण बढ़ाये गये वे 'औपग्रहिक' कहलाए। औपग्रहिक उपधि मे सस्तारक, उत्तरपट्टक, दडासन और दड ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आज के श्वेताबर जैन मुनि रखते है। **—जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 474**

2 कीवो न कुणइ लोय लज्जई पडिमाई जल्ल मुवणोई।
सोवाहणो य हिडई बधइ कडि पट्ट मकज्जे ॥ **—संबोध प्रकरण, पृ. 14**

अर्थात् क्लीव दुर्बल श्रमण लोच नही करते, प्रतिमा वहन करते समय शर्माते हैं, शरीर पर का मल उतारते हैं, पैरो में जूता पहनकर चलते हैं और बिना प्रयोजन कटिवस्त्र बाधते है।

सटीक मालूम पड़ता है कि "किसी वैद्य ने संग्रहणी के रोगी को दवा के रूप में अफीम सेवन की सलाह दी थी किंतु रोग दूर होने पर भी जैसे उसे अफीम की लत पड़ जाती है और वह उसे नहीं छोड़ना चाहता, वैसी ही दशा इस अपवादिक वस्त्र की हुई ।[1]

दिगंबरत्व की प्राचीनता

भगवान महावीर से आचार्य भद्रबाहु के काल तक संपूर्ण जैन संघ निर्ग्रंथ संग कहलाता था तथा उस समय सभी साधु दिगंबर ही रहते थे । पंडित कैलाशचंदजी सिद्धांत शास्त्री ने *'जैन साहित्य का इतिहास'* नामक ग्रंथ में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अनेक इतिहासज्ञ, विद्वानों ने भी इसे स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि आचार्य भद्रबाहु के समय पड़ने वाले महादुर्भिक्ष के कारण ही निर्ग्रंथ संघ दिगंबर और श्वेतांबर दो संप्रदायों में विभक्त हुआ ।[2]

प्राचीन साहित्य के अन्वेषण शिलालेखीय साक्ष्यों एवं पुरातात्विक सामग्री के आधार

---

1 जैन साहित्य मे विकार, पृ 40

2 (क) दिगबर सप्रदाय के विषय मे अग्रेजी विश्वकोषकार निम्न कथन विशेष बोधप्रद है—

"The Jains are divided into two great parties Digmbers or sky clad ones and the Swetambers or the white robed ones The latter have only as yet been traced and that doubtfully as far back as the 5th century after chirst the former are almost certaintly The same as the Nirganthas who are reffered to in numerous passage of Buddheit Pali Pitatkas and must therefore be at least as old as 6th century B C The Nirganthas are reffered to in one of Ashoka's edicts "

—Vide Ency. Brit. Eleventh, Vol. 15, Page 127

(ख) आर सी मजुमदार ने लिखा है "जब भद्रबाहु के अनुयायी मगध मे लौटे तो एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ । नियमानुसार जैन साधु नग्न रहते थे किंतु मगध के जैन साधुओ ने सफेद वस्त्र धारण करना प्रारभ कर दिया । दक्षिण भारत से लौटे हुए जैन साधुओ ने इसका विरोध किया, क्योकि वे पूर्ण नग्नता को महावीर की शिक्षाओ का आवश्यक भाग मानते थे । विरोध का शात होना असभव पाया गया और इस तरह श्वेताबर (जिसके साधु सफेद वस्त्र धारण करते है) और दिगबर (जिसके साधु एकदम नग्न रहते है) सप्रदाय उत्पन्न हुए । जैन समाज आज भी दोनो सप्रदायो में विभाजित है ।

—प्राचीन भारत, पृ. 149

(ग) केब्रिज हिस्ट्री में भद्रबाहु के दक्षिण गमन का निर्देश करके आगे लिखा है "यह समय जैन सघ के लिए दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है और इसमे कोई सदेह नही है कि ईस्वी पूर्व 300 के लगभग महान् सघ भेद का उद्भव हुआ, जिसने जैन सघ को श्वेताबर और दिगबर सप्रदायों में विभाजित कर दिया । दक्षिण से लौटे हुए साधुओ ने, जिन्होने दुर्भिक्ष के काल मे बड़ी कड़ाई के साथ अपने नियमों का पालन किया था, मगध मे रह गए अपने अन्य साथी साधुओ के आचार से असतोष प्रकट किया तथा उन्हे मिथ्या विश्वासी और अनुशासनहीन घोषित किया ।"

—केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया क. हि. (संस्करण 1955) , पृ. 147

(घ) विश्वेश्वरनाथ रेणु ने लिखा है—"कुछ समय बाद जब अकाल निवृत्त हो गया और कर्नाटक से जैन लोग वापिस लौटे तब उन्होंने देखा कि मगध के जैन साधु पीछे से निश्चित किए गए धर्म ग्रथों के अनुसार श्वेत वस्त्र पहनने लगे, परतु कर्नाटक से लौटने वाले साधुओं ने इस बात को नही माना । इससे वस्त्र पहनने वाले साधु श्वेताबर और नग्न रहने वाले साधु दिगबर कहलाए । **—भारत के प्राचीन राजवंश, पृ. 41**

पर भी दिगंबरों की प्राचीनता सिद्ध होती है। जितनी भी प्राचीन प्रतिमाएं मिली हैं वह सब दिगंबर रूप में ही हैं। स्वयं श्वेतांबर ग्रंथों में यह उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर ऋषभदेव और महावीर ने दिगंबर धर्म का उपदेश दिया था। उन ग्रंथों में दिगंबर वेश को अन्य वेशों से श्रेष्ठ बताते हुए यह भी कहा है कि भगवान महावीर ने निर्ग्रंथ श्रमण और दिगंबरत्व का प्रतिपादन किया था और आगामी तीर्थकर भी उसका ही प्रतिपादन करेंगे।[1] वैदिक साहित्य और बौद्ध ग्रंथों में दिगंबर मुनियों के रूप में ही जैन धर्म का उल्लेख हुआ है। वेदों में वातरसना मुनियों के रूप में तो दिगंबर मुनियों का उल्लेख मिलता ही है। उपनिषदों में दिगंबरों को 'यथाजात रूपधरो निर्ग्रंथों निष्परिग्रहः शुक्ल ध्यान परायणः' लिखा है।[2] हिंदू पद्मपुराण में निर्ग्रथ साधुओं को नग्न कहा है।[3] वहां जैन धर्म की उत्पत्ति की कथा बताते हुए कहा है कि दिगंबर मुनि द्वारा जैन धर्म की उत्पत्ति हुई।[4] वायु पुराण में जैन मुनियों को नग्नता के कारण श्राद्धकर्म में आदर्शनीय कहा है।[5] टीकाकार उत्पल और सायण ने भी निर्ग्रंथों को नग्न क्षपणक माना है।[6] बौद्ध ग्रथों में भी निर्ग्रथो को अचेलक बताया है। विशाखवत्थु धम्मपदट्ठ कथा में निर्ग्रथ साधु का वर्णन नग्न रूप में मिलता है।[7] दाढ़ा वंशों में निर्ग्रथों को नग्नता के कारण अहिरिका (अदर्शनीय) कहा है। इसी प्रकार दीर्घनिकाय मज्झिम निकाय महावग्ग आदि बौद्ध ग्रंथों में भी निर्ग्रथों के रूप में दिगंबर साधुओं का उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में जैन साधु निर्ग्रथ कहलाते थे। और वे नग्न रहते थे।[8]

शिलालेखीय साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है। सम्राट अशोक के धर्म लेखों में निग्गंथ (निर्ग्रथ) साधुओं का उल्लेख है। जिनका अर्थ प्रो. जनार्दन भट्ट नग्नजैन साधु करते हैं।[9] पांचवी शताब्दी में कदंब वंशी नरेश मृगेश वर्मा ने उपने एक ताम्रपत्र में अर्हत भगवान और श्वेतांबर महाश्रमण संघ तथा निर्गथ अर्थात् दिगबर महाश्रमण संघ के उपभोग

1 "सजहानामए अज्जोमए समणाण निग्गथाण नग्गभावे मुड भावे अण्हाणए अदतवणे अच्छत्तए अणुवाहणए भूमिसेज्जा फलग सेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बभचेरबासे लद्धाबलद्ध वित्ताओ जाव पण्णत्ताओ एवामेव महा पउमेवि अरहा समणाण णिग्गथाण नग्गभावे जाव लद्धाबलद्ध वित्ताओ जाव पन्नवेहित्ति।"
अर्थात् भगवान महावीर कहते है कि श्रमण निर्ग्रथ को नग्नभाव, मुडभाव, अस्नान, छत्र नही करना, पगरखी नही पहनना, भूमि शैया, केशलोच, ब्रह्मचर्य पालन, अन्य के गृह मे भिक्षार्थ जाना आहार की वृत्ति जैसे मैंने कही वैसे महापद्म अरहत भी कहेगे। —**ठाणा, पृ. 813/देखें दि. दि. मुनि, पृ. 48-49**

2 यथाजात रूप धरो निर्ग्रथो निष्परिग्रह शुक्लध्यान परायण। —**सूत्र 6, जावालोपनिषद**

3 "अर्हतो देवता यत्र निर्ग्रथो गुरुरुच्यते" —**हिंदू पद्म पुराण**

4 वृहस्पति साहाय्यार्थ विष्णुना मायामोह समुप्पाद वम.
दिगबरेण मायामोहने दैत्यान प्रति जैन धर्मोपदेश· दानवाना
माया मोह मोहिताना गुरुणा धर्म दीक्षा दानम।

5. दि दि मुनि, पृ 59

6 (क) निर्ग्रथो नग्न. क्षपणकः
(ख) कथा कोपीनोत्तरा सगादिनाम त्यागिना, यथाजात रूपधरा निर्ग्रथा निष्परिग्रहा· इति सवर्त श्रुतिः।

7. दि दि मुनि, पृ 50

8. दि दि मुनि, पृ 46 से 59

9. अशोक के धर्म लेख, पृ 327

के लिए कालवंग नामक गांव को भेंट करने का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उस काल के श्वेतांबर भी अपने को निर्ग्रंथ न कहकर दिगंबर संघ को ही निर्ग्रंथ मानते थे। यदि ऐसा नहीं था तो वे स्वयं को श्वेतपट तथा दिगंबरों को निर्ग्रंथ न लिखने देते।[1]

उक्त संदर्भों में दिगंबरत्व की प्राचीनता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है।

दिगंबर और श्वेतांबर मान्यताओं में भेद

दिगंबर और श्वेतांबर दोनों संप्रदायों में सैद्धांतिक रूप से कोई विशेष भेद नहीं है। जो कुछ भी है उसमें अधिकांश व्यावहारिक रूप में ही है। दोनों ही संप्रदाय अहिंसा और अनेकांतवाद का अनुसरण करते हैं। आत्मा-परमात्मा, मोक्ष और संसार आदि के स्वरूप के विषय में भी कोई भेद नहीं है। सात तत्त्वों का स्वरूप भी दोनों परंपराओं में एक-सा ही वर्णित है। कुछ परिभाषाओं को छोड़कर कर्म सिद्धांत में भी कोई मौलिक भेद नहीं है। जो कुछ भी भेद है वह आचारगत शिथिलता के कारण ही उत्पन्न हुआ है। अपनी इसी शिथिलाचार पर आवरण डालने के लिए अनेक कल्पित कथाओं को गढ़कर स्त्री मुक्ति की कल्पना की गयी तथा सवस्त्र मुक्ति को सैद्धांतिक रूप दिया गया। स्वयं श्वेतांबर आगम के प्राचीन ग्रंथों में अनेक स्थलों पर उनके उक्त कल्पित सिद्धांतों से विरोध आता है। इस विषय में पं. वेचरदासजी दोशी द्वारा रचित *'जैन साहित्य में विकार'* तथा पं. अजित कुमार शास्त्री कृत *'श्वेतांबर मत समीक्षा'* दृष्टव्य है। वहां उन्होंने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। नीचे यहां कुछ श्वेतांबर मान्यताओं का उल्लेख करते हैं, जो दिगंबर मान्यता के विरुद्ध ठहरती हैं—

	श्वेतांबर	**दिगंबर**
1.	केवली कवलाहार (भोजन) करते हैं	नहीं करते हैं
2.	केवली को नीहार होता है	नहीं होता है
3.	सवस्त्र मुक्ति हो सकती है	मुक्ति के लिए दिगंबर होना अनिवार्य है
4.	स्त्री मुक्ति प्राप्त कर सकती है	नहीं कर सकती है
5.	गृहस्थ वेश में मुक्ति संभव	नहीं, साधु होना अनिवार्य है
6.	मरूदेवी को हाथी पर चढ़े ही मुक्ति गमन	असंभव
7.	भरत चक्रवर्ती को भवन में ही केवल ज्ञान	असंभव
8.	वस्त्राभूषणों से सुसज्जित प्रतिमा की पूजा	पूर्णतः दिगंबर और वीतराग प्रतिमा ही पूजा योग्य
9.	मुनियों के वस्त्र पात्रादि 14 उपकरण	नग्न दिगंबर रहते हैं
10.	तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री होना	स्त्री तीर्थंकर नहीं हो सकती

1 कदम्बना श्री विजय शिवमृगेश वर्मा कालवग ग्राम त्रिधा विभज्य दत्तवान् अत्रपूर्व्वमर्हच्छाला परम-पुष्कलस्थान निवासिभ्यः भगवर्दहम्महाजिनेन्द्र देवताभ्य एकोभागः द्वितीयोर्हत्प्रोक्त सद्धर्मकरण परस्य श्वेतपट महाश्रमणसघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रंथ महाश्रमण सघोपभेगायेति । जैहि. भा. पृ. 229

11.	भगवान महावीर का गर्भ परिवर्तन हुआ	यह कल्पना है
12.	महावीर का विवाह एवं कन्या का जन्म	नहीं हुआ
13.	मुनियों का अनेक गृहों से भिक्षा ग्रहण	एक दिन में एक ही बार
14.	मुनिगण अनेक बार भोजन ग्रहण करते हैं	एक ही स्थान में खड़े-खड़े अपने हाथ में लेते हैं
15.	महावीर स्वामी को तेजोलेश्या	नहीं
16.	ग्यारह अंगों की मौजूदगी	अंग ज्ञान का लोप हो चुका

उत्तरकालीन पंथ भेद

मूलतः दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदाय के रूप में विभाजित जैन संघ ममय-समय में अनेक गण गच्छादि के रूप में विभाजित होता रहा परंतु इनसे जैन मान्यताओं एवं मुनि आचार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। यही कारण है कि उनमें से अधिकांश का आज नाम शेष रह गया है। जिनका परिचय हमें शास्त्रों से मिलता है। उत्तर काल में दोनों संप्रदायों में कुछ पंथ भेद अवश्य हुए जो आज भी अपने किसी न किसी रूप में अस्तित्व में है। अतः विस्तार भय से उनका संक्षिप्त परिचय देते हैं।

दिगंबर संप्रदाय

भट्टारक संप्रदाय : प्रारंभ में सभी जैन साधु वनों और उपवनों में निवास करते थे तथा वर्षावास को छोड़कर शेष काल में वे एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते थे। मात्र आहार चर्या हेतु ही वे शहरों में आते थे। धीरे-धीरे चौथी-पांचवीं शताब्दी में इनमें चैत्यवास (मंदिर निवास) की प्रवृत्ति बढ़ी। यह प्रवृत्ति दोनो संप्रदायों में एक साथ बढी, जिसके फलस्वरूप श्वेतांबर संप्रदाय में वनवासी और चैत्यवासी गच्छ के रूप मे मुनियो के दो भेद हो गए। कितु दिगंबर संप्रदाय में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी यह निश्चित है कि उनमें भी चैत्यवास की प्रवृत्ति हो चली थी। प्रारंभ में चैत्यवास का प्रमुख उद्देश्य सिद्धांत ग्रंथों का पठन-पाठन और सृजन का था कितु आगे चलकर वन-उपवन को छोड़कर इनमें नगरवास की ओर झुकाव बढ़ता गया। फिर भी इनकी मूलचर्या में कोई अंतर नहीं आया। आचार्य गुणभद्र (नवमी सदी) ने मुनियों के नगरावास को देखकर खेद प्रकट किया परंतु बढ़ती हुई चैत्यवास की प्रवृत्ति को एक वर्ग विशेष ने अपने जीवन का स्थायी आधार बना लिया। ये ही आगे चलकर मध्य काल के आते-आते भट्टारक संप्रदाय के जनक बने। इनके कारण अनेक मंदिर भट्टारकों की गद्दियां एवं मठ आदि स्थापित हो गए तथा इनमें चैत्यवासी साधु मठाधीश बनकर स्थायी रूप से रहने लगे। इनका झुकाव परिग्रह और उपभोग के साधनों की ओर दिखाई देने लगा। श्वेतांबर संप्रदाय में तो यह प्रवृत्ति पहले से ही पायी जाती थी। परंतु दिगंबर संप्रदाय का यह वर्ग भी अब वस्त्र की ओर आकर्षित होने लगा। इसका प्रारंभ बसंत कीर्ति (13वीं सदी) द्वारा मांडव दुर्ग (मांडलगढ़ राजस्थान) में किया गया।

भट्टारक प्रथा भी लगभग यहीं से प्रारंभ हुई।[1] यहां यह विशेष उल्लेखनीय है कि दिगंबर भट्टारक नग्न रूप को पूज्य मानते थे और दिगंबर मूर्तियों का ही निर्माण कराते थे। साथ ही यथा अवसर दिगंबर मुद्रा भी धारण करते थे। ये मठाधीश बनकर रहते थे तथा वहीं से ये तीर्थों एवं मठों की समस्त गतिविधियों का संचालन करते थे। पीठाधीश भट्टारकों के उत्तराधिकारी ही इन मठों के स्वामी होते थे।

इस प्रकार भट्टारकों के आचार में कुछ शैथिल्य तो आया किंतु दूसरी ओर उससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि इन भट्टारक गद्दियों और मठों में विशाल शास्त्र भंडारों से युक्त अनेक विद्या केंद्र स्थापित हो गए। मध्यकालीन साहित्य का सृजन प्रायः इसी प्रकार के केंद्रों में हुआ। इसी उपयोगिता के कारण भट्टारक गद्दियां प्रायः सभी प्रमुख नगरों में स्थापित हो गयीं और मंदिरों में भी अच्छा शास्त्र भंडार रहने लगा। यहीं से प्राचीन शास्त्रों की लिपि प्रतिलिपि कराकर विभिन्न केंद्रों में आदन-प्रदान किया जाने लगा। आज भी भट्टारक युग में प्रतिलिपि कराए गए अनेक प्राचीन ग्रंथ जयपुर, जैसलमेर, ईडर, कारंजा, मूढ़बद्री, कोल्हापुर आदि के बड़े-बड़े शास्त्र भंडारों में सुरक्षित है। जैन संघ और संप्रदाय को भट्टारकों की यह देन अविस्मरणीय है।

आज भट्टारकों का लगभग अभाव-सा हो गया है। मात्र दक्षिण भारत के कुछ प्रमुख स्थानों पर भट्टारकों की गद्दियां एवं मठ हैं जिनमें रहने वाले भट्टारक उन तीर्थों की समस्त गतिविधियों का संचालन करते हैं तथा उत्कृष्ट श्रावक के रूप में माने जाते हैं।

तेरह पंथ और बीस पंथ—इसी भट्टारक परंपरा के विरोध में विक्रम की सत्रहवीं शदी में पं. बनारसीदास ने एक नए पंथ को जन्म दिया जो तेरह पंथ कहलाया। इन्हें अपने आपको तेरह पंथ कहने पर भट्टारकों के अनुयायियों ने अपने आपको बीस पंथी कहना प्रारंभ कर दिया। दोनों पंथों में 'तेरह' और 'बीस' की संख्या के जुड़ने की समस्या आज तक अनसुलझी है। अनेक विद्वानों ने इस संबंध में अनेक प्रकार की उपपत्तियां दी हैं। इस सबंध में पं. जगमोहनलालजी की यह उपपत्ति कुछ हद तक ठीक जंचती है। इनके अनुसार "उस समय देश में भट्टारकों की बीस प्रमुख गद्दियां थीं। उन्हें अपना गुरु मानने वाले बीस पंथी कहलाएं तथा जो तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करने वाले शुद्धाचारी मुनियों के उपासक थे वे तेरह पंथी कहलाये। वस्तुतः तेरह पंथ और बीस पंथ में कोई खास भेद नहीं है, मात्र पूजा पद्धति में ही अंतर है। बीस पंथी भगवान की पूजा में फल, फूल आदि चढ़ाते हैं जबकि तेरह पंथी उन्हें नहीं चढ़ाकर चावल आदि सूखे पदार्थ ही चढ़ाते हैं।

तारण पंथ : पंद्रहवीं शताब्दी में जिस समय मुस्लिम आक्रांताओं ने जैन मूर्तिकला और स्थापत्य पर काफी आघात पहुंचा दिया था उसी समय एक तारण तरण नामक व्यक्ति ने इस पंथ को जन्म दिया। जो आगे चलकर संत तारण के नाम से ख्यात हुए। यह पंथ मूर्ति पूजा के विरोध में उत्पन्न हुआ। संत तारण तरण के द्वारा प्ररूपित होने के कारण यह पंथ तारण पंथ के नाम से ख्यात हुआ। संत तारण ने 14 ग्रंथों की रचना की। इनके अनुयायी मूर्ति पूजा नहीं करते थे। ये अपने चैत्यालयों में विराजमान शास्त्रों की पूजा करते हैं। इनके यहां संत तारण द्वारा रचित ग्रंथों के अतिरिक्त दिगंबर जैनाचार्यों के ग्रंथों की भी

1 भट्टारक सप्रदाय विद्याधर जोहरा पुरकर
विशेष के लिए देखें—जैन सघ और सप्रदाय (तीर्थकर महावीर स्मृति ग्रथ, ग्वालियर)

मान्यता है। संत तारण का प्रभाव मध्य प्रांत के ही कुछ क्षेत्रों तक सीमित रहा, जहां इनके अनुयायी आज भी हैं। इनकी संख्या दिगंबरों की अपेक्षा अत्यल्प है।

इस प्रकार दिगंबर संप्रदाय में पंथ भेद होने के बाद भी उनमें किसी प्रकार का विद्वेष, वैषम्य नहीं पाया जाता। सब एक दूसरे से घुले-मिले हैं। इनकी आचार परंपरा लगभग एक-सी है। सभी दिगंबर प्रतिमा तथा तीर्थों को आदर्श मानते हैं तथा दिगंबर गुरुओं की उपासना करते हैं। दिगंबर जैन पूरे भारतवर्ष के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। उसमें भी मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान तथा दक्षिण में महाराष्ट्र एवं कर्नाटक दिगंबर जैनियों के गढ़ हैं। इसके अतिरिक्त बिहार, बंगाल, असम एवं गुजरात में भी दिगंबर जैनों की काफी संख्या है।

श्वेतांबर संप्रदाय

श्वेतांबर संघ में निम्नलिखित प्रधान संप्रदाय उत्पन्न हुए—

चैत्य वास : लगभग चौथी-पांचवीं शताब्दी में श्वेतांबर संप्रदाय में वनवासी साधुओं के विरुद्ध एक चैत्यवासी संप्रदाय खड़ा हो गया। इस संप्रदाय के साधु वनों को छोड़कर चैत्यों/मंदिरों में निवास करने लगे तथा ग्रंथ संग्रह के लिए आवश्यक द्रव्य भी रखने लगे। इसी के पोषण में उन्होंने निगम नामक शास्त्रों की भी रचना की। हरिभद्र सूरि ने अपने संबोध प्रकरण में इन चैत्यवासी साधुओं की कड़ी आलोचना की है। समय-समय पर इन दोनों समुदायों के बीच शास्त्रार्थों और विवादों का भी उल्लेख मिलता है।[1]

चैत्यवासी 45 आगमों को स्वीकार करते हैं। श्वेताबरों में आज जो 'जती' या 'श्रीपूज्य' कहलाते है, वे मठवासी या चैत्यवासी शाखा की ही संतान है तथा जो संवेगी मुनि कहलाते हैं वे वनवासी शाखा के हैं। संवेगी अपने को सुविहित मार्गी या विधि मार्ग का अनुयायी कहते हैं।

स्थानकवासी : स्थानकवासी संप्रदाय की उत्पत्ति चैत्यवासी संप्रदाय के विरोध में हुई। पंद्रहवीं शताब्दी में अहमदाबादवासी मुनि ज्ञानश्री के शिष्य 'लोकाशाह' इस पंथ के जनक बने। उन्होंने मूर्ति-पूजा एव साधु समाज में प्रचलित आचार-विचार को आगम विरुद्ध बताकर उनका विरोध किया। इसे लोकागच्छ नाम दिया गया। उत्तरकाल में सूरत निवासी एक साधु ने लोकागच्छ की आचार्य परपरा में कुछ सुधार कर ढुंढिया मत की स्थापना की।

लोकागच्छ के सभी अनुयायी इस संप्रदाय में सम्मिलित हो गए। ये लोग अपना धार्मिक क्रिया-कर्म मंदिरो में न करके स्थानकों (गुरुओं के निवास-स्थान) या उपाश्रय में करते हैं। इसीलिए इन्हें स्थानकवासी कहा जाता है। इस संप्रदाय को साधुमार्गी संप्रदाय भी कहते हैं। ये लोग तीर्थयात्राओं में विशेष विश्वास नहीं रखते हैं। इनके साधु श्वेत वस्त्र पहनते हैं तथा मुख पर पट्टी बांधते हैं। इनके यहां 32 आगमों की ही मान्यता है।

तेरा पंथ : स्थानकवासी संप्रदाय के साधुओं में आगे चलकर कुछ शिथिलता आने लगी। आचार-विचार में बढ़ती हुई शिथिलता के कारण श्रावकों में उसकी तीखी प्रतिक्रिया होने लगी तथा भिक्षुओं के प्रति श्रावकों की श्रद्धा भी डगमगाने लगी थी। यह सब देखकर

1 देखे, जैन धर्म, प कैलाशचद्र, पृ 318

स्थानकवासी संप्रदाय में ही दीक्षित आचार्य 'भिक्षु' (जन्म 1783 कंटालियां, जोधपुर) ने वि. सं. 1817 चैत्र शुक्ल नवमीं के दिन अपने पृथक् संघ की स्थापना कर ली। ऐसा कहा जाता है कि इस अवसर पर उनके साथ तेरह साधु और तेरह श्रावक थे। इसी संख्या के आधार पर इस संप्रदाय का नाम तेरा पंथ रख दिया गया। कुछ लोग तेरा पंथ से यह आशय भी निकलते हैं कि भगवान यह तुम्हारा ही मार्ग है जिस पर हम चल रहे हैं।

स्थानकवासी संप्रदाय की तरह इस संप्रदाय में भी 32 आगमों को ही प्रामाणिक माना जाता है। इस संप्रदाय में एक ही आचार्य होता है और उसी का निर्णय अंतिम रूप से मान्य होता है।

इस प्रकार मूर्तिपूजक-मंदिरमार्गी, स्थानकवासी और तेरा पंथ नामक तीन संप्रदायों में विभक्त श्वेतांबर संप्रदाय भारत के विभिन्न भागों में फैला हुआ है। गुजरात, राजस्थान एवं पंजाब में इनकी विशेष संख्या है। फिर भी दिगंबर जैनों की अपेक्षा इनकी संख्या आधी से भी कम है।

दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा

जैन परम्परा में ही नहीं, अन्य धार्मिक परम्पराओं में भी उत्कृष्टतम् साधकों के लिए दिगम्बरत्व की ही प्रतिष्ठा प्राप्त होती रही है। प्रागैतिहासिक एवं प्राग्वैदिक सिंधु घाटी सभ्यता के मोहनजोदड़ो से प्राप्त कायोत्सर्ग दिगम्बर मुनियों के अंकन से युक्त मृणमुद्राएं मिली हैं, और हड़प्पा के अवशेषों में तो एक दिगम्बर योगिमूर्ति का धड़ भी मिला है। स्वयं ऋग्वेद में "वातरसना" (दिगम्बर) मुनियों का उल्लेख मिलता है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तरीय अरण्यक में उक्त वातरशना मुनियों को श्रमणधर्मा एवं ऊर्ध्वरेतस (ब्रह्मचर्य से युक्त) बताया है। श्रीमद्‌भगवत् में भी वातरशना मुनियों के उल्लेख है। तथा उसमें व अन्य अनेक ब्राह्मणीय पुराणों में नाभेय ऋषभ को विष्णु का एक प्रारंभिक अवतार सूचित करते हुए उन्हें दिगम्बर ही चित्रित किया गया है। ऐसे उल्लेखों पर से स्व. डा० मंगलदेव शास्त्री का अभिमत है कि "वातरशना श्रमण" एक प्राग्वैदिक मुनि परम्परा थी, जिसका प्रभाव वैदिक धारा पर स्पष्ट है और जिसका अभिप्राय जैन मुनियों से ही रहा प्रतीत होता है। कई उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों, रामायण, महाभारत आदि अनेक ब्राह्मणीय धर्मग्रंथों व वृहत् संहितादि लौकिक ग्रंथों और क्लासिकल संस्कृत साहित्य में भी बहुधा दिगम्बर मुनियों के उल्लेख एवं दिगम्बरत्व को प्रतिष्ठा प्राप्त है। राजर्षि भर्तृहरि लिखते हैं—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः
कदा शम्भो भविष्यामि कर्म निर्मूलन क्षमः ॥59 **वैराग्य शतक**

—डॉ ज्योति प्रसाद जैन
'आस्था और चिन्तन' से

जैन धर्म एव उसके विभिन्न सघों/सम्प्रदायों का यह सक्षिप्त इतिहास है। इनकी विस्तृत जानकारी एव उत्तरकालीन इतिहास के लिए देखे—'भारतीय इतिहास एक दृष्टि'

तत्त्व एवं द्रव्य

- तत्त्व स्वरूप
- द्रव्य विवेचन
- जीव और उसकी विविध अवस्थाएं
- अजीव तत्त्व
- कर्मबंध की प्रक्रिया (आश्रव बंध)
- कर्म और उसके भेद-प्रभेद
- कर्मों की विविध अवस्थाएं
- कर्म मुक्ति के उपाय—संवर-निर्जरा
- मोक्षा आत्मा की परम अवस्था
- मोक्ष के साधन
- आत्मविकास के क्रमोन्नत सोपान

तत्व स्वरूप

- दार्शनिक जिज्ञासा
- तात्विक समाधान
- तत्त्व के भेद
- तत्त्व के भेद

तत्त्व स्वरूप

दार्शनिक जिज्ञासा

मनुष्य के जीवन में जैसे-जैसे समझ विकसित होती जाती है वह जगत् और जीवन के प्रति चिंतनशील होता जाता है। उसके मन में तत्संबंधी अनेक जिज्ञासाएं उभरने लगती हैं यथा—

1. यह जो दृश्य जगत् है वस्तुतः वह क्या है ?
2. जीवन में प्रतिक्षण अनुभूत होने वाले सुख-दुःखादिक का कारण क्या है ?
3. क्या कोई ऐसी भी गति या स्थिति है जो समस्त दुःखों से परिमुक्त हो ?
4. यदि वह स्थिति है तो उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ?

ये कुछ ऐसी जटिल जिज्ञासाएं हैं जो प्रत्येक तत्त्व जिज्ञासु के मन में उत्पन्न हुआ करती हैं। इनके समाधान में वह यथासंभव अपनी बुद्धि और युक्ति का प्रयोग भी करता है। किंतु वह ज्यों-ज्यों तर्क की गहराइयों में प्रवेश करता है त्यों-त्यों वह उतना ही उलझता जाता है। वह ऐसी किसी स्थिति तक नहीं पहुंच पाता जहां उसे इसका समुचित समाधान मिल सके।

तात्विक समाधान

जैन दर्शन में उक्त जिज्ञासाओं का समाधान बताते हुए कहा गया है कि यह दृश्य जगत् जड़ और चेतन पदार्थों के संयोग का ही परिणाम है। समस्त चेतन पदार्थ जीव हैं उसके अतिरिक्त दृश्य जड़-जगत् का समग्र विस्तार अजीव है।

जीव अपने शुभाशुभ भावों के कारण ही सुख-दुःख का अनुभव करता है। आस्रव के द्वारा कर्मों का आगमन होता है तथा वे ही जीव से बंधकर सुख-दुःख उत्पन्न करते हैं। हमारे समस्त दुःखों का कारण कोई अन्य शक्ति न होकर यह आस्रव और बंध ही है।

क्या ऐसी कोई गति या स्थिति है जो सुख-दुःख से परिमुक्त है ? जैन दर्शन में इसका समाधान स्वीकारोक्ति में देते हुए कहा गया है कि हां वैसी स्थिति (गति) भी है। वह है 'मोक्ष' जो समस्त सुख-दुःख से परे परम आनंद की अवस्था है। जो व्यक्ति दुःख की निवृत्ति और सुख प्राप्ति का उद्देश्य रखता है उसे मोक्ष को ही अपना ध्येय बनाना चाहिए।

चौथे प्रश्न का समाधान जैन दर्शन में विस्तार से दिया गया है। इस प्रश्न का समाधान देते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि आस्रव और बंध के कारण सुख-दुःख होते हैं। उनका अभाव संवर और निर्जरा से संभव है। संवर द्वारा कर्मों का आगमन रुकता है तथा

निर्जरा से सचित कर्म विनष्ट होते हैं।

इस प्रकार उक्त सात बातों के माध्यम से जैनाचार्यो ने मनुष्य के मन में उठने वाली सभी तात्विक जिज्ञासाओं का समाधान किया है और इसीलिए सत्यान्वेषक मुमुक्षु जनों के लिए उसका अध्ययन/अवलोकन आवश्यक हो जाता है। मोक्ष मार्ग में रत साधक को इन मात बातों का ध्यान/श्रद्धान रखना अनिवार्य है। इसके बिना वह यथार्थ साधना नही कर सकता। इसके लिए रोगी का उदाहरण दिया गया है—

जैसे कोई व्यक्ति रोगी है तो उसे रोग और रोग के कारणों पर विचार करने के साथ-साथ रोगोपचार और उसके साधनों को अपनाना भी अनिवार्य है। कोई भी रोगी तभी रोगमुक्त हो सकता है जबकि उसे इन बातों का ध्यान रहे कि —1 मैं स्वभावत निरोगी हू, 2 मै वर्तमान में रोगी हू 3 रोग का कारण क्या है ? 4 रोग बढता कैसे है ? 5 रोग से बचने के उपाय क्या हैं ? 6 रोग का इलाज क्या है ? तथा 7 आरोग्य का स्वरूप क्या है ? इन बातों पर विचार करने पर ही वह आरोग्य का अनुभव कर सकता है। यदि व्यक्ति अपने रोग का उपचार करता रहे पर उसे यही पता न हो कि उसका रोग क्या है ? उसका स्वरूप कैसा है ? वह क्यों बढता है ? और कैसे घटता है ? यदि कुछ नही जानता तो वह अपना रोग कभी भी नही मिटा सकता।

तत्व के भेद

जिस प्रकार रोग मे मुक्ति के लिए रोग और रोग के कारण पर विचार करना आवश्यक है, उसी प्रकार दु खो से मुक्ति के लिए भी दु:ख और उसके कारणों पर विचार करना अनिवार्य है। यह बताते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि यह जानना बडा जरूरी है कि—1 दु:ख किसे मिल रहा है ? 2 दु ख किससे मिल रहा है ? 3 दु:ख का कारण क्या है ? 4 दु:ख बढता कैसे है ? 5 दु ख को रोका कैसे जाये ? 6 दु:ख दूर कैसे हो ? 7 तथा दु ख से मुक्त अवस्था कैसी है ? इन्हें ही जैन दर्शन में तत्त्व कहा गया है। वे है—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष।

इनमें 'जीव' चेतनावान पदार्थ है। वह 'अजीव' जड पुद्गलों के ससर्ग से ससार में दु:खी हो रहा है। 'आस्रव' वह दरवाजा है जिससे जड कर्म आत्मा में प्रवेश करते हैं। जीव और कर्म का एकमेक हो जाना 'बध' है। समस्त दु:खों का मूल कारण आस्रव और बध ही है। आस्रव को रोकने का नाम 'सवर' है। कर्मों के झडने को 'निर्जरा' कहते हैं, तथा सपूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक क्षय मोक्ष है। यह जीव की स्वाभाविक अवस्था है।[1]

इन सात तत्वों में जीव और अजीव का मेल ही यह ससार है। आस्रव और बध ससार के कारण हैं। मोक्ष ससारातीत अवस्था है। सवर और निर्जरा उसके साधन हैं।

तत्त्व का अर्थ

ये सात बातें ऐसी हैं जिनकी श्रद्धा और ज्ञान होने पर ही हमारा कल्याण सभव है। इसलिए

---

1 सर्वा सि. पृ 11

इन्हें तत्त्व कहा गया है तथा इनके श्रद्धान को सम्यक् दर्शन। तत्त्व का अर्थ है सारभूत पदार्थ। यह तत् + त्व इन दो शब्दों के मेल से बना है। 'तत्' का अर्थ है 'वह' और 'त्व' का अर्थ है 'पना'। अर्थात् वस्तु का वस्तुपना ही उसका तत्त्व है।[1] जैसे अग्नि का अग्नित्व, स्वर्ण का स्वर्णत्व, मनुष्य का मनुष्यत्व आदि। 'तत्त्व' शब्द बहुत व्यापक है। यह अपनी समस्त जाति में अनुगत रहता है। जैसे स्वर्णत्व, समस्त स्वर्ण जाति में व्याप्त है। वह एक है भले ही स्वर्ण अलग-अलग हो। उसी प्रकार सभी जीवों का जीवत्व एक है भले ही जीव अनेक हैं। अजीवों का अजीवत्व एक है। इसी प्रकार आस्रवत्व आदि भी एक-एक ही है।

जैन दर्शन का सार उक्त सात तत्त्वों मे अन्तर्निहित है। जैन दर्शन में अन्य बातों का ज्ञान भले ही हो या न हो किंतु उक्त सात तत्त्वों का ज्ञान/श्रद्धान अनिवार्य बताया गया है। इनके अभाव में भले ही सपूर्ण वाङ्मय का ज्ञान क्यों न हो वह मुक्ति की प्राप्ति नही कर सकता। अगले अध्यायों में हम इनके स्वरूप पर विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे।

पक्षपातरहित जैनधर्म

स्यादवादो वर्त्तते यस्मिन पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडन किंचिद् जैन धर्म स उच्यते ॥

जिसमें स्याद् का सिद्धांत है किसी प्रकार का पक्षपात नही है, किसी को पीडा न हो—ऐसा सिद्धांत जिसमें है, उसे जैन धर्म कहते हैं। अनेकात स्यादवाद अहिसा और अपरिग्रह ये जैन दर्शन के चार आधार स्तभ हैं विचार में अनेकांत, वाणी में स्यात् आचरण में अहिसा और जीवन में अपरिग्रह ये जैन दर्शन के आध्यात्मिक चौखटे के चार कोण हैं।

1 तस्य भावम् तत्वम्। सर्वा. सि. पृ 6

द्रव्य विवेचन

- द्रव्य का स्वरूप
- नित्या-नित्यात्मकता
- गुण और पर्याय
- पर्याय के भेद

द्रव्य विवेचन

द्रव्य का स्वरूप

जैन दर्शन में पदार्थ को सत् कहा गया है। सत् द्रव्य की लक्षण है।[1] यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। सारा विश्व परिवर्तन की धारा में बहा जा रहा है। जहाँ भी हमारी दृष्टि जाती रही है सब कुछ बदल रहा है। वह देखो! सामने पेड़ खड़ा है, उसमें कोंपलें फूट रही हैं, पत्तियॉ बढ रही हैं, वे झड़ रहे हैं, प्रतिक्षण वह अपनी पुरानी अवस्था को छोड़कर नित नवीन रूप धर रहा है। बालक युवा हो रहा है, युवा वृद्ध हो रहा है, वृद्ध मर रहा है। सर्वत्र परिवर्तन ही परिवर्तन है। चाहे जड़ हो या चेतन सभी इस परिवर्तन की धारा में बहे जा रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ विश्व के रंगमंच पर प्रतिक्षण नया रूप धर कर आ रहे हैं। वह अपनी पुरानी अवस्था को छोडता है, नए को ओढ़ता है। पुराने का विनाश और नए की उत्पत्ति ही इस परिवर्तन का आधार है। कच्चे आम का पक जाना ही तो आम का परिवर्तन है । बालक का युवा, युवा का वृद्ध हो जाना ही तो मनुष्य का परिवर्तन है। पुरानी अवस्था के विनाश को व्यय कहते हैं तथा नयी अवस्था की उत्पत्ति को उत्पाद।[3], नये की उत्पत्ति और पुराने के विनाश के बाद भी द्रव्य अपनी मौलिकता को नहीं खोता। कच्चा आम बदलकर भले ही पक जाए पर वह अपने आमपने को नहीं खोता। बालक भले ही वृद्ध हो जाए पर मनुष्यता नहीं बदलती। इस मौलिक स्थिति का नाम ध्रौव्य है,[4] जो प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने के बाद भी पदार्थ में समरूपता बनाए रखता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है। जगत का कोई भी पदार्थ इसका अपवाद नहीं है।

पुरानी अवस्था का विनाश और नए की उत्पत्ति दोनों साथ-साथ होती हैं, प्रकाश के आते ही अंधकार तिरोहित हो जाता है। इनमें कोई समय भेद नहीं है। यह परिवर्तन प्रतिक्षण हो रहा है, यह बात अलग है कि सूक्ष्म होने के कारण वह हमारी पकड़ के बाहर है। बालक यौवन और प्रौढ़ अवस्थाओं से गुजरकर ही वृद्ध हो पाता है। ऐसा नहीं है कि कोई साठ-सत्तर वर्ष की अवस्था में एकाएक वृद्ध हो गया वह तो साठ-सत्तर वर्ष तक निरंतर वृद्ध हुआ है; तब कहीं वृद्ध बन पाया है। वृद्ध होने की यात्रा प्रतिक्षण हुई है। यदि एक क्षण भी वह रुक जाए तो वह वृद्ध हो

---

1 सत् द्रव्य लक्षण त सू. 5/29
2 उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तसत् त. सू. 5/30
3 सर्वा सि पृ 229
4 ध्रौव्यमवस्थिति प्र.सा. ता. पृ 95

ही नहीं सकता।

नित्या-नित्यात्मकता

प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहने के कारण द्रव्य अनित्य है तथा परिवर्तित होते रहने के बाद भी वह अपने मूल में अपरिवर्तित है, अतः द्रव्य नित्य भी है। इसलिए जैन दर्शन में द्रव्य को नित्यानित्यात्मक कहा गया है।[1] यदि द्रव्य सर्वथा नित्य होता तो जगत के सारे पदार्थ कूटस्थ हो जाते। न तो नदियाँ बह पातीं, न ही पेड़ों के पत्ते हिल पाते। बालक, बालक ही रहता, वह युवा न हो पाता, युवा युवा ही रहता, वह वृद्ध नहीं हो पाता; वृद्ध वृद्ध ही रहता, वह मर न पाता। जो जैसा है वह वैसा ही रहता। यदि पदार्थ अनित्य ही होता तो प्रतिक्षण बदलाव होते रहने के कारण हम एक-दूसरे को पहचान ही नहीं पाते। प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन की इस दौड़ में किसी का किसी से परिचय ही नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में न तो हमें कोई स्मृति होती, न ही होते हमारे कोई संबंध। जबकि ऐसा है ही नहीं, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष और अनुभव के विपरीत है। अतः जैन दर्शन में पदार्थ को नित्यानित्यात्मक कहा गया है।

नित्यानित्यात्मक होने के कारण द्रव्य को गुण-पर्याय वाला कहा गया है।[2] गुण पदार्थ का नित्य अंश है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता।[3] उसकी अवस्थाएं/पर्यायें बदलती रहती हैं। पदार्थ अनेक गुणों का समूह है। उनमें होनेवाला परिवर्तन ही पर्याय है।[4] प्रत्येक गुण द्रव्य आश्रित रहता है किंतु स्वयं गुण हीन होता है।[5] इसलिए यह गुण होकर भी निर्गुण कहलाता है। गुण पदार्थ में सर्वत्र रहते हैं। ऐसा नहीं है कि वह पदार्थ के किसी एक अंश में रहता हो; वह तो तिल में तेल की तरह पूरे पदार्थ में व्याप्त होकर रहता है। सर्वत्र होने के साथ-साथ यह सर्वदा पाया जाता है, इसलिए इसे नित्य कहते हैं। पर्यायें क्षणक्षयी होती हैं, प्रतिक्षण मिटते रहने के कारण ये (पर्यायें) अनित्य कहलाती हैं।

समझने के लिए, आम एक पदार्थ है। स्पर्श, रस, गंध तथा रूप इसके गुण हैं। इन गुणों का समूह ही आम है। यदि इन्हें पृथक कर लिया जाये तो आम नाम का कोई पदार्थ ही नहीं बचता। किंतु इन्हें पृथक किया ही नहीं जा सकता। ये द्रव्य के अनन्य अंग हैं। द्रव्य से इनका नित्य संबंध रहता है। आम का स्वाद, रंग, गंध और स्पर्श रूप गुण आम के रग-रग में समाये हैं। इनके अतिरिक्त आम नाम का कोई पदार्थ ही नहीं बचता। अतः वस्तु गुणों का समूह रूप है। इन गुणों में परिवर्तन होता रहता है। आम खट्टे से मीठा, मीठे से कड़वा, कड़वे से कसैला हो सकता है, उसका हरा रंग बदलकर पीला या काला हो सकता है, वह कठोर से मृदु अथवा पिलपिले स्पर्श वाला हो सकता है, सुगंधित से वह दुर्गंधित भी हो सकता है। ये सब पूर्वोक्त चार गुणों की अवस्थाएं हैं। किंतु गुणों में परस्पर कोई परिवर्तन नहीं होता । उसका रंग बदलकर रस नहीं होता,

1. सर्वा.सि., पृ 232
2. गुणपर्ययवद् द्रव्यम्, त. सू. 5/38
3. का. अनु. गा 241
4. गुणविकारा : पर्यायाः आलापपद्धति पृ. 134
5. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा, त. सू. 5/41

रस बदलकर रंग नहीं बन सकता। उसी तरह गंध और स्पर्श भी अपने मूल रूप में नहीं बदलते। गुण त्रैकालिक होते हैं। यही गुणों की नित्यता है।[1] पर्यायों में परिवर्तन होते रहने के कारण उन्हें अनित्य कहते हैं।[2]

इस प्रकार गुण भी सत्, द्रव्य की तरह नित्यानित्यात्मक है। चूंकि सत् नित्यानित्यात्मक है, इसलिए उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला कहा गया है। गुण नित्य है, पर्याय अनित्य हैं, इसलिए द्रव्य को गुण पर्याय वाला भी कहते हैं। इन तीनों लक्षणों में ऐक्य है इसलिए आचार्य श्री कुंद कुंद ने द्रव्य का लक्षण तीनों प्रकार से किया है—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वय धुवत्त संजुत्तं।
गुण पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हु ॥ पं.का. 10

अर्थात्-भगवान जिनेन्द्र द्रव्य का लक्षण सत् कहते हैं; वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है; अथवा जो गुण और पर्यायों का आश्रय है, वह द्रव्य है।

आचार्य श्री समन्त भद्र ने एक उदाहरण से द्रव्य की नित्यानित्यात्मकता की सुंदर प्रस्तुति की है—

घट मौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पाद स्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद माध्यस्थ्यं जनोयाति सहेतुकम्। आ. मी. 59

एक राजा है जिसकी एक पुत्री है और एक पुत्र। उसके पास सोने का घड़ा है, पुत्री उसे चाहती है। पुत्र उसे तोड़कर मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्र की भावना को पूर्ण करने के लिए घड़े को तोड़कर मुकुट बनवा देता है। घट के नाश से पुत्री दुःखी होती है, पुत्र आनंदित होता है। राजा स्वर्ण का इच्छुक है, जो कि घट के टूटने और मुकुट के बनने दोनों में समान है। इसलिए वह मध्यस्थ रहता है। अतः वस्तु त्रयात्मक है।

जैन दर्शन मान्य पदार्थ की नित्यानित्यात्मकता को पातञ्जलि ने भी स्वीकार किया है, वे लिखते हैं—"द्रव्यं नित्यं आकृतिरनित्या। सुवर्ण कयाचित् आकृत्या युक्तो पिण्डों भवति। पिण्डाकृतिमुपमर्द्य रुचकाः क्रियन्ते। पुनरावृतः सुवर्ण पिण्डः पुनरपरा च आकृत्याः युक्तः खदिरांगार सदृशें कुण्डले भवतः। आकृति अन्या-च अन्याच भवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमर्देन द्रव्य मेवावशिष्यते।"[3]

अर्थात् द्रव्य नित्य है और आकार यानि पर्याय अनित्य है सुवर्ण किसी एक विशिष्ट आकार से पिण्ड रूप होता है। पिण्ड रूप का विनाश करके उसकी माला बनाई जाती है। माला का विनाश करके उसके कड़े बनाए जाते हैं। कड़ों को तोड़कर उससे स्वास्तिक बनाये जाते हैं। स्वास्तिक को गलाकर फिर स्वर्ण पिण्ड हो जाता है। उसके अमुक आकार का विनाश करके खदिरांगार के सदृश दो कुण्डल बना लिये जाते हैं। इस प्रकार आकार बदलता रहता है परंतु द्रव्य वही रहता है। आकार के नष्ट होने पर भी द्रव्य शेष रहता ही है।

1. सहभुवों हि गुणा, ध. पु: 174
2. क्रमवर्तिनः पर्यायाः आलापपद्धति पृ. 140
3. पातञ्जल महाभाष्य 1/1/1

पातञ्जलि के उपर्युक्त कथन से जैन दर्शन मान्य द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता का पूर्णतया पोषण होता है। नित्यानित्यात्मक होने से उत्पाद-व्यय ध्रौव्य रूप वस्तु को 'मीमासक दर्शन' के प्रवर्त्तक 'कुमारिल भट्ट' ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने तो 'आचार्य समन्त भद्र' कृत उदाहरण को भी अपनाया है। वे वस्तु को त्रयात्मक मानते हुए कहते हैं—

वर्धमारक भगे य रुचक क्रियते यदा।
तदा पूवार्थिन शोक प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन ॥21

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मक्।
नोत्पादस्थिति भगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥22

न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन बिना सुखम्।
स्थित्या बिना न माध्यस्थ्य तेन सामान्य नित्यता ॥23[1]

अर्थात्-सुवर्ण के प्याले को तोडकर जब माला बनाई जाती है, तब प्याले के इच्छुक मनुष्य को दुख होता है , माला इच्छुक मनुष्य आनदित होता है, किंतु स्वर्ण के इच्छुक मनुष्य को न हर्ष होता है और न शोक। अत वस्तु त्रयात्मक है। यदि पदार्थ में उत्पाद, स्थिति और व्यय न होते, तो तीन व्यक्तियों के तीन प्रकार के भाव नही होते। क्योंकि प्याले के नाश के बिना प्याले के इच्छुक व्यक्ति को शोक नही होता। माला के उत्पाद बिना माला के इच्छुक व्यक्ति को सुख नही होता तथा स्वर्ण का इच्छुक मनुष्य प्याले के विनाश और माला के उत्पाद में माध्यस्थ नही रह सकता। अत वस्तु सामान्य से नित्य है (और विशेष से अनित्य)।

यद्यपि द्रव्य को गुण-पर्याय वाला कहा गया है तथा उनके परस्पर भेद भी बताए गए है किंतु ये पृथक् पृथक् नही है, इनमे कोई सत्तागत भेद नही है अपितु तीनों एक रस रूप हैं, एक सत्तात्मक है। पर्याय से रहित गुण और द्रव्य तथा द्रव्य और गुण से रहित कोई पर्याय नही होती। तीनो की सयुति ही द्रव्य है। जैसे स्वर्ण अपने पीतत्वादि गुण तथा कडा, कुण्डलादि आकृतियों से रहित नही मिलता, वैसे ही पदार्थ जब भी मिलता है वह अपने गुण और पर्यायों के साथ ही मिलता है। इसलिए पर्याय को द्रव्य और गुण से अपृथक कहा गया है।

पज्जयविजुद दव्व दव्व विजुत्ता य पज्जयाणत्थि।
दोण्ह अणण्ण भूद भाव समणा परूवेति ॥12 प का

अर्थात् पर्याय से रहित कोई द्रव्य नही तथा द्रव्य से रहित कोई पर्याय नही है, दोनों अनन्य भूत है, ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। वस्तुत पदार्थ गुण और पर्यायो का अपृथक् गुच्छ है।

इस प्रकार हमने सत् रूप पदार्थ के स्वरूप को समझा। यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है तथा गुण और पर्याय वाला है। अब हम इसके गुण और पर्यायों पर विचार करते हैं।

---

1 मी. श्लोक वा. पृ 610

गुण और पर्याय

गुण पदार्थ में रहने वाले उस अंग का नाम है जो उसमें सर्वदा रहता है तथा सर्वांश में व्याप्त रहने के कारण सर्वत्र भी रहता है। जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में दिए गए आम में रहने वाले उसके स्पर्शादि गुण उसमें सदा रहते हैं तथा वे सर्वांश में व्याप्त हैं। गुणों में होने वाले परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। गुण पदार्थ में सदा रहते हैं, इसलिए इन्हें सहभावी या सहवर्ती भी कहते हैं। तथा पर्याय क्षणक्षयी होती हैं, ये तात्कालिक ही होती हैं, एक काल में एक ही होती हैं इस वजह से क्रम से आने के कारण इन्हें क्रमवर्ती या क्रम भावी भी कहते हैं। गुण त्रैकालिक होते हैं, पर्यायें तात्कालिक होती हैं। गुण और पर्याय में इतना ही अंतर है।

पर्याय के भेद

पर्यायें दो प्रकार की होती हैं—द्रव्य पर्याय और गुण-पर्याय अथवा व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्याय।[1] दोनों शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार की होती हैं। एक गुण की एक समयवर्ती पर्याय को गुण-पर्याय कहते हैं तथा अनेक गुणों के एक समयवर्ती पर्यायों के समूह को द्रव्य पर्याय कहते हैं।[2] जैसे आम का खट्टापन और मीठापन गुण पर्याय हैं क्योंकि इसमें एक गुण की मुख्यता है तथा आम का कच्चापन और पक्कापन द्रव्य पर्याय हैं क्योंकि यह आम के सभी गुणों के सामुदायिक परिणमन का फल है।

अथवा द्रव्य के आकार या संस्थान संबंधी पर्याय को द्रव्य पर्याय तथा उससे अतिरिक्त अन्य गुणों के पर्याय को गुण पर्याय कहते हैं। द्रव्य और गुण पर्याय का यह भी लक्षण पाया जाता है।[3]

गुण-पर्याय उस गुण की एक समय की अभिव्यक्ति है और गुण उसकी त्रिकालगत अभिव्यक्तियों का समूह है। उसी प्रकार त्रिकालवर्ती समस्त गुणों का समूह द्रव्य है और उन सकल गुणों के एक समय के पृथक्-पृथक् पर्यायों के समूह का नाम द्रव्य पर्याय है। गुण-पर्याय तथा गुण एवं द्रव्य-पर्याय तथा द्रव्य में यही अंतर है।

अर्थ व व्यंजन पर्याय का लक्षण भिन्न प्रकार से भी किया जाता है। द्रव्य में होने वाले प्रतिक्षणवर्ती परिवर्तन को अर्थ पर्याय तथा इन परिवर्तन के फलस्वरूप दिखनेवाले स्थूल परिवर्तन को व्यंजन-पर्याय कहते हैं।[4] प्रत्येक स्थूल परिणमन किन्हीं सूक्ष्म परिणमनों का ही फल है जो कि सत्तर वर्षीय वृद्ध के उदाहरण से स्पष्ट है। दोनों प्रकार की पर्याय और शुद्ध अशुद्ध के भेद से दो प्रकार की होती हैं। उसमें शुद्ध द्रव्य की दोनों पर्यायें शुद्ध होती हैं तथा अशुद्ध द्रव्य की दोनों ही पर्यायें अशुद्ध ही होती हैं। मुक्त जीव तथा शुद्ध परमाणु

---

1. प. का ता. व.16
2. नय दर्पण-85
3. नय दर्पण-85
4. (अ) प्रतिसमय परिणतिरूपा अर्थपर्यायाः भण्यन्ते प्र. सा. ज. वृ. 1/80

   (ब) स्थूला कालातरस्थायी सामान्यज्ञान गोचरः।

   दृष्टि ग्राह्यस्तु पर्यायो भवेद व्यञ्जन सञ्जक : ॥ भाव सग्रह 377

की दोनों ही पर्यायें शुद्ध होती हैं तथा संसारी जीव और स्थूल स्कंधों की दोनों ही पर्यायें अशुद्ध। यही पर्यायों का संक्षिप्त परिचय है।

विश्व मानवता और श्रमण संस्कृति

श्रमण संस्कृति कितनी शीलमयी, कितनी करुणामयी, कितनी ममतामयी, त्यागमयी, मानवतामयी, कोमलता, विनय और अनुरागमयी है कि मैं उसके हृदय में उसके अंतरतम में जितनी गहराई तक प्रवेश करता हूं पूर्वाप्रेक्षा अधिक से अधिक सुंदर, अधिक से अधिक मंगलमय, शांतिमय और मुक्तिमय पाता हूं। और वह भी मेरे व्यक्त्वि कृतित्व एवं अस्तित्व के रोम-रोम में गहराइयों तक प्रविष्ट होती हुई मुझे निरंतर, हर पल, हर क्षण, प्रभावित करती हुई मानव के महान चरणों तक पहुंचा देती है। और मैं वहां मंत्र-मुग्ध सा अपने आपको विश्व-मानवता के चरण-कमलों में पूर्ण नत, पूर्ण समर्पित तथा उनकी वंदना उनकी अभ्यर्थना करता हुआ पाता हूं—मेरे ऊपर इस प्रकार का प्रभाव डालने वाली केवल यह श्रमण संस्कृति ही है—जो मेरा सर्वोपरि आराध्य है और जिसका मैं अनुगामी, उपासक एवं आराधक हूं। मैं उसके सुंदर-सुंदर कोमल और लोकपावन तीरों से पूरी तरह कायल हूं। फिर भी मुझे पीड़ा की नहीं आनंद की अनुभूति होती है।

मैंने चिंतन, मनन एवं अनुशीलन के पश्चात् यह पाया है कि विश्व-मानवता के जितनी समीप श्रमण संस्कृति है उतनी दूसरी नहीं। अखिल मानव का जो कल्याण श्रमण संस्कृति के सरस एवं पुनीत सरिता में अवगाहन करने से हो सकता है। वैसा कहीं ओर जाकर मज्जन करने से नहीं।

विश्व मानवता और श्रमण संस्कृति, श्री श्रीकृष्ण पाठक, पृ. 64
आस्था और चिंतन

जीव और उसकी विविध अवस्थाएं

- जीव
- जीव का अस्तित्व
- आत्मा पर वैज्ञानिकों के विचार
- जीव का स्वरूप
- आत्मा सर्व व्यापक नहीं
- आत्मा अनेक है वह ब्रह्म का अंश नहीं

जीव की विविध अवस्थाएं

- जीव के भेद
- जीव के शरीर
- देहांतर गमन की प्रक्रिया
- शरीर निर्माण का क्रम
- जन्म

जीव और उसकी विविध अवस्थाएं

जीव

सात तत्त्वों में 'जीव तत्व' सबसे प्रधान तत्त्व है। चेतना इसका मुख्य लक्षण है। समस्त सुख दुःख की प्रतीति इस चेतना से ही होती है। इसी चेतना के आधार पर समस्त जड़ द्रव्यों से इसकी अलग पहचान होती है। इसीलिए चेतना को इसका लक्षण कहा गया है।[1] जीव की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि जो द्रव्य और भाव प्राणों से जीता है, जी चुका है तथा जिएगा—वह जीव है।[2] संसारी जीव शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छवास और आयु रूप चार प्राणों के आधार पर जीते हैं तथा मुक्तात्माओं में एक मात्र चेतना रूप भाव प्राण होते हैं। प्राणों के आधार पर जीने के कारण जीव को 'प्राणी' भी कहते हैं। नर-नारकादि विभिन्न पर्यायों में 'अतति' अर्थात निरंतर गमन करते रहने से इसे आत्मा भी कहते हैं। जंतु, पुरुष ज्ञानी आदि अन्य नाम भी जीव के पाए जाते हैं।[3]

जीव का अस्तित्व

प्रायः समस्त आत्मवादी दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं किंतु चवार्क जैसे भौतिकवादी दर्शन एवं आधुनिक विज्ञान आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि जीव नामक कोई पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होने से गधे के सींग की तरह नहीं है। यदि जीव होता तो उसे दिखना चाहिए था। जीव में जो चेतना दिखाई देती है वह पंचभूतों के संयोग से उत्पन्न हुई शक्ति मात्र है, जो जीव की मृत्यु होते ही समाप्त हो जाती है।

जैन दार्शनिकों का कहना हैं कि "मैं दुःखी हूं, सुखी हूं", आदि की जो प्रतीति होती है, वह इस चेतना का ही परिणाम है। यदि चेतना नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है तो मृतक का शरीर पंचभूतों से युक्त रहते हुए भी चेतना शून्य क्यों रहता है? इसी चेतना रूप लक्षण के दृष्टिगोचर होने पर कई बार मृत घोषित जीव को चिता से भी लौटते देखा गया है। यह भी पाया गया है कि योग्योपचार करने के बाद वह प्राणी और भी अधिक समय तक जिया है। इसी प्रकार आए दिन समाचार पत्रों में छपने वाली पूर्व जन्म विषयक घटनाएं भी जीव के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं।

---

1 चेतना लक्षणो जीवः सर्वा सि. पृ ॥

2 प्र. सा. मू. 147

3 महापुराण 24/103-108

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि चेतना, जीव का लक्षण न होकर शरीर का लक्षण है, लेकिन यह ठीक नही है। यदि चेतना शरीर का लक्षण है तो शरीर को सदा चेतन रहना चाहिए क्योंकि लक्षण त्रैकालिक होता है। लेकिन देखा जाता है कि मृतक का शरीर चेतना रहित हो जाता है। अत चेतना शरीर का लक्षण नही हो सकता। दूसरी बात, यदि चेतना शरीर का लक्षण है तो बडे और स्थूल शरीरों में चेतना अधिक होनी चाहिए तथा दुबले-पतले शरीर में चेतना की मात्रा भी अल्प होनी चाहिए तथा उसमें ज्ञान भी अल्प होना चाहिए कितु ऐसा देखा नही जाता। प्राय देखा जाता है कि पहलवानी शरीर धारी भी अल्पज्ञानी होता है तथा दुबले-पतले शरीर धारण करने वाले साधु-सतों और विद्वानों में अधिक ज्ञान पाया जाता है। इसी तरह हाथी, ऊट, घोडा, बैल आदि पशुओं की अपेक्षा मनुष्य का शरीर छोटा होने पर भी उनकी अपेक्षा मनुष्य में ज्ञान अधिक होता है। अत चेतना को शरीर का लक्षण नही माना जा सकता। यह तो शरीर से भिन्न जीव अथवा आत्मा का लक्षण है।

दूसरी बात यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप पचभूत तो जड हैं। चैतन्य रहित होने से इनसे जीव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यदि कहा जाए कि महुआ, गुड, पानी आदि में मद्य शक्ति, दिखाई नही पडती, किंतु परस्पर सयोगों को प्राप्त होने पर उनमें मद्य शक्ति उत्पन्न होती है तथा कुछ काल तक रहने पर विनाश की सामग्री प्राप्त होने पर विनष्ट हो जाती है। उसी प्रकार भूतो के सयोग से उत्पन्न चैतन्य भी कारण सामग्री प्राप्त होने पर विनष्ट हो जाती है। यह उदाहरण भी अनुपयुक्त है क्योंकि महुआ (धाव के फूल) गुड आदि पदार्थों में सयोग से पूर्व भी मादक शक्ति पाई जाती है। सयोग से तो केवल उनकी शक्ति का उद्दीपन होता है। इस प्रकार क्या तथाकथित भूतों में चेतना का अस्तित्व विद्यमान है? यदि है तो जडवाद की कोई स्थिति ही नही रहती। फिर तो चेतना शाश्वत हो गई। जहा भूत है, वहा चेतना है। यदि चेतना सायोगिक ही है तो मद्य शक्ति का उदाहरण अवास्तविक है, क्योंकि मद्य के उपादान में मादकता प्रत्यक्ष है किंतु भूतों में चैतन्य नही।

इसके बावजूद यदि कुछ क्षण के लिए मान ले कि पचभूतों के सयोजन से चैतन्य उत्पन्न होता है, तो उसका समीकरण क्या है? क्या उस समीकरण के आधार पर आज तक किसी ने चैतन्य की उत्पत्ति करके बताई है? यदि किसी ने नही बताई तो पचभूतों के सयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है यह बात ही आधारहीन होने से अप्रमाणिक है।

आधुनिक वैज्ञानिक सर्व वस्तुओं की उत्पत्ति मात्र जड पदार्थों से मानते हैं। वे अपने विरोधी समागम अथवा गुणात्मक परिवर्तन के सिद्धात के आधार पर कहते हैं कि सर्व पदार्थों की तरह चैतन्य भी पदार्थों के सयोग से ही बना है। परतु वे भी इसका अभी तक कोई समीकरण नही खोज सके हैं। यदि वैसा कोई समीकरण वैज्ञानिकों की दृष्टि में हो तो भी वे आज तक चैतन्य की उत्पत्ति करके नही बता सके हैं। चैतन्य का निर्माण तो दूर जीवित आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि शारीरिक अवयवों के निर्माण में भी अभी तक वे सफल नही हो सके हैं। उनके द्वारा बनाई हुई सर्व वस्तुए जड ही दिखाई पडती हैं और वे जीवित वस्तुओं से स्पष्टतया भिन्न प्रतीत होती हैं। इसी तरह मृत्यु के उपरात शरीर निश्चेष्ट

एवं विशीर्ण क्यों हो जाता है ? तथा जन्म के उपरांत जीव में चेतना कहां से आती है ? यह बात भी अभी तक वैज्ञानिकों के लिए पहेली बनी हुई है।

आत्मा पर वैज्ञानिकों के विचार

प्रकृति और चेतना के इसी रहस्य को न समझ पाने के कारण वैज्ञानिकों का गर्व भी चूर-चूर हो गया है। उन्हें अपनी अल्पज्ञता सामने दिखने लगी है। उन्हें भी किसी विराट ज्ञाता का ख्याल आने लगा है।'आईन्सटाईन' के शब्दों में—'हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं पूर्ण सत्य को कोई सर्वज्ञ ही जान सकता है।'[1] यही कारण है कि भले ही आधुनिक विज्ञान आत्मा की सत्ता को स्वीकार न करे, किंतु अभी वे एकदम से उसे अस्वीकार करने की स्थिति में भी नहीं हैं।अब तो वैज्ञानिकों को भी ऐसा प्रतीत होने लगा है कि यह विश्व एक प्रकार का जड़ यत्र नहीं है। उसमें चेतना स्फुरित होती है। "The Great Design" नामक पुस्तक मे अनेकों वैज्ञानिकों ने इस विषय में अपनी सामूहिक राय भी जारी की है। चेतना के महत्व पर स्पष्ट करते हुए "अलबर्ट आइन्सटाइन कहते हैं[2]—1. मैं जानता हूं कि सारी प्रकृति में चेतना काम कर रही है।"

2. कुछ अज्ञात शक्ति काम कर रही हैं, हम नहीं जानते वह क्या है ? मैं चैतन्य को मुख्य मानता हूं भौतिक पदार्थ को गौण। पुराना नास्तिकवाद अब चला गया है। धर्म, आत्मा और मन का विषय है। वह किसी भी प्रकार से हिलाया नहीं जा सकता।[3]

—सर ए. एस. एडिंग्टन

3. आजकल सामंजस्य का विस्तृत मानदंड प्रस्तुत हुआ है कि ज्ञान की सरिता अयांत्रिक वास्तविकता की ओर बह निकलती है। अब विश्व यत्र की अपेक्षा विचार के अधिक समीप लगता है। मन ऐसी चीज नहीं लगती जो दुनिया में कही अकस्मात् टपक पड़ी हो।[4]

—सर जेम्स जीन्स

4. सत्य यह है कि विश्व का मौलिक तत्व जड़ (Matter) बल (Force) या भौतिक पदार्थ (Physical Things) नहीं है किंतु मन और चेतना ही है।[5]

—जे. वी. एस. हेल्डन

---

1 We can only know the relative truth, but absolute truth is known only to the universal observer **जैन दर्शन और विज्ञान पर उद्धृत, पृ. 99-100**

2 I believe that intelligence is manifested throughout all nature

3 Something 'unknown' is doing we do not know,what regard consciousness as fundamental I regard matter as derivative from consciousness The old atheism is gone Religion belong to the realm of the spirit and mind and cannot be Shaken

4 Today there is a wide measure of agreement, that the stream of knowledge is heading toward a non-mechanical reality The universe begins to look more like a great thought than like great machine Mind no longer appears as an accidental intrudes into the realm of matter

5 The truth is that, not matter, not forces, not any physical thing, but mind, personality is the central fact of the universe

5. एक निर्णय यह बताता है कि मृत्यु के बाद आत्मा की संभावना है। ज्योति काष्ठ से भिन्न है। काष्ठ तो थोड़ी देर उसे प्रकट करने में ईंधन का काम करता है।"[1]

—आर्थर एच कांप्टन

6. "वह समय आएगा जब विज्ञान द्वारा अज्ञात विषय का अन्वेषण होगा। विश्व जैसा कि हम सोचते थे उससे भी कहीं अधिक उसका आध्यात्मिक अस्तित्व है। वास्तविकता तो यह है हम उक्त आध्यात्मिक जगत् के मध्य में हैं जो भौतिक जगत् से ऊपर है।"[2]

—'सर ऑलीवर लॉज'

7. जैसे मनुष्य दो दिन के बीच की रात्रि में स्वप्न देखता है वैसे ही मनुष्य की आत्मा मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच विहार करती है।[3]

—'सर ऑलीवर लॉज'

जीव का स्वरूप

यद्यपि जीव के अस्तित्व को सभी आत्मवादी दर्शन स्वीकार करते हैं, किंतु उसके स्वरूप के संबंध में सबकी ऐकांतिक अवधारणाएं हैं। सभी दर्शन जीव की किसी एक विशेषता को ग्रहण कर उसे ही उसका स्वरूप मान बैठने की भूल में हैं। जैन दर्शन में जीव का सर्वांगीन स्वरूप मिलता है। विविध दर्शनकारों के मतों को दृष्टिगत रखते हुए जैन दर्शन में जीव का स्वरूप अनेकांतिक ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्सोड्ढ गई।[4]

अर्थात् जीव उपयोगमयी है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेह परिमाण वाला है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है तथा स्वाभाविक ऊर्ध्वगति वाला है।

उपयोगमय है—चैतन्यानुविधायी आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते है। अर्थात् जो परिणाम आत्मा के चैतन्य गुण का अनुसरण करते हैं, वह उपयोग है।[5] उपयोग रूप चेतना जीव का लक्षण है।[6] जैन शास्त्रों में उपयोग शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है

---

1 A conclusion which suggests the possibility of consciousness after death the flame is distinct from the log of wood which act temoporarity as fuel

1 से 5 तक—जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान पर उद्धृत, पृष्ठ स. 99-100

2 The Time will assuredly come when these avenues into unknown region will be explored by science The universe is a more spiritual entity than we thought The real fact is that we are in the midst of a spiritual world which dominates the material

3 The soul of man passes between death and rebirth in this world as he passes through dream in the night between day and day 4 से 7

जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान पर उद्धृत पृ. सं. 99-100

4 द्रव्य स, गा. 2

5 सर्वा सि. 117 6 त. सू. 48

कि "उपयुज्यते वस्तु परिच्छेदं प्रति व्यापर्यते जीवोऽनेनेति उपयोगः" अर्थात् जिसके द्वारा जीव वस्तु के परिच्छेद/परिज्ञान/बोध के लिए व्यापार करता है वह उपयोग है। उपयोग दो प्रकार का होता है। 1. दर्शनोपयोग[1], 2. ज्ञानोपयोग।[2]

दर्शन उपयोग—यह निराकार उपयोग है।[3] इसमें पदार्थों का सामान्य प्रतिभास मात्र होता है। जब चेतना की शक्ति किसी वस्तु विशेष के प्रति विशेष रूप से उपयुक्त न होकर मात्र सामान्य रूप से उसे ग्रहण करती है, उसे दर्शनोपयोग कहते हैं।[4] अर्थात् इस परिणति में विषय विषयी का संपर्क मात्र होता है।

ज्ञान उपयोग—यह साकार उपयोग है।[5] चेतना की शक्ति जिस समय ज्ञानाकार न होकर ज्ञेयाकार रूप हो जाती है, उस समय शुक्लत्व, कृष्णत्व आदि विशेष रूपों का ग्रहण होने लगता है। वह सामान्य मात्र न होकर विशेष रूप से होने लगता है। इसे ज्ञानोपयोग कहते हैं।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में यह अंतर है—ज्ञान साकार है, दर्शन-निराकार। ज्ञान सविकल्पक है दर्शन निर्विकल्पक। उपयोग की सर्वप्रथम भूमिका दर्शन है, जिसमें केवल सामान्य सत्ता का भान होता है। इसके पीछे क्रमशः उपयोग विशेषग्राही होता जाता है। यह ज्ञानोपयोग है। पहले दर्शन होता है फिर ज्ञान होता है।[6] इसलिए दर्शन निराकार और निर्विकल्पक है। दर्शन के पहले ज्ञान को इसीलिए ग्रहण किया जाता है क्योंकि निर्णयात्मक होने के कारण ज्ञान अधिक महत्त्व रखता है। वैसे उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान का स्थान बाद में है, दर्शन का पहले।

ज्ञानोपयोग के दो भेद है—स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान।[7] स्वभाव-ज्ञान पूर्ण होता है। उसे किसी भी इंद्रिय की अपेक्षा नहीं रहती। सीधा आत्मा से होने वाला पूर्ण ज्ञान स्वभाव ज्ञान है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष और साक्षात् है। इसी ज्ञान को जैन दर्शन में केवल ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान अकेला और असहाय होता है। अतः केवल ज्ञान कहलाता है। इसमें जगत् के सारे पदार्थ प्रतिबिंबित हो जाते हैं। इसलिए भी इसे केवल ज्ञान कहते हैं। कर्म सापेक्ष ज्ञान विभाव ज्ञान कहलाते है। समस्त ससारी जीवों का ज्ञान विभाव ज्ञान है।

विभाव ज्ञान के पुनः दो भेद होते हैं—सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान। सम्यक् ज्ञान चार प्रकार का होता है—मति ज्ञान, श्रतु ज्ञान, अवधि ज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान।[8]

मति ज्ञान—इंद्रिय और मन की सहायता से होने वाला जीव और अजीव विषयक ज्ञान मति ज्ञान है।

श्रुत ज्ञान—मति ज्ञान के उपरांत जो चितन, मनन द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है उसे 'श्रुत

1 जैन लक्षणावली 1/276
2 द्र स गा 4
3 अनाकार दर्शनम् सर्वा सि. 118
4 द्र स गा. 43
5 सागारोणाणोवजोगो ध पु. 11/334 सर्वा सि 118
6 दसण पुव्व णाण द्र स. 43 यह कथन छद्मस्थो की अपेक्षा है।
7 णाणुव जोगो दुविहो सहावणाण विहावणाणत्ति—नि सा मू 10
8 वही 11-12

ज्ञान' कहते हैं।

अवधि ज्ञान—बिना इंद्रिय और मन आदि बाह्य पदार्थों की सहायता से जो ज्ञानरूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, वह अवधि ज्ञान है। यह ज्ञान एक निश्चित अवधि/ सीमा तक ही होता है इसलिए अवधि ज्ञान कहलाता है।

मनःपर्यय ज्ञान—अवधिज्ञान की तरह बिना किसी बाह्य आलंबन के दूसरे के मन में रहने वाले रूपी-पदार्थों को जानने वाला ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान है।

मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का होता है—

1. मत्याज्ञान—मिथ्या दर्शन से संयुक्त मति ज्ञान ही मत्याज्ञान है
2. श्रुताज्ञान—मिथ्यादर्शन से सयुक्त श्रुतज्ञान ही श्रुताज्ञान है।
3. विभंगज्ञान—मिथ्या दर्शन से संयुक्त अवधि ज्ञान ही विभंग ज्ञान[1] है।

ज्ञान के मिथ्यापन और सम्यक्पन का आधार विषय न होकर ज्ञाता है। जो ज्ञाता मिथ्या श्रद्धा वाला होता है उसका सपूर्ण ज्ञान मिथ्या होता है तथा जिस ज्ञाता की श्रद्धा सम्यक् होती है उसका ज्ञान भी सम्यक् होता है। सम्यक् और मिथ्यात्व का आधार श्रद्धा है बाह्य पदार्थ नहीं।

इस प्रकार ज्ञानोपयोग के कुल आठ भेद हो जाते हैं। इनमें से मति और श्रुत को परोक्ष तथा शेष तीन को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है।[2] इन पांच ज्ञान में प्रथम तीन ज्ञान विपर्यय भी होते हैं। इस प्रकार दो परोक्ष, तीन प्रत्यक्ष और तीन विपरीत मिलाकर ज्ञानोपयोग के कुल आठ भेद हुए।

दर्शनापयोग—ज्ञानोपयोग की तरह दर्शनोपयोग भी दो प्रकार का है—स्वभाव दर्शन और विभाव दर्शन। "स्वभाव दर्शन" आत्मा का स्वभाविक उपयोग है। स्वभाव ज्ञान की तरह यह भी प्रत्यक्ष व पूर्ण होता है। इसे केवल दर्शन कहते हैं। विभाव दर्शन तीन प्रकार का होता है—चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, और अवधि-दर्शन।[3]

चक्षु-दर्शन—चक्षु इद्रिय से होने वाला निराकार और निर्विकल्पक बोध चक्षु दर्शन है। चक्षु इद्रिय की प्रधानता होने के कारण चक्षु-दर्शन नामक स्वतंत्र भेद है।

अचक्षु-दर्शन—चक्षु इद्रिय के अतिरिक्त शेष इंद्रियों तथा मन से होने वाला जो दर्शन है, वह अचक्षु-दर्शन है।

अवधि-दर्शन—अवधि ज्ञान में पूर्ण होने वाला जो दर्शन है, वह अवधि-दर्शन है।

दर्शनोपयोग सामान्य मात्र को ग्रहण करता है। इसलिए वह सम्यक् और मिथ्या नहीं हो सकता। सविकल्प ज्ञानोपयोग में ही सम्यक् व मिथ्यात्व होता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। अत· अलग से श्रुतदर्शन नही होता तथा मनः पर्यय ज्ञान मनोनिमित्तिक होने के कारण पृथक रूप से मनःपर्यय दर्शन भी नहीं होता। छद्मस्थ जीवों को दर्शन और ज्ञान क्रमशः होता है तथा केवल ज्ञानियों को ज्ञान और दर्शन युगपत होता है।

उपर्युक्त चार प्रकार का दर्शन और आठ प्रकार का ज्ञान जीव का सामान्य लक्षण है।

---

1 (अ) प का अमृ चृ 41 (ब) धवला 1/358

2 द्र स गा 5

3 नि सा म 13 14

यह उसका व्यवहारिक स्वरूप है। शुद्ध स्वरूप में तो वह केवल दर्शन और केवल ज्ञानमय है।[1]

सांख्य तथा नैयायिक आत्मा को उपयोग (ज्ञान) रहित मानते हैं। नैयायिकों का कहना है कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह बाहर से आता है।[2] इस पर जैन दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा हमेशा ज्ञानवान ही बना रहता है। ज्ञान और दर्शन जीव का स्वभाव है। कोई भी जीव उसके बिना नहीं रह सकता। जो जीव है, वह ज्ञानवान है। तथा जो ज्ञानवान है वह जीव है। जैसे अग्नि अपने उष्ण गुण को छोड़कर नहीं रह सकती वैसे ही जीव अपने ज्ञान गुण से पृथक् नहीं रह पाता। एकेंद्रियादि वनस्पति से लेकर मुक्तात्माओं तक यह ज्ञान हीनाधिक रूप से पाया जाता है। ज्ञान का पूर्ण विकसित रूप सिद्धात्माओं में पाया जाता है। यदि हम ज्ञान को आगंतुक मानते हैं तो फिर सभी पदार्थों में इस आगंतुक ज्ञान के संयोग से चेतनत्व मानना चाहिए।

"यहां पर ज्ञातव्य है कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—स्वाभाविक और वैभाविक। स्वाभाविक रूप में पर-निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती, जबकि वैभाविक रूप में पर-निमित्त की अपेक्षा बनी रहती है। स्वाभाविक रूप के लिए परमार्थ, निश्चय, वास्तविक आदि नाम दिए जाते हैं तथा वैभाविक रूप को अपरमार्थ, व्यवहार, अशुद्ध आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। आत्मा का वर्णन भी इन्हीं दोनों दृष्टियों से जैनागमों में किया गया है।"

अमूर्त—अमूर्तिक विशेषण से कुमारिल भट्ट के मत का परिहार किया गया है जो उसे मूर्तिक मानते हैं। उसी तरह चार्वाक भी जीव को मूर्तिक पिंड मानते हैं।[3] शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में पुद्गल के गुण, रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं होते इसलिए यह अमूर्तिक है पर संसार अवस्था में वह अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण रूपादिवान होकर मूर्तिक होता है। यह मूर्तत्व गुण चेतना का विकार है और विकार स्थायी रहता नहीं। अतः वह अशुद्ध है। इस प्रकार निश्चय से जीवों को अमूर्त मानकर भी व्यवहार से जीव को मूर्तिक माना गया है।[4]

कर्त्ता—सांख्य दर्शन जीव को कर्त्ता नहीं स्वीकारता।[5] उसकी दृष्टि में प्रकृति ही सारे कार्य करती है। वही सुख-दुःखादि का कर्त्ता है। पुरुष (आत्मा) तो साक्षी मात्र है। जैन दर्शन का कहना है कि जीव अपने शुभाशुभ परिणामों का कर्त्ता है। वह निश्चयनय से अपने भावों का तथा व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है। कर्त्ता कोई और हो, तथा भोक्ता कोई और, ऐसा हो ही नहीं सकता। जब पुरुष सर्वथा निष्क्रिय कूटस्थ और शुद्ध है तो फिर मोक्ष की कल्पना ही व्यर्थ है, क्योंकि मोक्ष तो बंधन पूर्वक ही होता है।[6]

भोक्ता—जिस तरह आत्मा कर्त्ता है उसी तरह वह अपने परिणामों का भोक्ता भी है। जो जैसा करता है वो वैसा पाता है; जैसी करनी वैसी भरनी, जैसी लोक-प्रसिद्ध न्याय के

1. द्र. सं. गा. 6
2. द्र. सं. टी. गा. 2
3. द्र. स. टी. 2
4. द्र. सं. गा. 7
5. द्र. सं. टीका गा. 8
6. द्रं. स. टी. गा. 9

अनुरूप जैन दर्शन में व्यवहार से जीव को अपने सुख-दुःखों का भोक्ता कहा गया है, तथा निश्चय से अपने चैतन्यात्मक आनंद स्वरूप का भोक्ता कहा गया है। यदि आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता न हो तो सुख-दुःख की अनुभूति ही नहीं हो सकती। बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है। अतः वह आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के ऐक्य को स्वीकार नहीं करता है। यदि जीव को अपने कर्मों का भोक्ता न माना जाए तथा कर्म करने वाले को उसका फल न मिलकर किसी अन्य को मिलने लगे तो फिर इससे पाप-पुण्य की कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी।[1]

शरीर परिमाणित्व—आत्मा के आकार के संबंध में भी विभिन्न दर्शनकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ दार्शनिक आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं तथा कुछ दर्शन ऐसे भी हैं जो आत्मा को अंगुष्ठ मात्र अथवा अणु प्रमाण मात्र मानते हैं।[2] जैन दर्शन के अनुसार जीव कर्मों के निमित्त से छोटा-बड़ा जैसा भी शरीर मिलता है उस शरीर के आकार वाला होता है। इसीलिए जैन दर्शन में जीव को 'अणु गुरु देहपमाणों' कहा गया है।[3] जीव छोटे-बड़े आकार वाला कैसे हो जाता है?[4] इस बात का समाधान जैन दर्शन में उसके संकोच विस्तार रूप शक्ति को स्वीकार कर दिया गया है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश छोटे स्थान पर संकुचित हो जाता है तथा विस्तृत स्थान मिलने पर फैल जाता है, उसी प्रकार जीव भी चींटी जैसा सूक्ष्म शरीर मिलने पर सकुचित हो जाता है तथा हाथी जैसा विशाल शरीर मिलने पर विस्तृत हो जाता है। इस प्रकार प्रदेशों में संकोच-विस्तार होते रहने पर भी उसके लोक-प्रमाण आत्म प्रदेशों की संख्या में कोई हानि/वृद्धि नहीं होती।

आत्मा सर्वव्यापक नही—न्याय वैशेषिक मीमासक आदि दार्शनिक आत्मा का अनेकत्व स्वीकारते हुए भी उसे आकाश की तरह सर्वव्यापक मानते हैं।[5] गीता मे भी आत्मा को व्यापक प्रतिपादित किया गया है। किंतु आत्मा को सर्वव्यापक मानना ठीक नहीं है क्योकि वह हमारे अनुभव और प्रतीति के विपरीत है। हमारी प्रतीति हमें यह बताती है कि जितने परिमाण में हमारा शरीर है इतने ही परिमाण में हमारी आत्मा है। शरीर के बाहर आत्मा का अस्तित्व रह कैसे सकता है? जहां पर जिस वस्तु के गुण उपलब्ध होंगे वह वस्तु वहीं पर रहेगी। कुंभ वही रहता है जहां उसके रूपादि गुण उपलब्ध होते हैं। उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व भी वही मानना चाहिए जहां उसके ज्ञान, स्मृति आदि गुण उपलब्ध हों। अतः आत्मा को सर्वव्यापक नहीं माना जा सकता क्योंकि शरीर के बाहर वैसा कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ता।

यदि जीव व्यापक है तो जैसे जीव को अपने शरीर में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव होता है वैसे ही पराए शरीर में होने वाले सुख दुःख का अनुभव होना चाहिए। किंतु यह बात सुस्पष्ट है कि पराए शरीर में होनेवाले सुख-दुःख का अनुभव जीव को नहीं होता।

---

1 द्र स गा9
2. (अ) भारतीय दर्शन डा राधा कृष्णन भाग-2 पृ 692 (ब) कठोपनिषद् 4/13
3 द्र सा गा 10
4 प्रदेश सहार विसर्पाभ्या प्रदीपवत त सू 5/16
5 गीता 2/20
6 का. अनु गा 177

अतः जीव को अपने शरीर प्रमाण ही मानना चाहिए।[6]

आत्मा को अणु प्रमाण या अंगुष्ठ मात्र मानने पर भी जितने प्रदेशों में आत्मा रहता है, उससे बाहर के प्रदेशों का अनुभव भिन्न जीवों की तरह नहीं हो सकने का प्रसंग प्राप्त होता है। जबकि देखा जाता है कि जीव अपने शरीर के प्रत्येक प्रदेश में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव करता है। अतः आत्मा को शरीर प्रमाण स्वीकार करना ही युक्ति युक्त है।

उपनिषदों में भी आत्मा के देह प्रमाण होने का उल्लेख मिलता है।[1] कौषीतकी उपनिषद् में कहा गया है कि "जैसे छुरा अपने म्यान में और अग्नि अपने कुंड में व्याप्त है वैसे ही आत्मा शरीर में नख से लगाकर शिखा तक व्याप्त है।" तैत्तरीय उपनिषद् में आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय बताया गया है, जोकि जीव को देह परिमाण मानने पर ही संभव है।[2]

आत्मा अनेक हैं वह ब्रह्म का अंश नहीं—अद्वैत वेदांति आत्मा को एक ही आध्यात्मिक तत्व (ब्रह्म) मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वे ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम' बताते हुए जगत् के सर्वजीवों को उसका ही अंश मानते हैं।

जैन दार्शनिक, वेदांतियों के उक्त मत से सहमत नहीं हैं। जैन दर्शन के अनुसार एकात्मवाद की कल्पना युक्तिरहित है। यदि संपूर्ण लोक में एक ही आत्मा है तो सभी जीवों का स्वभाव समान रहना चाहिए। सभी जीवों की प्रवृत्ति समान होनी चाहिए तथा सभी जीवों के सुख-दुःख के अनुभव की मात्रा भी समान ही होनी चाहिए। जबकि ऐसा देखा/पाया नहीं जाता। सभी जीवों का स्वभाव और प्रवृत्तियां समान नहीं हैं तथा सब जीवों के सुख-दुःख का अनुभव भी समान नहीं होता। अतः आत्मा एक नहीं बल्कि अनेक हैं। 'विश्व तत्व प्रकाश' में कहा गया है कि यदि आत्मा एक होती तो एक ही समय में यह तत्वज्ञ है तथा मिथ्याज्ञानी है, यह आसक्त है, यह विरक्त है। इस प्रकार के विरुद्ध व्यवहार नहीं पाए जाते। अतः आत्मा एक नहीं है।[3]

यदि एक ही आत्मा मानी जाए तो एक व्यक्ति के द्वारा देखे गए तथा अनुभूत किए पदार्थों का स्मरण दूसरे व्यक्ति को भी होना चाहिए क्योंकि दोनों की आत्मा एक है किंतु ऐसा नहीं होता। अतः सिद्ध है कि आत्मा अनेक हैं।[4] एक आत्मा मानने से एक के जन्म से सबका जन्म तथा एक के मरण से सबका मरण मानना पड़ेगा। इसी तरह एक के दुःखी होने से सबको दुःखी तथा एक के सुखी होने से सबके सुखी होने का प्रसंग प्राप्त होता है लेकिन इस प्रकार की अवस्था देखने में नहीं आती अर्थात् सभी के सुख-दुःख, जीवन-मरण अलग-अलग दृष्टिगोचर होते हैं। अतः सिद्ध है कि आत्मा अनेक हैं एक नहीं।[5]

सांख्य दर्शन में भी आत्मा के अनेकत्व को स्वीकारते हुए एकात्मवाद का खंडन

---

1. अ. मुण्डक उपनिषद् 1/1/6
   ब. छान्दोग्य उपनिषद् 3/14/3
2. तर्क भाषा पृ.153
3. विश्व तत्व प्रकाश (भावसेन) पृ. 174
4. विश्व तत्व प्रकाश (भावसेन) पृ. 124
5. सर्वेषामेकमेवात्मा युज्यते नेतिजल्पितुम्। जन्म मृत्यु सुखादीन भिन्नानामुपलब्धितः —**विश्व तत्व प्रकाश**

किया गया है। आत्मा की अनेकता को सिद्ध करते हुए सांख्यकारिका में कहा गया है कि "प्रत्येक पुरुष के जन्म-मरण एक ही तरह न होकर विभिन्न होते हैं। एक का जन्म होता है, दूसरे का मरण होता है। यदि एक ही आत्मा होती तो एक के उत्पन्न होने से सबकी उत्पत्ति तथा एक का मरण होने से सबका मरण मानना पड़ता, जो कि असंगत है। अतः सिद्ध है कि आत्मा अनेक हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पुरुष की इंद्रियां और प्रवृत्तियां भी भिन्न-भिन्न हैं जोकि जीव की अनेकता सिद्ध करती है। विभिन्न पुरुषों में सत्व, रज और तम गुणों की न्यूनाधिकता भी (जैन दर्शन के अनुसार कर्म) आत्मा की अनेकता को सिद्ध करती है।"[1]

सांख्यों की तरह न्याय वैशेषिक और मीमांसक भी आत्मा के अनेकत्व को स्वीकार करते हैं।

संसारी है—सदाशिव मत के अनुसार "जीव सदाशिव स्वरूप है।"[2] वह कभी भी संसारी नहीं होता। हमेशा शुद्ध बना रहता है। कर्मों का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। कर्म उसके हैं ही नहीं। जन्म-मरण केवल इंद्रजाल और माया है। जैन दर्शन का इस संबंध में स्पष्ट कहना है कि जीव पहले संसारी रहता है तदनंतर मुक्तावस्था को प्राप्त करता है। अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण संसारी जीव अशुद्ध है। वह पुरुषार्थ के बल से कर्मों को नष्ट कर शुद्ध होता है। यदि जीव पहले संसारी नहीं होता तो उसकी मुक्ति के उपाय का अन्वेषण भी व्यर्थ है। जैन दर्शन का यह भी कहना है कि जीव को सांसारिक कहना व्यावहारिक दृष्टिकोण है। शुद्ध नय से सभी जीव शुद्ध हैं क्योंकि संसारी होते हुए भी उनमें सदाशिव होने की शक्ति विद्यमान रहती है।[3]

जीव मुक्त है—जैन दर्शन के अनुसार जब तक यह जीव राग द्वेषादिक विषय विकारों से ग्रसित रहता है, तब तक वह संसारी रहता है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा इन्हें नष्ट कर वह शुद्ध हो जाता है। मुक्त होते ही वह अशरीरी, अष्ट कर्मों से रहित, अनंत सुख से युक्त परम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

मीमांसक मुक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं।[4] उनके अनुसार आत्मा सदा संसारी ही रहता है। उसकी मुक्ति होती ही नहीं है। उनका कहना है कि मुक्ति नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। इस पर जैन दर्शनकार कहते हैं कि यदि मुक्ति नहीं है तो त्याग, तपस्या और वैराग्य की क्या आवश्यकता है? मुक्ति के अभाव में तो फिर संसार का भी अभाव प्राप्त हो जाएगा, क्योंकि संसार और मुक्ति तो सापेक्ष हैं। अतः जीव का संसारी और मुक्त दोनों विशेषण तर्कसंगत हैं।

ऊर्ध्वगति स्वभावी—मांडलिक मत में जीव को निरंतर गतिशील बताया गया है।[5] उनकी मान्यता है कि जीव सतत् गतिशील रहता है। वह कभी नहीं ठहरता, चलता ही

1. संख्याकारिका 19, सांख्य सूत्र 1/149 अमितगति श्राव. 4/20
2. द्र. सं. टी. गा. 2
3. द्र. सं. गा. 13
4. द्र. सं. टी. गा. 2
5. वही

रहता है। जैन दर्शन में जीव को ऊर्ध्वगति स्वभावी कहा गया है। जैसे दीपक की निर्वात शिखा स्वभाव से ही ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही शुद्ध दशा में जीव भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाले होते हैं। वायु से प्रकंपित दीपक की लौ की तरह अशुद्ध दशा में जीव कर्मों से प्रेरित होकर चार गतियों में इधर-उधर भ्रमण करते हैं, किंतु शुद्ध दशा में अपने ऊर्ध्वगमन के स्वभाव के द्वारा लोक के अग्र भाग में स्थिर हो जाते हैं। उसके आगे नहीं जाते क्योंकि उसके आगे गति में निमित्त धर्म द्रव्य का अभाव है।[1] इस प्रकार जैन दर्शन में जीव को ऊर्ध्वगमन स्वभावी मानते हुए भी उसे निरंतर गतिशील नहीं माना गया है।

इसी प्रकार अपने शुभाशुभ भावों के आधार पर स्वयं अपना उत्थान और पतन करने वाला होने से जीव को प्रभु (स्वयंभू) भी कहा गया है, क्योंकि जीव अपना विनाश और विकास करने में स्वतंत्र है। वह किसी अन्य शक्ति के आधीन नहीं है। जीव अपनी सद्प्रवृत्ति से अपनी आत्मा का परम विकास कर सकता है तो अपनी असद् प्रवृत्ति के कारण उसकी आत्मा का पतन भी संभव है। वह अपना मालिक स्वयं है। दूसरे शब्दों में कहें कि वह स्वयं अपने विकास और विनाश का उत्तरदायी है। अतः जीव को प्रभु कहना सार्थक है।

इसी प्रकार जीवन के किसी आदि बिंदु के न होने से जीव को अनादि तथा बार-बार जन्म-मरण होते रहने के बाद भी आत्मा का समूलोच्छेद नहीं होने से उसे अनिधन कहा गया है। जीव को अनिधन कहने का आशय यह है कि वह कभी मरता नहीं है, अर्थात् अमर है। "अमुक जीव मर गया" ऐसा जो कहा जाता है वह औपचारिक है। यहां मर जाने का अर्थ इतना ही है कि उसने जिस देह को धारण किया था, उसका वियोग हो गया; जैसे एक व्यक्ति पुराने वस्त्र उतारकर नये वस्त्र धारण करता है उसी तरह जीव भी उपार्जित आयु के पूर्ण होने पर वर्तमान देह को छोड़कर नवीन देह धारण करता है। तात्पर्य यह है कि हम जिसे मरण कहते हैं वह जीव के लिए देह परिवर्तन की क्रिया है, स्व-विनाश की क्रिया नहीं।

जीव की विविध अवस्थाएं

जीव तत्व के दार्शनिक स्वरूप को हमने समझा। अब हम उसकी विविध अवस्थाओं के संबंध में विचार करेंगे। जीवों के भेद कितने हैं? इंद्रियां कितनी हैं? उनका कार्य क्या हैं? मन क्या है? गतियां कितनी हैं? शरीर से जीव का संबंध कैसा है? मृत्यु के उपरांत इस शरीर का क्या होता है? जीव एक गति से दूसरी गति में कैसे जाता है? जीव की जन्म लेने की प्रक्रिया क्या है तथा वह नवीन शरीर का निर्माण कैसे करता है? आदि अनेक जिज्ञासाएं प्रायः लोगों के मन में उठा करती हैं। जैन दर्शन में इनका विस्तृत वर्णन है। संक्षेप में हम

1. धर्मास्तिकायाभावात् त. सू. 10/8

उनकी चर्चा करेंगे।

जीव के भेद

जीव के मुख्यत दो भेद किए गए हैं। संसारी और मुक्त। संसरण को संसार कहते हैं। जो कर्मों के कारण नाना योनियों/गतियों में भ्रमण करते हैं, वे संसारी हैं। कर्मों को नष्ट करके अपनी स्वभाविक अवस्था को प्राप्त कर स्थिर रहने वाले शरीरातीत आत्माओं को 'मुक्त' जीव कहते हैं। संसारी जीव के त्रस और स्थावर रूप दो भेद हैं—जो भय खाकर अपने बचाव के लिये इधर-उधर भाग सकते, हैं उन्हें त्रस कहते हैं तथा जो अपने बचाव के लिए इधर-उधर भाग-दौड़ नहीं सकते, उन्हें 'स्थावर' कहते हैं।

स्थावर जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भेद से पांच प्रकार के होते हैं। जो पत्थर, मिट्टी आदि पृथ्वी को अपना शरीर बनाकर रहते हैं उन्हें "पृथ्वी कायिक" जीव कहते हैं। जल को ही अपना शरीर बनाकर रहने वाले जीव "जल कायिक" कहलाते हैं। इसी प्रकार अग्नि को अपना शरीर बनाकर रहने वाले जीव "अग्नि कायिक", वायु को अपना शरीर बनाकर रहने वाले जीव "वायु कायिक" तथा सब प्रकार की वनस्पतियों को अपना शरीर बनाकर रहने वाले जीव "वनस्पति कायिक" कहलाते हैं।

यद्यपि इन जीवों में जीवत्व का प्रतिभास नहीं हो पाता फिर भी इनमें जीवन है। अन्यथा खान में पड़े पदार्थों में वृद्धि दिखनी असंभव थी। आधुनिक विज्ञान भी इसे स्वीकारता है।[1] जैन दर्शन की यह विशिष्टता है कि वह पृथ्वी, जल, वायु और वनस्पति के साथ-साथ अग्नि में भी जीवत्व स्वीकार करता है, जो कि भीषण अग्नि कांड एवं विस्फोट के समय देखी जा सकती है। जीव की इस शक्ति के समक्ष मनुष्य की सारी शक्तियों को हार माननी पड़ती है। जैसे मनुष्य और पशुओं के जीवन के लिये प्राण वायु/ऑक्सीजन अनिवार्य है वैसे ही अग्नि भी ऑक्सीजन के सहारे ही जीवित रहती है, जलती है। ऑक्सीजन रूप प्राणवायु के अभाव में अग्नि बुझ जाती है। यह उसमें जीवत्व होने का सबल प्रमाण है। भले ही आज का विज्ञान इनमें जीवत्व न मानता हो परंतु जिस तरह "डॉ. जगदीशचंद्र बसु" के अनुसंधान के आधार पर वनस्पति में जीवत्व स्वीकार किया है, उसी प्रकार उसे आगे चलकर इन जीवों में भी जीवत्व स्वीकार करना पड़ेगा। ये पांचों ही स्थावर हैं। इन्हें 'एकेन्द्रिय' कहते हैं।

त्रस के चार भेद हैं—दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पांच इंद्रिय वाले जीव।

हमारे मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इंद्रियां क्या हैं? आत्मा संसारी दशा में जिनके द्वारा जानता है उन्हें इंद्रिय कहते हैं।[2] इंद्रियां ही वह खिड़की हैं जिनसे

---

1 "We find that soil is life, and that a living soil mass of micro organic existence, the earth worm, the fuongi and the micro—organism
we learn that there is a minimum of 5-millions these denizens to the cubic inch of living soil" —J. Sykes (The Sower, Winter' 1952-53
गिरनार गौरव पर उद्धृत

2 त. वा.1/166

झाककर आत्मा बाहर के पदार्थों को देख पाता है। (इद्रिय शब्द इद्र से बना है। इद्र का अर्थ लिग और चिह्न भी होता है। जिसके द्वारा आत्मा की पहचान हो उसे इद्रिय कहते हैं)[1] इद्रिया पाच हैं —स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र या कर्ण इद्रिय। स्पर्श, रस, गध, वर्ण (रूप) और शब्द क्रमश इनके विषय है। आख, कान, नाकादि जो इद्रिया हमें दिखाई पडती हैं वह इद्रियो का बाहरी रूप है। इन्हे द्रव्येंद्रिय कहते है तथा इनके आधार पर आत्मा का जो ज्ञान रूप परिणमन होता है उसे भावेंद्रिय कहते हैं।

जिसके द्वारा हल्का, भारी, रूखा, चिकना, गरम, ठडा, मृदु और कठोर रूप आठ प्रकार के स्पर्श का ज्ञान होता है उसे 'स्पर्शन' इन्द्रिय कहते है। यह जिनके पायी जाती है वे 'एकेद्रिय' कहलाते हैं , जैसे वृक्षादि।

खट्टा, मीठा, कडवा, कसैला और चरपरा रूप पाच प्रकार के रस का ज्ञान जिस इद्रिय के माध्यम से होता है, वह रसना इद्रिय है। स्पर्श और रसना यह जिन जीवो के पायी जाती है वे दो इन्द्रिय या द्विन्द्रिय कहलाते है, जैसे कृमि, शख, कौडी, सीप आदि।

सुगध और दुर्गंध का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय (नाक) से होता है। स्पर्श और रसना के साथ घ्राणेन्द्रिय जिनके पास पायी जाती है उन्हे तीन इन्द्रिय जीव कहते है, जैसे—चीटी, खटमल , जू, कान-खजूरा आदि।

चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है जिसके द्वारा लाल, काला, पीला, नीला, सफेद आदि विभिन्न रगों/रूपों का अवलोकन करते है, वह 'चक्षु' इन्द्रिय है। यह जिनके पास पायी जाती है वे चतुरिन्द्रिय कहलाते है, जैसे भ्रमर, तितली, मक्खी आदि।

पाचवी इन्द्रिय श्रोत्र है। इसके द्वारा आत्मा सात प्रकार के शब्दों का ज्ञान प्राप्त करता है। यह पचेन्द्रियों के पायी जाती है। मनुष्य, हाथी, घोडा, कबूतर आदि सब के सब पचेन्द्रिय हैं।

इन्द्रियों के विकास का एक निश्चित क्रम है। बाद की इन्द्रिय होने पर, पूर्व की इन्द्रिया अवश्य रहती हैं। इसलिए पचेन्द्रियों को सकलेन्द्रिय कहते हैं। द्वि इन्द्रिय, त्रि इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव "विकलेन्द्रिय" कहलाते हैं। क्योंकि इनके पास पूरी इन्द्रिया नही होती हैं। विकल यानि कम इन्द्रिया है।

सज्ञी असज्ञी की अपेक्षा भेद पचेन्द्रिय जीव सज्ञी और असज्ञी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। मन सहित सज्ञी कहलाते हैं। ये अपने हित और अहित का निर्णय करने में समर्थ रहते है तथा शिक्षा आलापादिक को समझकर उसके अर्थ को ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। असज्ञी जीव मन रहित होते हैं। उनमें शिक्षा आलापादिक को ग्रहण करने की क्षमता नहीं रहती। एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीव असज्ञी ही होते हैं तथा पचेन्द्रियों में भी कुछ पशु-पक्षी ही असज्ञी होते हैं। शेष सभी जीव सज्ञी कहलाते हैं।

1 ध पु 7/6

मन पाच इन्द्रियों के अतिरिक्त एक छठवी इन्द्रिय है मन। ये पाच इन्द्रिया तो बाह्य हैं परतु छठवी इन्द्रिय अतरग है। यह अत्यत सूक्ष्म है। मन एक ऐसी इन्द्रिय है जो सभी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण कर सकता है। इसीलिए इसे सर्वार्थग्राही इन्द्रिय कहते हैं।[1] मन को अनिन्द्रिय कहा गया है क्योंकि नाक, कानादि की तरह इसका कोई निश्चित स्थान और विषय नही है। अनिन्द्रिय का अर्थ इन्द्रिय का अभाव नही है, अपितु ईषत् इन्द्रिय है जैसे अनुदरा कन्या कहने का अर्थ बिना उदर वाली कन्या नही होता वरन् ऐसी कन्या होता है जिसका उदर गर्भ धारण करने में समर्थ नही है। उसी प्रकार चक्षु आदि के समान प्रतिनियत स्थान और विषय नही होने के कारण ही मन को अनिन्द्रिय कहा गया है। अन्य इन्द्रियों की तरह बाह्य आकार से रहित होने के कारण इसे अन्तकरण भी कहते हैं। यह सकल सकल्प विकल्पों का जाल माना गया है।

द्रव्य और भाव के भेद से मन के भी दो भेद हो जाते हैं। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्यमन को अष्ट पाखुडी वाले कमल के आकार का हृदय में अवस्थित पौद्गालिक पिण्ड माना गया है। इसके ही आधार पर जीव सोच-विचार कर सकता है तथा विचारणात्मक मन को भाव मन कहा गया है।

गतियो की अपेक्षा जीव के भेद—गतियों की अपेक्षा जीवों के चार भेद हैं। गतिया चार है। नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति। नरक गति के जीव "नारकी" कहलाते है। वे अत्यत क्रूर स्वभाव वाले, अत्यत विकराल और भयानक आकृति युक्त होते हैं। प्राय एक दूसरे से लडते रहते है। एक-दूसरे को मारने काटने में ही ये सुख मानते हैं। नारकियो का आवास इस पृथ्वी के नीचे पाताल लोक में माना गया है। मनुष्यों के अतरिक्त सभी स्थावर, एव त्रस जीवो की सृष्टि तिर्यच कहलाती है। पशु-पक्षी तो तिर्यंच है ही, क्षुद्र कीट-पतगे एव पृथ्वी से वनस्पति पर्यन्त सर्वस्थावर जीव भी तिर्यंच कहलाते हैं। मनुष्य तो हम लोग प्रत्यक्ष हैं ही। देव नारकियों से बिल्कुल विपरीत होते हैं। अर्थात् ये अत्यत सौम्य स्वभाव वाले तथा सुदर व मनोहर आकृति वाले होते हैं। इनका जीवन सादा विनोद और विलास में व्यतीत होता है। ये पृथ्वी से ऊपर ऊर्ध्व लोक मे रहते है। देवो के आवास को स्वर्ग कहते है। मनुष्यो और तिर्यचो की तरह देवों और नारकियों का शरीर चर्म और हड्डियो से युक्त नही होता, अपितु विशेष प्रकार का होता है। इनके शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं। ये अपनी इच्छानुसार अपने शरीर को छोटा, बडा, हल्का, भारी, एक या अनेक रूपो वाला बना सकते है। चार गतियो का यह सक्षिप्त परिचय है। इसकी विस्तृत जानकारी आगम ग्रन्थों से प्राप्त करनी चाहिए।

देव, मनुष्य और नारकी पचेन्द्रिय और सज्ञी ही होते हैं। तिर्यंच गति मे एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीव असज्ञी ही होते हैं तथा पचेन्द्रियों मे कुछ पशु-पक्षी सज्ञी और कुछ असज्ञी दोनों होते हैं। यही सकल ससारी जीवों का भेद है।

---

1 सर्वार्थ ग्रहण मन प्रमाण मीमासा 1 1 24

जीव के शरीर

जैन दर्शन में पांच प्रकार के शरीर माने गए हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण।

औदारिक : मनुष्य और तिर्यंचों के बाहर दिखाई पड़ने वाले स्थूल शरीर को 'औदारिक' शरीर कहते हैं। अत्यंत स्थूल होने के कारण यह औदारिक कहलाता है।

वैक्रियिक—छोटा, बड़ा, एक, अनेक आदि अनेक रूप बनाने को विक्रिया कहते हैं। विक्रिया से उत्पन्न होने के कारण इसे वैक्रियिक कहते हैं। यह देव और नारकियों के होता है तथा किन्हीं विशिष्ट तपस्वी मुनियों को भी तप के प्रभाव से यह प्राप्त होता है। यद्यपि यह स्थूलता का उल्लंघन नहीं करता फिर भी औदारिक शरीर की अपेक्षा इसे सूक्ष्म कहा गया है।

आहारक—जैन मान्यता के अनुसार जब किसी विशिष्ट ऋद्धि सम्पन्न मुनि के मन में कोई शंका या अन्य विकल्प उत्पन्न होता है तब उनके मस्तिष्क से पुरुषाकार शुभ्र आकृति वाला पुतला निकलता है और अपने अभीष्ट स्थान तक जाकर समाधान पाकर लौट आता है इसे 'आहारक' शरीर कहते हैं। यह विरले संयमियों को ही प्राप्त होता है तथा वज्र पटलादिक से भी व्याघात को प्राप्त नहीं होता, इसीलिए इसे अव्याघाती भी कहते हैं। वैक्रियिक शरीर की अपेक्षा यह और सूक्ष्म होता है।

तैजस शरीर—औदारिक और वैक्रियिक शरीर में कांति और प्रकाश उत्पन्न करने वाले शरीर को 'तैजस' शरीर कहते हैं। तेज शब्द अग्नि के अर्थ में प्रयुक्त है। पंच महाभूतों में अग्नि को तेज कहा गया है। तैजस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही है। यह अनिःसरणात्मक और निःसरणात्मक के भेद से दो प्रकार का होता है। हमारे शरीर में रक्त संचार ऊष्मा के कारण होता है। वह ऊष्मा यही अनिसरणात्मक तैजस है, तथा जिस जठराग्नि के माध्यम से पेट का भोजन पकता है वह भी इसी अनिसरणात्मक तैजस का कार्य है।[1]

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में हम इसे इलैक्ट्रिकल बॉडी भी कह सकते हैं।

---

1 (अ) तैजसमन्तस्तेज. शरीरोष्मा यतोभुक्तान्नादिपाको भवति।

न्याय कुमुद चंद्र 7/6 पृ. 852

(ब) इहोष्माभाव लक्षण तेज सर्व प्राणिणामाहार पाचकम्।

त. भा. हरिभद्र सूरि 2-50

(स) ज तमर्मणि स्मिरणप्पय नजइयसरीर त भुत्तण्णपाणपाचय होदुण अच्छदि अतो।

ध. पु. 14/328

समुद्रों में कुछ ऐसी मछलियां भी पायी जाती हैं जिनके सम्पर्क में आने से हमारे शरीर को झटका (SHOCK) लगता है। इन सब बातों से इसका अस्तित्व सिद्ध होता है।[1]

निःसरणात्मक तैजस शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है:—

शुभ तैजस : विश्व क्षेम की भावना से अनुप्राणित संयम के निधान तपस्वी निर्ग्रंथ मुनि के दायें स्कन्ध से निकलकर बारह योजन तक फैले महामारी, रोग, दुर्भिक्ष, दावानल आदि को शांत कर सुख और शांति स्थापित करता है। यह सौम्य आकृति और शुभ्र वर्ण का होता है।

अशुभ तैजस : सिंदूरी वर्ण और बिलाव की आकृति वाला अशुभ तैजस उग्र परिणामी मुनि के बायें कंधे से निकलकर बारह योजन तक के क्षेत्र में स्थित अपने बैरी को भस्म कर डालता है तथा अधिक देर ठहरने पर स्वयं भी (मुनि का शरीर) भस्म हो जाता है।[2]

अनिसरणात्मक तैजस शरीर सभी संसारी जीवों को होता है। यह दीवाल, पर्वत एवं वज्र पटलादिक से प्रतिघात को प्राप्त नहीं होता। इसीलिए इसे अप्रतिघाति कहते हैं। यह औदारिकादि तीनों शरीरों से सूक्ष्म होता है।

कार्मण शरीर : अष्ट कर्मों के समूह रूप शरीर को कार्मण शरीर कहते हैं। यह जीव के समस्त कर्मों का प्ररोहक तथा उत्पादक है। सभी दर्शनों में इसे सूक्ष्म शरीर माना गया है। यह समस्त सुख-दुःखों का बीज है। यद्यपि यह शरीर दिखाई नहीं देता किंतु इसके बिना औदारिकादि शरीर भी टिक नहीं पाते। मृत्यु के समय यह बाहर का स्थूल शरीर ही छूटता है परंतु यह कार्मण शरीर नहीं छूटता। यह जन्म-जन्मांतरों से जीव के साथ चला आ रहा है। तैजस और कार्मण शरीर का जीव के साथ अनादि संबंध है। जब जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों को नष्ट करता है तभी यह कार्मण शरीर अपना साथ छोड़ता है। वस्तुतः कार्मण वर्गणाओं का जीव से पृथक हो जाना ही कर्मों का विनाश है। मनुष्य के सारे संस्कार इस कार्मण शरीर से ही प्रेरित हैं। इसे संस्कार शरीर भी कहा जाता है।

देहांतर गमन की प्रक्रिया : मृत्यु के बाद जैसे हमारे कर्म संस्कार रहते हैं वैसी ही हमें गति मिलती है। उस समय यह स्थूल शरीर यहीं छूट जाता है। जीवात्मा कार्मण शरीर के सहारे ही अगली योनि तक जाता है। नवीन शरीर धारण करने के लिए होने वाली इस गति को विग्रह गति कहते हैं। जिस प्रकार हवाई जहाज अपने वायु पथ से जाता है उसी प्रकार देहांतर के प्रतिगमन करने वाला जीव भी अपने पथ से ही जाता है। वह आड़ा, तिरछा नहीं जाता अपितु बिल्कुल सीधा जाता है। कपड़े में रहने वाले ताना-बाना की तरह संपूर्ण आकाश में ऊपर-नीचे चारों दिशाओं में इसके सूक्ष्म पथ बने हुए हैं, इसे अनुश्रेणी कहते हैं। इनसे ही गुजरकर जीवात्मा अगली योनि तक पहुंचता है। देहांतर-गमन की इस प्रक्रिया में

---

1. अफ्रीका के एक इंजीनियर ने "साइंटिस्ट सीकदि सोल" नामक लेख लिखा है जिसके अनुसार प्रत्येक प्राणी के शरीर में एक निश्चित परिमाण में विद्युत् शक्ति होती है। मनुष्य के शरीर में लगभग 500 वोल्ट विद्युत् होती है। मृत्यु के समय वह विद्युत निकल जाती है। इससे जैन दर्शन में माने गए तैजस शरीर की सिद्धि होती है।

   —जैन दर्शन के विज्ञान सम्मत कतिपय सिद्धांत डॉ. कंछेदी लाल जैन, मक्खन लाल स्मृति ग्रंथ पृष्ठ 328

2. त. वा. 2/99/8.2/419।

उसे अधिक-से-अधिक तीन बार मुड़ना पड़ता है तथा अधिकतम चार समय में वह अपनी अगली योनि में पहुंच जाता है।

शरीर निर्माण का क्रम—योनि स्थान में प्रवेश करते ही यह जीव वहां अपने शरीर-निर्माण के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण/आहार कर अपने शरीर-निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ कर देता है। इस प्रक्रिया में वह सर्वप्रथम कुछ विशिष्ट प्रकार की शक्तियां इन वर्गणाओं के बल से प्राप्त करता है, इन्हें पर्याप्ति कहते हैं। तत्पश्चात् वह क्रमशः शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास भाषा और मन का निर्माण करता है। इस कार्य में उसे ज्यादा समय नहीं लगता अपितु अंतर्मुहूर्त (कुछ मिनिट) में वह उपरोक्त छहों कार्य पूर्ण कर लेता है। इनका प्रारंभ तो वह एक साथ करता है किंतु पूर्णता क्रमशः होती है, जोकि अंतर्मुहूर्त के भीतर हो जाती है। पर्याप्तियों को पूरी करने पर वह अपने शरीर के निर्माण में समर्थ हो जाता है।

जिन जीवों की पर्याप्तियां पूरी हो जाती हैं वे पर्याप्तक कहलाते हैं तथा कुछ ऐसे भी जीव हैं जो शरीर-निर्माण की क्रिया प्रारंभ तो करते हैं किन्तु वे पर्याप्ति रूप शक्तियों को पूर्ण नहीं कर पाने के कारण अपने शरीर को विकसित नहीं कर पाते, उन्हें अपर्याप्तक कहते हैं। इन पर्याप्तियों के बल से ही जीव जीवन-पर्यंत आहारादि वर्गणाओं को ग्रहण कर उनका उपयोग करने में समर्थ हो पाता है। प्रति समय आने वाले पुद्‌गल परमाणुओं को वह इसी के द्वारा आहार, शरीर, इंद्रिय आदि रूप परिणमाता है।

जन्म

जैन धर्म में दो प्रकार का जन्म माना गया है—पहला एक गति से दूसरी गति में जाने पर उत्पत्ति का जो प्रथम समय है, वह जन्म है तथा दूसरा जन्म योनि निष्क्रमण रूप/जब जीव गर्भ से निकलता है तब। योनि निष्क्रमण रूप जन्म के तीन भेद हैं—उपपाद, गर्भ और सम्मूर्च्छन।

उपपाद (INSTANTANCOUS RISE)—उत्पन्न होते ही चलने-फिरने को उपपाद कहते हैं। देवों और नारकियों का जन्म इसी रीति से होता है इसीलिए इन्हें औपपादिक भी कहते हैं। वे उत्पन्न होने के कुछ ही क्षणों में (अंतर्मुहूर्त) अपने शरीर का निर्माण कर लेते हैं। उनकी अवस्था सोलह वर्षीय किशोर की तरह होती है।

गर्भ (UTERINE BIRTH)—माता के उदर में रज और वीर्य के संयोग से जो जन्म होता है उसे गर्भ जन्म कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—जरायुज, अंडज और पोत।

जरायुज (UMBILICAL) BIRTH IN A YALK SACK)—जन्म के समय जिनके शरीर पर जाल की तरह का आवरण रहता है, उन्हें जरायुज कहते हैं। मनुष्य, गाय आदि पशु ये सब जरायुज ही हैं क्योंकि इनका जन्म इसी तरह होता है।

अंडज (INCUBATORY)—अंडों से उत्पन्न होने वाले जीवों को अंडज कहते हैं।

पोत (UNUMBILICAL)—BIRTH WITHOUT ANY SACK—जो योनि से निकलते ही चलने-फिरने लगते हैं वे पोत कहलाते हैं। इनके शरीर पर जाल की तरह का कोई आवरण नहीं रहता है। हिरण, कंगारू, सिंह आदि इसी तरह जन्म धारण करते हैं।

इन तीनों प्रकार के जन्म में रज और वीर्य के संयोग की अनिवार्यता है। उसके बिना इनकी उत्पत्ति नहीं होती। आज जो टेस्ट ट्यूब बेबी कहलाती है वह भी इसी जन्म के अतर्गत ही आती है। अंतर मात्र इतना है कि उसमें कृत्रिम तरीके से पोषण किया जाता है।

सम्मूर्च्छन (SPONTANEOUS GENERATION) – ऊपर-नीचे, आगे-पीछे सब ओर से पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण कर अपने शरीर का निर्माण करने वाले जीव सम्मूर्च्छन कहलाते हैं। इसमें माता-पिता के रज वीर्य के संयोग की अपेक्षा नहीं होती। शरीर विकास की सारी सामग्री वातावरण से ग्रहण करते हैं। सभी प्रकार के पेड़-पौधे, शेष एकेंद्रिय तथा द्विइंद्रियादि कीड़े-मकोड़े इसी जन्म वाले होते हैं। चींटियों के जो अंडे देखे जाते हैं वह भी सम्मूर्च्छन ही हैं क्योंकि वे रज वीर्य के संयोग से उत्पन्न नहीं होते।

इस प्रकार इस अध्याय में हमने जाना कि जीव उपयोगवान अमूर्त है, अपने परिणामों का कर्त्ता और भोक्ता है। शरीर प्रमाण आकार वाला है। संसारी और सिद्ध है साथ ही ऊर्ध्वगति स्वभाव वाला है। एक जीव दूसरी गति में कैसे जाता है। मृत्यु के बाद जीव के स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों के रूप को तथा जीव के देहांतर गमन की प्रक्रिया और उसके जन्म को समझा। अब अगले अध्याय में पुद्गलादि अजीव द्रव्यों का कथन करेंगे।

'समझदारों का पागलपन'

यह सत्य है कि विज्ञान ने दिक् और काल पर विजय प्राप्त कर ली है। वैज्ञानिक तकनीक ने मनुष्य को चंद्रमा पर पहुंचा दिया है। विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में परमाणु की असीम शक्ति दी है। जिससे भौतिकता के मामले में मनुष्य अत्यंत समृद्ध हो गया है। परंतु आत्मिकता और आत्मीयता के क्षेत्र में वह अत्यंत विपन्न हो गया है। उसकी महात्वाकांक्षा ने उसे भीतर से तोड़ कर रख दिया है। किसी विचारक ने ठीक ही लिखा है,"मनुष्य जो बनना चाहता है और जो है उसके बीच विनाशकारी असंतुलन है।" यह विरोध हमारी अशांति का कारण है। हम बात समझदार व्यक्तियों की तरह करते हैं और व्यवहार पागलों की तरह से। मनुष्य ने बाह्य पदार्थ तो अंत तक जान लिया है परंतु उसे अपने अंतर का अपने आपका कोई ज्ञान नहीं है। वह अपने सामने ही दीन-हीन हो गया है, वह अपने आपसे टूट गया है। आत्म अज्ञान के कारण कहीं शरण नहीं मिल सकती है। भगवान महावीर के अनुसार बाहर की कोई भी वस्तु धरा-धाम, धन-संपत्ति, स्त्री, पुत्र, कोई हमारे शरण नहीं हो सकते। मनुष्य मात्र आत्मा में, धर्म में शरण पा सकता है।

अजीव तत्व

- पुद्गल द्रव्य
- परमाणु
- स्कध
- स्कधो के भेद
- स्कधोत्पत्ति का कारण
- तत्व मूलत एक ही है
- पुद्गल की पर्याय
- धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य
- आकाश द्रव्य
- काल द्रव्य
- काल चक्र
- पचास्तिकाय

अजीव तत्व

पुद्गल द्रव्य

यह एक अचेतन और मूर्त द्रव्य है। अन्य दर्शनों में यह भूत तथा आधुनिक विज्ञान में इसे मैटर (Matter) अथवा एनर्जी (Energy) के नाम से जाना जाता है। 'पुद्गल' शब्द बहुत अर्थपूर्ण है, यह जैन दर्शन का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। यह 'पुद' और 'गल' के योग से बना है। 'पुद' का अर्थ होता है—पूर्ण होना, मिलना/जुड़ना; 'गल' का अर्थ होता है—गलना /हटना/टूटना। पुद्गल परमाणु स्कंध अवस्था में परस्पर मिलकर अलग-अलग होते रहते हैं तथा अलग-अलग होकर मिलते-जुड़ते रहते हैं। इनमें टूट-फूट होती रहती है। इस टूटने और जुड़ने को विज्ञान की भाषा में फ्यूजन एण्ड फिजन (Fusion and Fission) कह सकते हैं। पूरण-गलन स्वभावी होने से इसकी 'पुद्गल' यह सार्थक संज्ञा है।[1]

जगत् में जो कुछ भी हमारे छूने, चखने, देखने या सूंघने में आता है वह सब यह पौद्गलिक पिण्ड ही है। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इसके विशेष गुण हैं,[2] इसलिए इसे रूपी या मूर्तिक कहा जाता है, रूपित्व इसका लक्षण है। जगत् में ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है जिसमें स्पर्श, रसादि गुण न पाये जाते हों। छह द्रव्यों में यही एकमात्र रूपी द्रव्य है,[3] शेष पाच अरूपी हैं। यह मूलतः परमाणु रूप है अन्य परमाणुओं से संयुक्त हो जाने के कारण यह स्कंध रूप भी हो जाता है।

परमाणु

पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु है। यह पुद्गल की स्वाभाविक अवस्था है तथा यह पुद्गल का अविभाज्य और अंतिम अंग है। इसके बाद इसका कोई और टुकड़ा नहीं किया जा सकता। जैसे किसी बिंदु का कोई ओर-छोर नहीं होता, वैसे ही परमाणु का कोई आदि और अंत बिंदु नहीं है। इसका आदि, मध्य और अंत यह स्वयं है।[4] इसका यह अर्थ नहीं है कि वह निराकार है अपितु परमाणु प्रमाण ही उसका आकार है। जगत् का कोई भी पदार्थ निराकार नहीं है।
आज भौतिक विज्ञान जिसे परमाणु मानता है, जैन दृष्टि से वह अनन्त परमाणुओं का पुंज है।

1 त.वा. 5/1/24, पृ 211
2 स्पर्श रस गध वर्ण वतः पुद्गलाः, त. सू. 5/23
3 रूपिणः पुद्गलाः, त. सू. 5/5
4 नियमसार गाथा 36

क्योंकि उसमें इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूटॉन, पॉजिट्रान आदि कण पाए गए हैं। अब तो उसमें मेशॉन, क्वार्क आदि कण भी देखे गए हैं तथा अभी और भी अन्य कण देखे जाने की सभावना है। जैन दृष्टि से परमाणु में और कोई विभाग कण या भेद सभव नही है। यह उसकी अतिम इकाई है। इसे अविभागी कहा गया है, अत्यत सूक्ष्म होने से यह किसी भी इद्रिय या यत्र के द्वारा देखा भी नही जा सकता। इस बात की पुष्टि पिल्ले विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जॉन भी करते हैं, वे कहते हैं—"हम परमाणु को नही देख सकते यदि आज के सूक्ष्मदर्शी यत्रों से लाख गुणा सूक्ष्म यत्र भी बना लिए जाए तो भी उसे देख पाना असभव है।" उन्ही के शब्दों में "We can not see atoms either and never shell be able to Even if they were a million times bigger, it would still be impossible to see them even with the most powerfull micro-scope that has been made "[1]

परमाणु, स्कधों का अतिम रूप है।[2] यद्यपि परमाणु शाश्वत होने से नित्य है। फिर भी उसकी उत्पत्ति स्कधों के टूटने से होती है अर्थात् अनेक परमाणुओ का पिड रूप स्कध जब एक-दूसरे से विघटित होकर टूटते हैं, तब उसके अतिम रूप परमाणु की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से परमाणु की उत्पत्ति भी मानी गई है। यह एक प्रदेशी होता है।[3] प्रदेश आकाश की सूक्ष्मतम इकाई है। आकाश के जितने हिस्से को एक पुद्गल परमाणु घेरता है, वह प्रदेश कहलाता है।[4] प्रत्येक पुद्गल परमाणु में स्निग्ध, रुक्ष तथा शीत और ऊष्ण रूप चार में कोई दो स्पर्श, खट्टा, मीठा, कडवा, कसैला और तिक्त रूप पाच रस मे कोई एक रस, काला, पीला, लाल सफेद और नीला इन पाच रगों में से कोई एक रग तथा सुगध या दुर्गध में से कोई एक गध अनिवार्य रूप से पाए जाते हैं।[5]

स्कंध

दो आदि अनेक परमाणुओ के योग से बनी पुद्गल परमाणु की सयुक्त पर्याय स्कध कहलाती है। हमारी दृष्टि पथ में आने वाले समस्त पदार्थ पौद्गालिक स्कध ही है। यह दो, तीन आदि सख्यात, असख्यात और अनत प्रदेशी होता है।[6] पुद्गल मे विशेष प्रकार की परिणमन क्षमता रहती है, जिसके बल पर यह अपना सूक्ष्म परिणमन भी कर नेता है। आकाश के एक प्रदेश में ही एक को आदि लेकर सख्यात, असख्यात और अनत पुद्गल परमाणु स्वतत्र रूप से या स्कध रूप में भी रह सकते हैं।[7] हम देखते भी हैं कि दूध से लबालब भरे गिलास में शक्कर आदि ठोस पदार्थ डालने पर वह भी उसमे समा जाता है अथवा बिजली के ठोस तार में भी विद्युत

1 An out line for boys Girls and their parents, (Collaucery) section Chemistry Page 261
2 प का 77
3 नाणो त सू 5/11
4 द्र स 27
5 प. का. 82
6 त सू 5/10
7 सर्वा सि. पृ 212

प्रवाहित हो जाती है। यह सब पुद्‌गल के सूक्ष्म परिणमन क्षमता के उदाहरण हैं। अपने इसी सूक्ष्म परिणमन क्षमता के कारण एक प्रदेश में ही अनेक परमाणु अवगाहित हो जाते हैं।[1]

स्कंधों के भेद

स्कंधों की स्थूलता और सूक्ष्मता की अपेक्षा इनके छह भेद किये गये हैं[2]—

1. **स्थूल-स्थूल** : जो पदार्थ छिन्न-भिन्न करने पर अपने आप नहीं जुड़ सकते हों तथा जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक आसानी से ले जाया जा सकता है। जैसे—पत्थर, लकड़ी, धातु आदि ठोस पदार्थ (Solid Things)।

2. **स्थूल** : जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकता है किंतु छिन्न-भिन्न करने पर जो स्वयं जुड़ जाते हैं। जैसे दूध, पानी, तेल आदि तरल पदार्थ। (Liquid Things)

3. **स्थूल-सूक्ष्म** : जो नेत्रेंद्रिय के द्वारा देखी जा सकें किंतु पकड़ में न आ सके, जैसे छाया, प्रकाश आदि। चूंकि ये दिखते हैं इसीलिए स्थूल हैं तथा पकड़ में न आने के कारण इन्हें सूक्ष्म कहते हैं। (Solid Fine Things)

4. **सूक्ष्म-स्थूल** : जो आंखों से तो नहीं दिखते हों किंतु शेषेन्द्रियों के द्वारा जो अनुभव किये जाते हैं। जैसे—हवा, गंध, रस शब्द आदि। (Fine Solid Things)

5. **सूक्ष्म** : जो किसी भी इन्द्रिय का विषय न बने। जैसे कार्मण-स्कंध/चुंबकीय विद्युत् किरणों को भी इसमें गर्भित कर सकते हैं। (Fine Matter)

6. **सूक्ष्म-सूक्ष्म** : अत्यंत सूक्ष्म द्वयणुक स्कंध को सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कंध कहते हैं। यह स्कंधों की अंतिम इकाई है। (Very Fine Matter)

ये छहों भेद स्कंधों की स्थूलता और सूक्ष्मता की तरतमता की अपेक्षा किए गए हैं। जिनका दो बार उल्लेख है वे उसके उत्कृष्टता के प्रतीक है तथा मध्यम अंश दर्शाने के लिये

---

1 **परमाणुओं का समासीकरण**—पदार्थ की सूक्ष्म परिणति के सबध में वैज्ञानिकों की पहुच इस पराकाष्ठा तक तो नही हुई है किंतु आये दिन ऐसे निविड़/सघन पदार्थों का पता चल रहा है, जो परमाणुओं की सूक्ष्म परिणति के विषय मे जैन दार्शनिकों द्वारा कही गई बातों की पुष्टि करते हैं। साधारणत: इस पृथ्वी पर सोना, पारा, शीशा व प्लेटीनम भारी पदार्थ माने जाते हैं। एक इस्क्वायर इच काठ के टुकड़े में और उतने ही बड़े लोहे के टुकड़े में भार का कितना अतर है, यह स्पष्ट है। इसका एकमात्र कारण परमाणुओं की निविड़ता सघनता है। जितने आकाश खड को काष्ठ के थोड़े से परमाणुओं ने घेर लिया उतने ही आकाश खण्ड में अधिकाधिक परमाणु एकत्रित होकर खनिज पदार्थ के रूप में रह जाते हैं। इस आकाश में ऐसे भी ग्रह पिण्ड देखे गए हैं जो प्लेटीनम से दो हजार गुना सघन हैं। ऐसे ग्रह पिण्डों की सघनता का वर्णन एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक इन शब्दों में करते हैं' "इन आकाशीय पिण्डों में से कुछ एक में पदार्थ इतनी सघनता से भरा है कि एक क्यूबिक इच टुकड़े में 27 मन वजन होता है। सबसे छोटा तारा जो अभी हाल में खोजा गया है उसके एक क्यूबिक इच में 16740 मन वजन होता है। 'क्या कभी कोई कल्पना भी कर सकता है कि एक क्यूबिक इच टुकड़े को उठाने में बड़े से बड़े क्रेन भी असफल रह जायेंगे? क्या कोई कल्पना कर सकता है कि एक छोटा-सा ढेला ऊपर से गिरकर बड़े से बड़े भवन को भी तोड़ सकता है?' कहा जाता है ज्येष्ठा नक्षत्र इतना भारी है कि अगूठी के एक नग जितने टुकड़े में आठ मन वजन होता है। — **जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान**

2. प. का. 76

एक बार कहा गया है। स्थूल और सूक्ष्म में जो पहले कहा गया है उसकी अधिकता है तथा बाद वाले की न्यूनता है। स्थूल सूक्ष्म रूप प्रकाशादि में स्थूलता अधिक है तथा सूक्ष्मता कम। सूक्ष्म-स्थूल शब्दादि में सूक्ष्मता अधिक है स्थूलता कम। अंग्रेजी के Positive Degree,Comparative Degree, Superlative Degree की तरह इन छह भेदों को क्रमशः स्थूलतम, स्थूलतर, स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप से भी कह सकते हैं।

स्कंधोत्पत्ति : पुद्‌गल परमाणुओं के पिण्ड रूप स्कंधों की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। भेद से अर्थात् एक दूसरे से बिछुड़कर विघटित होकर, संघात से अर्थात् एक दूसरे से जुड़कर संयोजित होकर तथा भेद संघात से अर्थात् बिछुड़कर और जुड़कर।[1]

1. **भेद से** : भेद का अर्थ होता है—टूटना, बिछुड़ना। जैसे ईंट, पत्थर आदि को तोड़ने से उनके दो या अधिक टुकड़े हो जाते हैं वैसे ही अनेक पुद्‌गलों के पिण्ड रूप किसी बड़े स्कंध के टूटने से उत्पन्न स्कंधों को 'भेद-जन्य स्कंध' कहते हैं।

2. **संघात से** : 'संघात' का अर्थ होता है—'जुड़ना'। दो या अधिक परमाणु और स्कंधों के परस्पर जुड़ने से उत्पन्न स्कंध 'संघात-जन्य स्कंध' कहते हैं।

3. **भेद-संघात से** : अर्थात् टूटकर और जुड़कर। एक ही साथ किसी स्कंध से टूटकर अन्य स्कंधों से जुड़ने से उत्पन्न 'भेद-संघातजन्य-स्कंध' कहलाते हैं। (जैसे टायर के छिद्र से निकलती हुई वायु उसी क्षण बाहर की वायु में मिल जाती है। यहां एक ही समय में भेद-संघात दोनों हैं। बाहर से निकलने वाली वायु का टायर के भीतर की वायु से 'भेद' है, तथा बाहर की वायु से 'संघात')। तीनों प्रकार के स्कंध दो को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात और अनंत अणु वाले रह सकते हैं। परमाणु की उत्पत्ति स्कंधों के विघटन अर्थात् भेद से ही होती है।

स्कंधोत्पत्ति का कारण

पुद्‌गल परमाणुओं में स्वभाव से स्निग्धता और रूक्षता होती है जिनके कारण इनका परस्पर बंध होता है।[2] परिणमनशील पुद्‌गलों के इस स्निग्ध और रूक्षत्व गुण के कारण ऐसा रासायनिक परिणमन होता है कि वे परस्पर मिलकर एक रूप हो जाते हैं। इसी से स्कंधों की उत्पत्ति होती है। इन्हें शक्त्यंश कहते हैं। (स्निग्ध का अर्थ धन विद्युत् धर्मिता तथा रूक्ष का अर्थ ऋण विद्युता धर्मिता है)। इसी स्निग्ध और रूक्ष शक्ति के कारण पुद्‌गल परमाणु परस्पर में बंधते रहते हैं। उसमें भी शर्त यह है कि जघन्य अर्थात् एक शक्त्यंश वाले परमाणु का किसी से भी बंधन नहीं होता।[3] स्निग्ध, स्निग्ध-स्निग्ध, रूक्ष तथा रूक्ष-रूक्ष एवं रूक्ष-स्निग्ध परमाणुओं का बंध तभी संभव है जब इनमें से किसी एक में दो गुण की अधिकता हो, इससे हीन या अधिक नहीं।[4] परस्पर समान शक्त्यंशों के होने पर भी इनका बंध नहीं होता।[5] समझने के लिए, दो गुण वाले परमाणुओं का सदृश या विसदृश चार गुण

1. त. सू. 5/26
2. त. सू. 5/33
3. त. सू. 5/34
4. त. सू. 5/36
5. त. सू. 5/35

वाले परमाणु के साथ तो बंध संभव है किंतु तीन या पांच शक्त्यंशों वाले परमाणु बंध को प्राप्त नहीं हो सकते। दो की अधिकता होना अनिवार्य है। बंधकाल में अधिक गुण वाले परमाणु, अल्प गुण वाले परमाणुओं को अपने रस, रंग, गंध और स्पर्श रूप परिणमा लेते हैं।[1] इसी रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा दो को आदि लेकर संख्यात असंख्यात और अनंत अणु वाले स्कंध बनते हैं।

प्रत्येक पुद्‌गल में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये चार गुण पाये जाते हैं।[2] ठंडा, गर्म, हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कठोर, मृदु आठ प्रकार के स्पर्श; खट्टा, मीठा, कड़वा, कसैला और तिक्त पाँच प्रकार के रस, काला, पीला, नीला, लाल और सफेद पाँच प्रकार के वर्ण तथा सुगंध और दुर्गंध रूप दो गंध, इस प्रकार कुल 20 पर्यायें हैं। इनमें से स्कंधों में ठण्डा, गर्म आदि आठ स्पर्शों में से अविरुद्ध कोई चार स्पर्श, पाँच वर्ण में से कोई एक वर्ण पाँच रस में से कोई एक रस तथा दो गंध में से कोई एक गंध अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। परमाणु में कठोर, मृदुपन तथा हल्का, भारीपन नहीं पाये जाने से एक काल में कोई दो ही स्पर्श पाये जाते हैं।[3]

तत्त्व मूलतः एक ही है

कुछ दार्शनिक पृथ्वी में स्पर्शादि चारों, जल में गंध रहित तीन, अग्नि में मात्र स्पर्श और

1 त सू 5/37
विशेष—जैन दर्शनकारो ने जैसे स्निग्धत्व और रूक्षत्व को बधन का कारण माना है, वैज्ञानिकों ने पदार्थ के धन-विद्युत एव ऋण-विद्युत् अर्थात् पॉजेटिव और निगेटिव इन दो स्वभावों को बधन का कारण माना है। जैन दर्शन के अनुसार जहा स्निग्ध और रूक्षत्व पदार्थ मात्र मे मिलता है वही आधुनिक विज्ञान के अनुसार धन-विद्युत् और ऋण-विद्युत् पदार्थ मात्र में मिलती है। वस्तुत जैन दर्शनकारो एव आधुनिक वैज्ञानिकों की बात में कोई फर्क नही है मात्र शब्द भेद ही है। जैन दर्शन में स्निग्ध और रूक्षत्व के नाम से तथा वैज्ञानिक उसे धन-विद्युत् और ऋण विद्युत् के नाम कहते हैं। प्रोफेसर जी आर जैन के अनुसार भी स्निग्ध और रूक्षत्व वैज्ञानिक परिभाषा मे निगेटिव और पॉजेटिव है वे लिखते है—
सर्वार्थ-सिद्धि मे पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है 'स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तोविद्युत' अर्थात् बादलों में स्निग्ध और रूक्ष गुणो के कारण विद्युत् की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्निग्ध और रूक्ष का अर्थ चिकना और खुरदरा नही है। ये दोनों वास्तव मे बहुत टेक्निकल अर्थ में प्रयुक्त हैं। जिस तरह एक अनपढ ड्राइवर बैटरी के एक तार को ठडा तथा दूसरे को गर्म कहता है (यद्यपि उनमें न कोई तार ठडा होता है न कोई गरम) और विज्ञान की भाषा में जिन्हे पॉजेटिव और निगेटिव कहा जाता है, ठीक उसी तरह जैन धर्म में स्निग्ध और रुक्ष शब्दों का प्रयोग किया जाता है। डॉ वी एन शील ने अपनी कैंब्रिज से प्रकाशित पुस्तक 'Postive Sciences of anicient Hindu' में स्पष्ट लिखा है "जैनाचार्यों को यह बात मालूम थी कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को आपस में रगड़ने से पॉजेटिव और निगेटिव विद्युत उत्पन्न की जा सकती है।" इन बातों के समक्ष इसमें कोई सदेह नही रह जाता कि स्निग्ध का अर्थ पॉजेटिव और रूक्ष का अर्थ निगेटिव विद्युत् है। देखे—तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रथ, ग्वालियर, पृ 275-76

2 स्पर्श रस गध वर्ण वतः पुद्गलाः, त. सू. 5/23

3 पुद्गल की उपर्युक्त परिभाषा के विषय में एक प्रश्न और भी उपस्थित हो सकता है, वह यह कि जैन सिद्धातकारों ने वर्ण को पाच ही प्रकार का क्यों माना, जबकि सौर वर्ण पट (Solar Spectrum) में सात वर्ण होते हैं और प्राकृतिक-अप्राकृतिक वर्ण (Natural & Pigmentory Colours) बहुत से होते हैं। इसका उत्तर यह है कि वर्ण से उनका तात्पर्य सौर वर्ण पट के वर्णों अथवा अन्य वर्णों से नही है, प्रत्युत् *

रूप तथा वायु में एकमात्र स्पर्श गुण मानते हैं। इन चारों में पृथक्-पृथक् जाति के गुण होने से चार प्रकार के पृथक्-पृथक् द्रव्य भी मानते हैं। किंतु जैन दर्शन के अनुसार ये चारों पृथक्-पृथक् जाति के द्रव्य नहीं हैं। प्रत्येक परमाणु में चारों प्रकार के गुण अनिवार्य रूप से हैं। यह तो संभव है कि किसी में कोई गुण पूर्णतः अभिव्यक्त हो तथा किसी में कोई गुण पूर्ण रूप से प्रकट न हो, किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनमें वे गुण पाए ही नहीं जाते अन्यथा सीप के पेट में पड़ने वाला जल, पार्थिव मोती न बन पाता। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन रूप वायु के मिलने से जल की उत्पत्ति न हो पाती तथा पार्थिव ईंधन से अग्नि की उत्पत्ति भी असंभव थी क्योंकि प्रत्येक परमाणु भिन्न जाति वाले हैं। वे परस्पर विरोधी कार्य नहीं कर सकते। आधुनिक विज्ञान की इस मान्यता ने जैन दर्शन मान्य परमाणु की जातीय विषयक धारणा की और पुष्टि कर दी है। पूर्व में विज्ञान ने 92 मूल तत्त्व माने थे। (मूल तत्त्व का लक्षण करते हुए बताया गया है कि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व रूप परिणत नहीं होते) किंतु धीरे-धीरे विज्ञान की यह मान्यता बदल गयी और वह 92 से घटकर एक मात्र एक तत्त्व तक पहुंच गया है। आज ऐसे अनेकों प्रयोग हो चुके हैं जिससे पारा के परमाणुओं को प्रयोग द्वारा विखंडित कर सोना बनाया गया

---

* पुद्गल के उस मूल-गुण (Fundamental Property) से है, जिसका प्रभाव हमारी आख की पुतली पर लक्षित होता है और हमारे मस्तिष्क में रक्त, पीत, कृष्ण आदि आभास कराता है। आप्टिकल सोसायटी ऑफ अमेरिका (Optical Society of America) ने वर्ण की निम्नलिखित परिभाषा दी है, "वर्ण एक व्यापक शब्द है, जो आख के कृष्ण पटल (Retina) और उससे सबद्ध शिराओं की क्रिया से उद्‌भूत आभास को सूचित करता है। रक्त, पीत, नील, श्वेत, कृष्ण इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं।"[a]

पंचवर्णों का सिद्धांत—पचवर्णों का सिद्धात इस प्रकार समझाया जा सकता है—यदी किसी वस्तु का ताप बढ़ाया जाए तो सर्वप्रथम उसमें से अदृश्य (Dark) ताप किरणें (Heat Rays) निस्सरित (Emitted) होती हैं। उसके अनतर वह रक्त वर्ण किरणे छोड़ती हैं और अधिक ताप बढ़ाने से वह पीत वर्ण किरणें छोड़ती हैं और फिर उसमें से श्वेत-वर्ण किरणें निस्सरित होती हैं। यदि उसका ताप और अधिक बढ़ाया जाये तो नील वर्ण किरणें भी उद्‌भूत हो सकती हैं। श्री मेघनाद शाह और बी. एल. श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कुछ तारे नील-श्वेत रश्मियां छोड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि उसका तापमान बहुत अधिक है। तात्पर्य यह है कि ये पाच वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण हैं जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न ताप मानों (Temperature) पर उद्‌भूत हो सकते हैं और इसलिए पुद्गल के मूलगुण (Fundamental Properties) है। वैसे जैन विचारकों ने वर्ण के अनत भेद माने हैं। हम सौर वर्ण पट के वर्णों में (Spectrum Colours) देखते हैं कि यदि रक्त से लेकर कासनी (Violet) तक तरंग-प्रमाणों (Wavelengths) की विभिन्न अवस्थितियों (Stages) की दृष्टि से विचार किया जाए तो इनके अनत होने के कारण वर्ण भी अनत प्रकार के सिद्ध होंगे, क्योंकि यदि एक प्रकाश तरंग (Light-Wave) प्रमाण (Length) में दूसरी प्रकार तरग से अनतवें भाग (Infinitesimal Amount) भी न्यूनाधिक होती है तो वे तरंगें दो विसदृश वर्णों को सूचित करती हैं। इस प्रकार जैन-दार्शनिकों की पुद्गल की परिभाषा तर्क व विज्ञान सम्मत सिद्ध होती है। —पं. चंदाबाई अभिनंदन ग्रंथ, पृ. 266-267

(a) "Colour is the general term for all Sensations, arising from the activity of retina and its attached Nervous Mechanism. It may be examplified by the errumeration of characteristic ins-tances, such as red, yellow, blue, black and white...."

(b) Some of the Stars shine with a bluish-white light which indicates that their temeratures must be very high. —M.N. Saha & B.N. Shrivastava

है। उसी तरह यूरेनियम से प्लेटिनम और शीशा आदि बनाये गए हैं। यह सब मूल तत्त्वों के एक होने पर ही संभव हो पाया है। अन्यथा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति असंभव थी। अतः आज के वैज्ञानिक युग में भिन्न जातीय परमाणुओं की चर्चा कल्पना मात्र है।

पुद्गल के पर्याय

शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत—ये सब पुद्गल के पर्याय हैं।[1]

शब्द—ध्वनि रूप परिणाम को शब्द कहते हैं। जैन दर्शन में शब्द को पुद्गल की पर्याय कहा गया है। वैशेषिक शब्द को आकाश का गुण बताकर उसे आकाश की तरह अमूर्त मानते हैं, किंतु शब्द आकाश का गुण नहीं हो सकता, क्योंकि यह मूर्त इंद्रियों का विषय है। यदि यह आकाश का गुण होता, तो आकाश की तरह व्यापक और अमूर्त होने से किसी भी इंद्रिय का विषय नहीं बन पाता। शब्द दीवार आदि प्रतिबंधक कारणों के आने पर अवरुद्ध हो जाते हैं। शब्द की तीव्र आवाज से कान के पर्दे तक फ़ट जाते हैं तथा तीव्र शब्द के आगे सूक्ष्म शब्द दब भी जाते हैं। इन कारणों से शब्द की पौद्गलिकता सिद्ध होती है। आधुनिक विज्ञान ने तो टेप, रेडियो, टेलिफोन आदि संचार माध्यमों से शब्दों का संग्रह कर यंत्रों द्वारा उसकी गति को घटा-बढ़ाकर तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाकर शब्द को भौतिक या पौद्गलिक मानने का मार्ग और सरल कर दिया है। अतः यह अमूर्तिक नहीं हो सकता। यह दो प्रकार का होता है भाषात्मक और अभाषात्मक।

अर्थ-प्रतिपादक वाणी को भाषात्मक शब्द कहते हैं। यह अक्षरात्मक और अनाक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार का होता है। संस्कृत, हिंदी आदि विविध भाषाएं अक्षरात्मक शब्द हैं तथा दो इंद्रियादि पशु-पक्षियों की भाषा अनाक्षरात्मक भाषा कहलाती है। जिह्वा, तालु, ओष्ठ, कण्ठ आदि के प्रयोग से उत्पन्न होने के कारण यह प्रायोगिक कहलाता है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और नैसर्गिक के भेद से दो प्रकार का होता है।

पुरुष प्रयत्न से उत्पन्न तत, वितत, घन, और शौषिर रूप प्रायोगिक शब्द चार प्रकार का है।[2]

तत—तबला, मृदंग, भेरी आदि में चमड़े आदि के तनाव से उत्पन्न शब्द।

वितत—तार के तनाव के कारण वीणा, सितार आदि से उत्पन्न शब्द।

घन—घंटा, घड़ियाल आदि के टकराव से समुत्पन्न शब्द।

शौषिर—शंख, बांसुरी आदि से निकलने वाला शब्द।

नैसर्गिक—मेघ-गर्जना आदि से उत्पन्न होने वाला शब्द **वैस्रसिक**/नैसर्गिक हैं क्योंकि

1. द्र. स. 16
2. सर्वा सि., पृ. 224-25

यह पुरुष प्रयत्न के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होता है ।[2]

शब्द

भाषात्मक		अभाषात्मक				
अक्षरात्मक	अनक्षरात्मक	प्रायोगिक				नैसर्गिक
संस्कृत आदि विविध भाषा	पशु-पक्षियों की भाषा	तैत तबला मृदंग	वितत वीणा सितार	घंन घंटा घड़ियाल	शौषिर शंख बॉसुरी	मेघ गर्जनादि

बंध—परस्पर एक क्षेत्रावगाह रूप सबध को बंध कहते हैं। छह द्रव्यों में पुद्गल ही परस्पर बंध को प्राप्त होते है, अन्य नहीं। यह बंध दीवार पर पुते चूने या रंग की तरह नहीं है अपितु बंध से तात्पर्य दूध और जल की तरह एक रस रूप हो जाने से है।

प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से बंध दो प्रकार का होता है। प्रायोगिक भी दो प्रकार का होता है अजीवकृत और जीवकृत। लाख, लकड़ी आदि का बध अजीव विषयक बंध है। वैस्रसिक बंध स्वाभाविक बंध है। इसमें पुरुष के प्रयत्न विशेष की आवश्यकता नहीं रहती। स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होने वाला इंद्र-धनुष, मेघ, उल्का आदि का बंध वैस्रसिक बंध के उदाहरण हैं।[1]

उल्का क्या है—इस संबंध में वैज्ञानिकों ने एक बहुत बड़ा घटनात्मक इतिहास गढ़ डाला है। जैन दर्शन के अनुसार उल्का, ताराओं का टूटना नहीं है और न ही उनकी पारस्परिक टक्कर का परिणाम है। वह तो आकाश स्थित पुद्गल स्कंधों का संघर्ष-जन्य परिणाम है। इसी तरह विविध अणुओं के संयोगिक बादल, इंद्र-धनुष आदि परिणाम है।[2]

इसी प्रकार सूक्ष्मता, स्थूलता, विविध आकृतियां, इनकी टूट-फूट, अंधकार आदि सब पुद्गल की पर्याय हैं। अंधकार भी एक वस्तु है, क्योंकि वह दिखाई देती है। अन्य दर्शनकार इसे अभाव रूप मानते हैं किंतु जैन दर्शन के अनुसार यह भी एक भावात्मक पदार्थ है। अभाव नाम की तो कोई वस्तु ही नहीं है। उसी तरह छाया, प्रतिछाया, प्रकाश और ताप आदि सब पुद्गल की ही विविध अवस्थाएं हैं।

पूर्व में विज्ञान शब्द, प्रकाश, छाया और ताप आदि को शक्ति रूप स्वीकार करता था। किंतु अब एनर्जी नाम का, मेटर से कोई पृथक् भूत पदार्थ है; उनकी यह मान्यता बदल गयी है जो कि जैन दर्शन से पूर्णतया सम्मत है। आईंसटाइन ने स्पष्ट कहा है कि शक्ति और द्रव्य कोई पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं हैं। इन्हें एक-दूसरे में बदला जा सकता है। उसी

1 सर्वा सि पृ 225
2 जैन दर्शन और आधु विज्ञान, पृ 46

तरह प्रोफेसर मेक्स बोर्न कहते हैं—"शक्ति और पदार्थ एक वस्तु विशेष के दो पृथक् नाम हैं। अब तो एनर्जी के भार भी आंके जा रहे हैं।" उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि एनर्जी और मेटर दोनों पुद्‌गल के ही नामांतर हैं। विज्ञान जिसे एनर्जी कहता है वह इन शब्दादि का ही सूक्ष्म परिणमन है।[1]

हमारा जीवन-मरण, सुख-दुःख, शरीर, वचन, श्वास आदि सारे व्यापार इस पुद्‌गल द्रव्य के ही आश्रित हैं।[2] इस प्रकार जो भी पदार्थ हमारे छूने, चखने, देखने या सूंघने में आते हैं वे सब इस पुद्‌गल द्रव्य की ही विविध अवस्थाएं हैं। इनका अपना अस्तित्व है। ये स्वप्न की तरह मिथ्या नहीं है, न ही माया की आंख मिचौनी; अपितु पुद्‌गल की संतान होने से यह सब परमार्थतः सत् है।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य

धर्म द्रव्य—यह पुण्य और पाप के अर्थ में प्रयुक्त न होकर, जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द (टेक्नीकल टर्म) है। यह एक स्वतंत्र द्रव्य है, जो गतिशील जीव और पुद्‌गल के गमन में सहकारी हैं।[3] लोकवर्ती छह द्रव्यों में जीव और पुद्‌गल में ही गतिशीलता पाई जाती है। ये एक स्थान से दूसरे स्थान को भी जाते हैं। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं।[4] इनमें हलन-चलनादि रूप क्रिया नहीं पाई जाती। धर्म द्रव्य समस्त लोकव्यापी अखंड द्रव्य है। तिल में तेल की तरह यह पूरे लोक में व्याप्त है, इसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श का आभाव होने से यह अमूर्त भी है। रेल के चलने में सहायक रेल की पटरी की तरह यह बलात् या प्रेरित कर किसी को नहीं चलाता। अपितु, चलने के इच्छुक जीव और पुद्‌गलों को चलने में साथ देता रहता है। इसलिए इसे उदासीन निमित्त कहा गया है। धर्म द्रव्य की मान्यता अन्य दर्शनों में नहीं है, किंतु आधुनिक विज्ञान इसे ईथर के रूप में स्वीकार करता है क्योंकि आधुनिक विज्ञान ईथर को अमूर्तिक, व्यापक, निष्क्रिय और अदृश्य मानने के साथ-साथ उसे गति का आवश्यक मध्यम मानता है।[5] जैन दर्शन मान्य धर्म-द्रव्य का भी यही लक्षण है।

अधर्म द्रव्य—जिस प्रकार जीव और पुद्‌गलों के चलने में धर्म-द्रव्य सहायी है, उसी तरह अधर्म द्रव्य उनके ठहरने में सहायक है।[6] धर्म द्रव्यवत् यह भी निष्क्रिय, अमूर्त और लोकव्यापी है। जैसे पृथ्वी, हाथी, घोड़ा, मनुष्यादि को जबरन नहीं ठहराती, अपितु वह ठहरना चाहे तो उसमें सहायक होती है अथवा वृक्ष चलते हुए पथिक को नहीं रोकते, पर वह स्वयं रुकना चाहे तो वह उसे अपनी छाया अवश्य देते हैं उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी किसी को जबरदस्ती नहीं रोकता अपितु पदार्थ स्वयं रुकना चाहे तो यह उनका सहायी बन जाता है।

यदि धर्म और अधर्म द्रव्य उदासीन न होकर प्रेरक होते तो धर्म और अधर्म दोनों में

1 वही, पृ 66
2 त सू 5/19-20
3 द्र स 17
4 निष्क्रियाणिच, त सू 5/17
5 The Nature of the Physical World, Page No 31
6 द्र स गा 18

द्वन्द्व छिड़ जाता। धर्म द्रव्य जीव और पुद्‌गलों को चलने के लिए प्रेरित करता तो अधर्म द्रव्य उनके पांव पकड़कर अपनी ओर खींचता रहता; बड़ी अव्यवस्था हो जाती, न तो हम चल पाते, न ही ठहर पाते, जबकि ऐसा है नहीं। इन्हें उदासीन निमित्त माना गया है। इनकी उपस्थिति में हम चलना चाहें तो धर्म द्रव्य हमारा साथ देने तैयार खड़ा है तथा यदि हम ठहरना चाहें तो अधर्म द्रव्य हमारे स्वागत में प्रतीक्षारत है।

[यद्यपि अन्य दर्शनों एवं विज्ञान ने इसे स्वीकार नहीं किया है, किंतु प्रोफेसर जी. आर. जैन ने अपनी 'कास्मोलॉजी : ओल्ड एंड न्यू' नामक पुस्तक में न्यूटन की आकर्षण शक्ति की तुलना की है। वे लिखते हैं कि "यह जैन धर्म की अधर्म द्रव्य विषयक सिद्धांत की सबसे बड़ी विजय है कि विश्व की स्थिरता के लिए विज्ञान ने अदृश्य आकर्षण शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है और प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईंस्टाइन ने उसमें कुछ सुधार करके उसे क्रियात्मक रूप दिया। अब आकर्षण सिद्धांत को सहायक कारण के रूप में माना जाता है, मूल कर्त्ता के रूप में नहीं। इसलिए अब वह जैन धर्म-विषयक अधर्म द्रव्य की मान्यता के बिल्कुल अनुरूप बैठता है।"] [1]

संसार के निर्माण के लिए पदार्थों को गति और स्थिरता के नियमों में बद्ध होना आवश्यक है। यदि धर्म द्रव्य न हो तो हम चल ही न सकेंगे और यदि अधर्म द्रव्य न हो तो हम चलते ही रहेंगे। लोक और अलोक का विभाजन भी इन दोनों द्रव्यों के कारण ही हो पाता है, क्योंकि जहां तक पदार्थ स्थित है वहीं तक लोक है तथा लोक वहीं तक है जहां तक कि पदार्थों की गति। जिस प्रकार पटरी के अभाव में क्षमता रहते हुए भी रेल पटरी की सीमा का उल्लंघन कर आगे नहीं बढ़ पाती, उसी तरह जीव और पुद्‌गल की भी वहीं तक गति और स्थिति है जहां तक कि धर्म और अधर्म द्रव्य हैं, ये इनका उल्लंघन नहीं कर सकते। आधुनिक विज्ञान भी इस बात को स्वीकारता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईंस्टाइन ने भी गति तत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है "लोक परिमित है, लोक से परे अलोक अपरिमित। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का अभाव है जो गति में सहायक होता है।"[2]

आकाश द्रव्य

यह रूपादि रहित, अमूर्त, निष्क्रिय तथा सर्वव्यापक द्रव्य है। लोकवर्ती समस्त पदार्थों को यह स्थान/अवगाह (Space) देता है तथा स्वयं भी उसमें अवगाहित होता है।[3] यद्यपि जीव और पुद्गल भी एक-दूसरे को अवगाह देते हैं किंतु उन सबका आधार आकाश ही है। यह लोक और अलोक के भेद से दो भागों में विभक्त है। आकाश के जितने हिस्से में जीवादि पाए जाते हैं, वह लोकाकाश है तथा उससे बाहर का शुद्ध आकाश अलोकाकाश कहलाता है।[4]

1. Cosmology old & New, Page No. 25-26
2. Holly Wood R & T Instruction lesson No. 2
3. द्र. स. 19
4. द्र. सं. 20

लोकाकाश लोक और आकाश इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'लोक' शब्द संस्कृत के 'लुक्' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ होता है देखना। इसका अर्थ हुआ जहां तक जीवादिक पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक है। उससे बाहर के आकाश को अलोक कहते हैं। लोक और अलोक का यह विभाग किसी दीवार की तरह नहीं है जो आकाश में भेद करती हो अपितु पूर्ण आकाश अखंड है। जीवादि पदार्थों की उपस्थिति और अनुपस्थिति के कारण यह भेद हुआ है। जैन दर्शन के अनुसार लोकाकाश संपूर्ण आकाश के मध्य भाग में दोनों पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखकर खड़े हुए मनुष्य के आकार का है। यह चौदह राजू ऊंचा और सात राजू चौड़ा है।

अधः, मध्य और ऊर्ध्व तीन विभागों में विभक्त यह लोक सब ओर से वायुदाब के दबाव से घिरा है। नीचे के (पैर की आकृति वाले) भाग में सात नरक हैं। कटिप्रदेश जहां हम सब अवस्थित हैं, उसे मर्त्यलोक या मध्यलोक कहते हैं। इससे ऊपर स्वर्ग है। लोक के अग्र भाग पर मोक्ष स्थान है जहां पहुंचकर मुक्त आत्माएं ठहर जाती हैं। गति का हेतु धर्म द्रव्य का अभाव होने के कारण इससे आगे नहीं बढ़ पातीं। (यह हम पहले पढ़ चुके हैं) वस्तुतः इसके विभाजन का कारण धर्म और अधर्म द्रव्य ही है। लोक का यह आकार धर्म और अधर्म द्रव्य के ही कारण है। जो धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का आकार है, वही लोक का आकार है।

अन्य दर्शनों ने भी आकाश को स्वीकारा है, कितु उसके लोक और अलोक रूप भेद को नहीं मानते। इसी वजह से उनके यहां धर्म और अधर्म द्रव्य की भी मान्यता नहीं है। जैन दर्शन में इन्हें माना गया है, जो कि तर्कसंगत है तथा आधुनिक विज्ञान ने भी इसके अस्तित्व पर अपनी मुहर लगा दी है।

काल द्रव्य

यह प्रत्येक पदार्थ में होने वाले परिवर्तन/परिणमन का हेतु है।[1] यही वह द्रव्य है, जिसके निमित्त से द्रव्य अपनी पुरानी अवस्था को छोड़कर प्रतिक्षण नया रूप धारण करते हैं। यह भी आकाश की तरह अमूर्त और निष्क्रिय है,[2] किंतु उसकी तरह एक और व्यापक न होकर असंख्य है, जो पूरे आकाश के प्रदेशों पर रत्नों की राशि की तरह भरे पड़े हैं। आकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं।[3] वर्तना इसका प्रमुख लक्षण है।[4] पदार्थों में परिणमन यह बलात् नहीं कराता, बल्कि इसकी उपस्थिति में पदार्थ स्वयं अपना परिणमन करते हैं। यह तो कुम्हार के चाक के नीचे रहने वाली कील की तरह है जो स्वयं नहीं चलती, न ही चाक को संचालित करती है। फिर भी कील के अभाव में चाक घूम नहीं सकता। चाक के परिभ्रमण के लिए कील का आलंबन अनिवार्य है। काल द्रव्य की यही भूमिका है। परिणमनगत इस आलंबन को वर्तना कहते हैं। यह काल द्रव्य का मुख्य लक्षण है। इसे ही निश्चय काल कहते हैं। इसके अभाव में पदार्थों का

1 द्र. स 21
2. निष्क्रियाणि च त. सू. 5/7
3 द्र. स 22
4 द्र. स 21

परिणमन नहीं हो सकता। समय, पल, घड़ी, घंटा, मिनट आदि व्यवहार काल हैं। समय काल की सूक्ष्मतम इकाई है। एक पुद्गल परमाणु को मंद गति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में जो काल लगता है, उसे समय कहते हैं।[1] नया, पुराना, बड़ा, छोटा, दूर, पास आदि का व्यवहार इस व्यवहार काल द्रव्य के ही आश्रित है। इसका अनुमान सौर मंडल एवं घड़ी आदि के माध्यम से लगाया जाता है। द्रव्यों के होने वाले परिणमन से भूत, भविष्य और वर्तमान का व्यवहार भी इसी काल के आश्रित है।

इसे सभी दर्शनकारों ने स्वीकारा है किंतु कुछ इसे अखंड और व्यापक मानते हैं, जबकि ऐसा है नहीं। यदि ऐसा होता तो भिन्न क्षेत्रों में समय भेद नहीं देखा जाता। हम देखते हैं कि भारत में होने वाले समय और अन्य देशों में होने वाले समय में भेद दिखाई पड़ता है। (भारत और लंदन के समय में 5 घंटे का फर्क है) यह काल द्रव्य की अनेकता का ही परिणाम है। यदि काल द्रव्य एक होता तो सर्वत्र एक ही समय प्रवर्तित रहता।

कुछ दार्शनिक निश्चयकाल को अस्वीकारते हुए मात्र व्यवहार काल को स्वीकारते हैं, किंतु व्यवहार काल से ही निश्चय काल का अनुमान किया जाता है। जैसे किसी बालक में शेर का उपचार मुख्य शेर के सद्भाव में ही किया जाता है। उपचरित शेर वास्तविक शेर का परिचायक होता है, वैसे ही काल संबंधी समस्त व्यवहार मुख्य काल के अभाव में नहीं हो सकते।

कालचक्र

व्यवहार काल की समष्टि ही युगों और कल्पों में समाविष्ट हो जाती है, जिस प्रकार वैदिक धर्मों में काल के सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलयुग रूप से चार भेद किए हैं। इन चारों युगों की कल्पना धर्म की हानि वृद्धि के आधार पर की जाती है और की यह युग करोड़ों वर्ष का होता है। धर्म की हानि वृद्धि के आधार पर कालचक्र का वर्गीकरण किया गया है।

उसी प्रकार जैन दर्शन में काल दो विभागों में विभक्त है। जिस प्रकार गाड़ी का पहिया ऊपर से नीचे की ओर तथा नीचे से ऊपर की ओर घूमता रहता है। जैन दर्शनकारों ने काल को उसी तरह दो विभागों में विभाजित किया है। एक नीचे से ऊपर की ओर जाने वाला अर्थात् दुःख से सुख की ओर जाने वाला। दूसरा ऊपर से नीचे की ओर जाने वाला अर्थात् सुख से दुःख की ओर जाने वाला। कालचक्र पहिये की तरह ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर की ओर घूमता रहता है अर्थात् सारी समष्टि सुख से दुःख की ओर तथा दुःख से सुख की ओर घूमती रहती है। नीचे से ऊपर आने वाले काल खंड को उत्सर्पिणी काल कहते हैं, क्योंकि इसमें बुद्धि, आयु, बल और शरीर की ऊंचाई आदि में क्रमशः उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है। ऊपर से नीचे की ओर जाने वाला अवसर्पिणी काल कहलाता है, क्योंकि इसमें आयु, बुद्धि, बल का अवसर्पण अर्थात् ह्रास होता है। अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी दोनों को मिलाने पर कालचक्र पूरा होता है। ये दोनों मिलकर कल्प कहलाते हैं।

1. नि. सा., पृ. 31

इसी को युग भी कह सकते हैं।

इन दोनों कालों में सुख, दुःख, शरीर की ऊंचाई, आयु आदि में हीनाधिकता होती रहती है। अतः उनकी तरतमता की दृष्टि से दोनों के छह-छह भेद किए गए हैं। इस प्रकार पूरा युग अर्थात् कालचक्र बारह विभागो में विभाजित हो जाता है। उत्सर्पिणी काल चूंकि दुःख से सुख की ओर बढ़ता है। अतः उसके छह भेद हैं क्रमशः—

1. दुःखमा-दुःखमा 2. दुःखमा 3. दुःखमा-सुखमा 4. सुखमा-दुःखमा 5. सुखमा 6. सुखमा-सुखमा।

अवसर्पिणी नामक काल ठीक इसके विपरीत है। यह सुख से दुःख की ओर जाता है अतः उसके छह विभाग हैं—

1. सुखमा-सुखमा 2. सुखमा 3. सुखमा-दुःखमा 4. दुःखमा-सुखमा 5. दुःखमा 6. दुःखमा-दुःखमा।

इन छह कालों में जिनका दो बार उल्लेख है, वह सुख अथवा दुःख की उत्कृष्टता का प्रतीक है। एक बार कहना मध्यम अंश है तथा जो शब्द पहले हैं, उस काल में उसकी अधिकता होती है अर्थात् सुखमा-दुःखमा काल में सुख की अधिकता तथा दुःख की न्यूनता होती है तथा दुःखमा-सुखमा में दुःख की अधिकता के साथ सुख की न्यूनता होती है।

1. सुखमा-सुखमा—इस काल में सुख ही सुख होता है। यह काल भोग-प्रधान होता है। मनुष्यों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता है। सारी आवश्यकताओं की पूर्ति प्राकृतिक कल्प-वृक्षों से होती है। इस काल में नर-नारी युगल रूप से जन्म लेते हैं तथा अपने जीवन के अंत काल में युगल पुत्र-पुत्रियों को जन्म देकर स्वर्गवासी हो जाते हैं। इनकी आयु एवं शरीर की ऊंचाई काफी अधिक रहती है।

2. सुखमा—सुखमा-सुखमा काल की तरह यह काल भी भोग-प्रधान होता है। इस काल में भी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कल्प-वृक्षों से ही होती है। नर-नारी युगल रूप मे रहते हैं किंतु इनके सुख, आयु और शरीर की ऊंचाई मे पूर्व की अपेक्षा कुछ कमी हो जाती है।

3. सुखमा-दुःखमा—यह भी भोग-युग कहलाता है। पूर्व की तरह नर-नारी युगल रूप से ही जन्म लेते हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति कल्प-वृक्षों मे होती रहती है किंतु पूर्व की अपेक्षा इनके सुखों में और कमी आ जाती है। शरीर की ऊंचाई तथा आयु भी घटकर कम हो जाती है। ये तीनों काल भोग काल कहलाते हैं। इस काल में मनुष्यों को खेती-बाड़ी आदि कर्म नहीं करना पड़ता है। जीवन का प्रमुख आधार प्राकृतिक कल्प-वृक्ष ही होते हैं। इस युग में न धर्म होता है, न अधर्म।

4. दुःखमा-सुखमा—इस काल में प्राकृतिक संपदाएं प्रायः लुप्त हो जाती हैं। मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति/जीवन-निर्वाह के लिए खेती आदि कर्म करने पड़ते हैं। इसलिए इस युग से कर्म युग प्रारंभ हो जाता है। नर-नारी अब युगल रूप से जन्म नहीं लेते, न ही कल्प-वृक्षों से आवश्यकताओं की पूर्ति हो पाती है। इस हेतु मनुष्यों को कुछ कर्म करना पड़ता है। इसी काल से ही विवाह आदि कार्य प्रारंभ हो जाते हैं, समाज व्यवस्था बनती है तथा राज्य के संचालन के लिए राजा-महाराजा भी बनते हैं। यद्यपि कर्म करने से

कुछ कष्ट होता है फिर भी अल्प परिश्रम मे ही अधिक फल की प्राप्ति होने लगती है। इस काल में प्राकृतिक आपदाएं नहीं आतीं। इसी काल में क्रमशः चौबीस तीर्थंकर जन्म लेकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। मनुष्यों में धार्मिक बुद्धि उपजती है, धर्माराधन कर वे मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। दुःख की अधिकता और सुख की अल्पता होने से यह काल दुःखमा-सुखमा कहलाता है।

5. दुःखमा—यह पांचवां काल है। संप्रति यही काल है। इस काल में अधिक परिश्रम करना पड़ता है, आवश्यकताएं बढ़ जाती हैं, उपज कम होती है, प्राकृतिक आपदाएं भी आने लगती हैं। इस काल में मनुष्य भोगी-विलासी होने लगता है। धर्म की हानि होने लगती है। तीर्थंकरादि महापुरुषों का जन्म नहीं होता, न ही विशिष्ट ऋद्धि-संपन्न मुनि, तपस्वी ही होते हैं। फिर भी कुछ न कुछ धर्म तो बना ही रहता है।

6. दुःखमा-दुःखमा—इस काल में दुःख ही दुःख होता है। प्राकृतिक उपज समाप्त हो जाती है। प्रकृति विरुद्ध हो जाती है। अग्नि का भी अभाव हो जाता है। परिणामतः मनुष्यों की प्रवृत्ति अमानुषिक हो जाती है। सर्वत्र अराजकता फैल जाती है। धर्म-कर्म पूर्णतया विलुप्त हो जाते हैं तथा अंत में सब कुछ प्रलयाग्नि में भस्म हो जाता है।

कुछ समय पश्चात् पुनः उत्पत्ति प्रारंभ होती है। उस समय व्यक्ति निर्बल और असंस्कारित रहते हैं। दुःख की बहुलता बनी रहती है। धीरे-धीरे प्रकृति अनुकूल होने लगती है। विद्या आदि का विकास होने पर सुख होने लगता है तथा आगे चलकर धर्म भी प्रकट होने लगता है। इस प्रकार दुःख से सुख की ओर जाते हुए इस काल में प्राकृतिक सुविधाओं में वृद्धि होने लगती है तथा क्रमशः सुखमा-सुखमा काल पुनः प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार यह कालचक्र कभी सुख से दुःख की ओर तथा कभी दुःख से सुख की ओर निरंतर घूमता रहता है। इस काल-चक्र के व्यूह में फंसे समस्त जीव निरंतर काल के गाल में समाते रहते हैं। धर्म के आश्रय से ही इस काल-चक्र से ऊपर उठा जा सकता है।

पंचास्तिकाय

पूर्वोक्त छह द्रव्यों में काल के अतिरिक्त शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं।[1] 'अस्ति' शब्द 'अस्तित्व' का वाची है; 'काय' का अर्थ शरीर होता है। जिन द्रव्यों में शरीर की तरह प्रदेशों की बहुलता होती है, उन्हें अस्तिकाय कहते हैं।[2] समस्त आकाश अनंत प्रदेशी है। धर्म और अधर्म द्रव्य लोक-प्रमाण और असंख्यात प्रदेशी हैं। ये तीनों एक-एक ही हैं। जीवों की संख्या अनंत है। प्रत्येक जीव लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर असंख्यात प्रदेशी है।[3] यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी हैं फिर भी यह अन्य पुद्गलाणुओं से संयुक्त होकर सदृश परिणमन भी कर लेता है। अतः यह संख्यात, असंख्यात् और अनंत प्रदेशी भी बन जाता है। इस दृष्टि से पुद्गल को भी अस्तिकाय कहते हैं।[4] कालाणु असंख्य होते हुए भी एक-दूसरे से अबद्ध रहने के कारण एक

---

1. नित्यावस्थितान्यरूपाणि, त. सू. 5
2. द्र. सं. 23
3. द्र. सं. 24
4. द्र. सं. 25

प्रदेशी कहलाते हैं। इन्हें अस्तिकाय नहीं कहा जाता।[1] जैन दर्शन में धर्म, अधर्म, आकाश तथा जीव और पुद्गल पांच द्रव्यों को पंचास्तिकाय के नाम से भी जाना जाता है।

उपर्युक्त छह द्रव्यों में से जीव और पुद्गल मे गतिशीलता भी पायी जाती है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय और शुद्ध हैं। इनका शुद्ध परिणमन ही होता है। ये एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाते हैं। शुद्ध पुद्गल तथा जीव भी शुद्ध परिणमन करते हैं किंतु पुद्गल की विशेषता यह है कि एक बार शुद्ध होने के बाद वह पुन स्कंध रूप अशुद्ध परिणमन भी कर लेता है। जीव एक बार शुद्ध होने के बाद फिर कभी अशुद्ध नहीं होता।

इन छहों द्रव्यों की संख्या में कभी भी हानि वृद्धि नहीं होती। समुद्रों मे उठने वाली लहरों की तरह प्रतिक्षण परिवर्तित रहने के बाद भी अपने अस्तित्व को नहीं खोते तथा इनके प्रदेशों में हीनाधिकता भी नहीं होती। अत- इन्हें नित्य और अवस्थित कहते हैं।[2] पुद्गल को छोड़ शेष पांच द्रव्य अरूपी/ अमूर्त हैं जीव के अतिरिक्त शेष पाच जड हैं।

इस प्रकार यह विश्व इन छह द्रव्यों मे बना है। यह अनादि निधन है। किमी के द्वारा बनाए नहीं गए हैं। इनका संचालन किमी शक्ति या पदार्थ से नहीं होता अपितु प्रत्येक द्रव्य अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाले स्वभाव से स्वय अपना परिणमन करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार यह सारी लोक व्यवस्था इन छहों द्रव्यो के ही आश्रित है।

प्रतिच्छाया और टेलिविजन

जैन शास्त्रों में छाया का वर्णन करते हुए बताया गया है—विश्व के किमी भी मूर्त्त पदार्थ से प्रतिक्षण तदाकार प्रतिछाया निकलती रहती है। और वह पदार्थ के चारों ओर आगे बढ़कर विशव में फैलती है। जहां उमे प्रभाविन करने वाले पदार्थों का संयोग होता हैं वहां वह प्रभावित होती हैं। प्रभावित करने वाले पदार्थ जैसे—दर्पण, तेल, घृत, जल आदि। विज्ञान के क्षेत्र मे जो टेलिविजन का आविष्कार हुआ है, लगता है वह इमी सिद्धांत का उदाहरण हैं। वह एक देश में बोलने वाले व्यक्ति का चित्र ममुद्रों पार दूसरे देश में व्यक्त करता हैं। हो सकता है जैसे रेडियो यंत्र गृहीत शब्दों को विद्युत प्रवाह से आगे बढ़ाकर सहस्रों मील दूर ज्यों का त्यों प्रगट करता है उसी प्रकार टेलिविजन भी प्रसारण शील प्रतिच्छाया को ग्रहण कर उसे विशेष प्रयत्नों द्वारा प्रवाहित कर सहस्रों मील दूर ज्यों का त्यों व्यक्त करता है।

जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान
पृ. क्रमांक 66

1 द्र स 261
2 त सू 5 / 4

कर्मबंध की प्रक्रिया (आस्रव बंध)

- आस्रव
- आस्रव के भेद
- आस्रव के कारण
- योग
- बध
- आस्रव बध सबध
- बध के कारण
- बध के भेद
- प्रकृति बध
- प्रदेश बध
- स्थिति बध
- अनुभाग बध

कर्म बंध की प्रक्रिया

जैन दर्शन के सात तत्त्वों में से आदि के दो तत्त्व अर्थात् जीव और अजीव तत्वों का निरूपण पिछले अध्यायों में हो चुका है। इस अध्याय में तीसरे और चौथे क्रमशः आस्रव और बंध नामक तत्त्वों की चर्चा करेंगे। यह विषय कर्म-सिद्धान्त का है। इसे आधुनिक भाषा में जैन मनोविज्ञान भी कह सकते हैं। अतः जैन-दर्शन-मान्य कर्म-सिद्धान्त का सामान्य परिचय भी इसी अध्याय में प्ररूपित करेंगे।

आस्रव

कर्मों के आगमन को 'आस्रव' कहते हैं।[1] जैसे नाली आदि के माध्यम से तालाब आदि जलाशयों में जल प्रविष्ट होता है वैसे ही कर्म-प्रवाह आत्मा में आस्रव द्वार से प्रवेश करता है। आस्रव कर्म-प्रवाह को भीतर प्रवेश देने वाला द्वार है।[2] जैन दर्शन के अनुसार यह लोक पुद्गल वर्गणाओं से ठसा-ठस भरा है। उनमें से कुछ ऐसे पुद्गल हैं जो कर्म-रूप परिणत होने की क्षमता रखते हैं, इन वर्गणाओं को कर्म वर्गणा कहते हैं।[3] जीव की मानसिक वाचनिक और कायिक प्रवृत्तियों के निमित्त से ये कार्माण-वर्गणाएं जीव की ओर आकृष्ट हो, कर्म रूप में परिणत हो जाती हैं और जीव के साथ उनका संबंध हो जाता है। कर्म वर्गणाओं का कर्म रूप में परिणत हो जाना ही आस्रव है।

जैन कर्म सिद्धांतानुसार जीवात्मा में मन, वचन और शरीर रूप तीन ऐसी शक्तियां हैं जिससे प्रत्येक संसारी प्राणी में प्रति समय एक विशेष प्रकार का प्रकंपन/परिस्पंदन होता रहता है। इस परिस्पंदन के कारण जीव के प्रत्येक प्रदेश, सागर में उठने वाली लहरों की तरह तरंगायित रहते हैं। जीव के उक्त परिस्पंदन के निमित्त से कर्म-वर्गणाएं कर्म रूप से परिणत होकर जीव के साथ संबंध को प्राप्त हो जाती हैं, इसे 'योग' कहते हैं।[4] यह योग ही हमें कर्मों से जोड़ता है, इसलिए 'योग' यह इसकी सार्थक संज्ञा है। योग को ही 'आस्रव' कहते हैं।[5] 'आस्रव' का शाब्दिक अर्थ है 'सब ओर से आना', 'बहना', 'रिसना' आदि। इस

1. द्र. स. टी 28
2. त. वा. 6/2/4, पृ. 252
3. जै.सि.को. 3/513
4. कायवाङ्मनः कर्मयोगः। त. सू. 6/1
5. स आस्रवः, त. सू. 6/2

दृष्टि से कर्मो के आगमन को आस्रव कहते है। इसका अर्थ यह नही है कि कर्म किसी भिन्न क्षेत्र से आते हों, अपितु हम जहाँ हैं, कर्म वही भरे पडे हैं। योग का निमित्त पाते ही कर्म-वर्गणाए कर्म रूप से परिणत हो जाती है।[1] कर्म-वर्गणाओं का कर्म रूप से परिणत हो जाना ही आस्रव कहलाता है। कर्मो के आगमन का आशय सिर्फ इतना ही है।

मन, वचन और काय की प्रवृत्ति शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार की होती है। शुभ प्रवृत्ति को शुभ योग तथा अशुभ प्रवृत्ति को अशुभ योग कहते हैं। शुभ योग शुभास्रव का कारण है तथा अशुभ योग से अशुभ कर्मो का आस्रव होता है।[2] विश्वक्षेम की भावना, सबका हित चितन दया, करुणा और प्रेम-पूर्ण भाव शुभ-मनो-योग है। प्रिय सम्भाषण, हितकारी वचन, कल्याणकारी उपदेश शुभ-'वचन-योग' के उदाहरण है, तथा सेवा, परोपकार, दान एव देव पूजादि शुभ-'काय-योग' के कार्य है। इनसे विपरीत प्रवृत्ति 'अशुभ-योग' कहलाती है।

आस्रव के भेद

आस्रव के द्रव्यास्रव और भावास्रव रूप दो भेद भी है। जिन शुभाशुभ भावों से कार्माण वर्गणाए कर्म रूप परिणत होती हैं उसे 'भावास्रव' कहते है, तथा कर्म-वर्गणाओ का कर्म-रूप परिणत हो जाना 'द्रव्यास्रव' है।[3] दूसरे शब्दो मे, जिन भावों से कर्म आते हैं, वह भावास्रव है तथा कर्मों का आगमन द्रव्यास्रव है। जैसे—छिद्र से नाव मे जल प्रवेश कर जाता है, वैसे ही जीव के मन, वचन, काय के छिद्र से ही कर्म-वर्गणाए प्रविष्ट होती हैं। छिद्र होना—भावास्रव का, तथा कर्म-जल का प्रवेश करना, द्रव्यास्रव का प्रतीक है।

कषायवान और निष्कषाय जीवो की अपेक्षा द्रव्य-आस्रव दो प्रकार का कहा गया है—1 साम्परायिक 2 ईर्यापथ।[4]

1 **साम्परायिक** 'साम्पराय' का अर्थ 'कषाय' होता है। यह 'ससार' का पर्यायवाची है। क्रोधादिक विकारो के साथ होने वाले आस्रव को 'साम्परायिक-आस्रव' कहते हैं। यह आस्रव आत्मा के साथ चिरकाल तक टिका रहता है। कषाय स्निग्धता का प्रतीक है। जैसे तेलसिक्त शरीर मे धूल चिपककर चिरकाल तक टिकी रहती है, वैसे ही कषाय सहित होने वाला यह आस्रव भी चिरकाल अवस्थायी रहता है।

2 **ईर्यापथ** . आस्रव का दूसरा भेद ईर्यापथ है। यह मार्गगामी है। अर्थात् आते ही ही चला जाता है, ठहरता नही।[5] जिस प्रकार साफ-स्वच्छ दर्पण पर पडने वाली धूल उसमें चिपकती नही है, उसी प्रकार निष्कषाय जीवन-मुक्त महात्माओं के योग मात्र से होने वाला आस्रव 'ईर्यापथ' आस्रव कहलाता है। कषायो का अभाव हो जाने के कारण यह चिरकाल

1 त. वृ श्रुत 6/2
2 शुभ पुण्यस्याशुभ पापस्य त सू 6/3
3 त.सू 6/4
4 सर्वा सि 6/4 पृ 246
5 त. वा. 6/4/7 पृ 258

तक नहीं ठहर पाता। इसकी स्थिति एक समय की होती है।

आस्रव के कारण

जैनागम में आस्रव के पांच कारण बताये गये हैं—1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय 5. योग।[1]

1. मिथ्यात्व—विपरीत-श्रद्धा या तत्व ज्ञान के अभाव को मिथ्यात्व कहते है। विपरीत श्रद्धा के कारण शरीरादि जड़ पदार्थों में चैतन्य बुद्ध, अतत्व में तत्व बुद्धि, अकर्म में कर्म बुद्धि आदि विपरीत भावना/प्ररूपणा पायी जाती हे। मिथ्यात्व के कारण स्वपर विवेक नहीं होता। पदार्थों के स्वरूप में भ्रांति बनी रहती है। कल्याण मार्ग में सही श्रद्धा नहीं होती। यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दोनों प्रकार से होता है।[2] दोनों प्रकार के मिथ्यात्व में तत्व रुचि जागृत नहीं होती है। जीव कुदेव, कुगुरु और लोक मूढ़ताओं को ही धर्म मानता है। यह सब दोषों का मूल है, इसलिये इसे जीव का सबसे बड़ा अहितकारी कहा गया है।

इस मिथ्यात्व के पांच भेद हैं—

(1.) **एकांत** : वस्तु के किसी एक पक्ष को ही पूरी वस्तु मान लेना, जैसे पदार्थ नित्य ही है या अनित्य ही है। अनेकांतात्मक वस्तु तत्त्व को न समझकर एकांगी दृष्टि बनाए रखना। वस्तु के पूर्ण स्वरूप से अपरिचित रहने के कारण सत्यांश को ही सत्य समझ लेना।

(2.) **विपरीत** : पदार्थ को अन्यथा मानकर अधर्म में धर्म बुद्धि रखना।

(3.) **विनय** : सत्यासत्य का विचार किए बिना तथा विवेक के अभाव में जिस किसी की विनय को ही अपना कल्याणकारी मानना।

(4.) **संशय** : तत्त्व और अतत्त्व के बीच संदेह में झूलते रहना।

(5.) **अज्ञान** : जन्म-जन्मांतरों के संस्कार के कारण विचार और विवेक-शून्यता से उत्पन्न अतत्त्व श्रद्धान।

2. अविरति : सदाचार या चरित्र ग्रहण करने की ओर रुचि या प्रवृत्ति न होना अविरति है। मनुष्य कदाचित् चाहे भी तो, कषायों का ऐसा तीव्र उदय रहता है, जिससे वह आंशिक चरित्र भी ग्रहण नहीं कर सकता।[3]

3. प्रमाद : 'प्रमाद' का अर्थ होता है 'असावधानी'। आत्मविस्मरण या अजागृति को प्रमाद कहते हैं। अधिक स्पष्ट करें तो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में सावधानी न रखना प्रमाद है। कुशल कार्यों के प्रति अनादार या अनास्था होना भी प्रमाद है।[4] प्रमाद के पंद्रह भेद हैं—पांच इंद्रिय, चार विकथा, चार कषाय तथा प्रणय और निद्रा।[5]

प्रो. महेन्द्र कुमार न्यायपर्याय के अनुसार पांचों इन्द्रियों के विषय में तल्लीन रहने के कारण राज कथा, चोर कथा, स्त्री कथा और भोजन कथा आदि विकथाओं में रस लेने से क्रोध, मान, माया एवं लोभ इन चार कषायों से कलुषित होने के कारण तथा निद्रा, प्रणय आदि में मग्न रहने के कारण कुशल कार्यों में अनादार भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार की

1. द्र. स. गा 30
2. त. वा. 8/1/6
3. जै. द. पृ. 173
4. कुशलेष्वनादरः प्रमादः—सर्वा. सि. 8/1 पृ. 291
5. प. स. प्रा. 1/15

असावधानी से कुशल कर्मों के प्रति अनास्था भी उत्पन्न होती है और हिंसा की भूमिका तैयार होती है। हिंमा का मुख्य कारण प्रमाद है।[1]

4. कषाय : 'कषाय' शब्द दो शब्दों के मेल मे बना है 'कष + आय'। 'कष' का अर्थ 'संसार' है, क्योंकि इसमें प्राणी विविध दु:खों के द्वारा कष्ट पाते हैं, आय का अर्थ है 'लाभ'। इस प्रकार कषाय का सम्मिलित अर्थ यह हुआ कि जिसके द्वारा संसार की प्राप्ति हो, वे कषाय हैं।[2]

वस्तुत: कषायों का वेग बहुत ही प्रबल है। जन्म-मरण रूप यह संमार वृक्ष 'कषायों' के कारण ही हरा-भरा रहता है। यदि कषायों का अभाव हो तो जन्म-मरण की परंपरा का यह विष-वृक्ष स्वयं ही सूखकर नष्ट हो जाये। कषाय ही समस्त सुख-दु:खों का मूल है। कषाय को कृषक की उपमा देते हुए 'पंच-संग्रह' में कहा गया है कि 'कषाय' एक ऐमा कृषक है जो चारों गतियों की मेढ वाले कर्म रूपी खेत को जोतकर सुख-दु:ख रूपी अनेक प्रकार के धान्य उत्पन्न करता है।[3] आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी कषाय की कर्मोत्पादकता के सबंध में लिखा है, जो दु:ख रूप धान्य को पैदा करने वाले कर्म रूपी खेत को कर्षण करते हैं, जोतते हैं, फलवान करते हैं, वे क्रोध मानादिक कषाय हैं।[4]

क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से कषाय के चार भेद हैं। इनमें क्रोध और मान द्वेष-रूप हैं तथा माया और लोभ राग-रूप हैं। राग और द्वेष समस्त अनर्थों का मूल है।

5. योग : जीव के प्रदेशों में जो परिस्पंदन या हलन-चलन होता है उसे योग कहते है।[5] (योग का प्रसिद्ध अर्थ यम नियमादि क्रियाएं हैं, पर वह यहां अभिप्रेत नहीं है।) जैन दर्शन के अनुसार मन, वचन और काय से होने वाली आत्मा की क्रिया कर्म-परमाणुओं के साथ आत्मा का योग अर्थात् संबंध कराती है। इसी अर्थ में इसे योग कहा जाता है। यह योग प्रवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का है—मन-योग, वचन-योग और काय-योग। जीव की कायिक (शरीर) प्रवृत्ति को काय-योग तथा वाचनिक और मानसिक प्रवृत्ति को क्रमशः वचन और मनोयोग कहते हैं।

प्रत्ययों के पाँच होने का प्रयोजन : आत्मा के गुणों का विकास बताने के लिए जैन दर्शन में चौदह गुण स्थानों का निरूपण किया गया है। उनमें जिन दोषों के दूर होने पर आत्मा की उन्नति मानी गयी है, उन्हीं दोषों को यहां आस्रव के हेतु में परिगणित किया गया है।[6] ऊंचे चढ़ते समय पहले मिथ्यात्व जाता है, फिर अविरति जाती है, तदुपरांत प्रमाद छूटता है, फिर कषाय, और अंत में योग का सर्वथा निरोध होने पर आत्मा सर्व कर्मों से मुक्त बनकर सिद्धावस्था प्राप्त करता है। इसलिए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और

1 जै द पृ 179
2 कष. ससार तस्य आय. प्राप्तय: कषाया। पच स स्वो 3/23 पृ 35
3 सुह दुक्ख बहुसस्स कम्मरेखे कसेइ जीवस्स।
ससार दूर मेर तेण कसाओत्ति ण विंति ॥ प्रा प स 1 109
4 दु.ख शस्य कर्म क्षेत्र कृर्षान्ति फलवत् कुवन्तीति कषाया· क्रोधमान माया लोभा. —ध पु 6,41
5 सर्वा सि. 6/1 पृ 24
6 (अ) प्रयोजनश्च गुणस्थान भेदेन बध हेतु विकल्प योजन वोद्धव्यम — **त. वृ. भास्कर नन्दि-453**
(ब) विस्तरस्तु गुण स्थान क्रमापेक्षया पूर्वोक्त चतुष्टय, पच वा कारणानि भवन्ति — **जैन दर्शन सार पृ. 44**

योग—यह क्रम रखा गया है। यहा यह विशेष ध्यातव्य है कि पूर्व-पूर्व के कारणों के रहने पर उत्तरोत्तर कारण अनिवार्य रूप मे रहते है। जैसे मिथ्यात्व की उपस्थिति में शेष चारो कारण भी रहेगे किन्तु अविरति रहने पर मिथ्यात्व रहे यह कोई नियम नहीं है। भिन्न-भिन्न अधिकरणों की अपेक्षा ही उक्त प्रत्यय बताये गये है।

बंध

कर्म रूप परिणत पुद्गलों का जीवत्मा के साथ एक क्षेत्रावगल सबध हो जाना बंध है।[1] दो पदार्थों के मेल को बंध कहते हैं। यह संबंध धन और धनी की तरह का नहीं है, न ही गाय के गले में बंधने वाली रस्सी की तरह का, वरन् बंध का अर्थ जीव और कर्म पुद्गलों का मिलकर एकमेक हो जाने से है। आत्मा के प्रदेशों मे कर्म प्रदेशों का दूध में जल की तरह एकमेक हो जाना ही बध कहलाता है।[2] जिस प्रकार स्वर्ण और ताबे के संयोग से एक विजातीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है, अथवा हाइड्रोजन और ऑक्सीजन रूप दो गैसों के सम्मिश्रण मे जल रूप एक विजातीय पदार्थ की उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार बंध पर्याय में जीव और पुद्गलो की एक विजातीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है जो न तो शुद्ध जीव में पायी जाती है, न ही शुद्ध पुद्गलों में जीव और पुद्गल दोनों अपने-अपने गुणों से च्युत होकर एक नवीन अवस्था की रचना करते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सर्वथा अपने स्वभाव मे च्युत हो जाते हैं तथा फिर उन्हें पृथक् किया ही नहीं जा सकता। उन्हें पृथक् भी किया जा सकता है—जैसे मिश्रित सोने और तांबे को गलाकर अथवा प्रयोग विशेष मे जल को पुनः हाइड्रोजन और ऑक्सीजन रूप में परिणत किया जा सकता है। उसी प्रकार कर्मबद्ध जीव भी अपने पुरुषार्थजन्य प्रयोग के बल से कर्मों से पृथक हो सकता है।

आस्रव-बंध संबंध

जीव के मन, वचन और काय गत प्रवृत्ति के निमित्त मे कार्मण वर्गणाओं का कर्म रूप से परिणत होना 'आस्रव' है, तथा आस्रवित कर्म पुद्गलों का जीव के रागद्वेषादि विकारों के निमित्त से आत्मा के साथ एकाकार/एक रस हो जाना ही 'बंध' है। बंध, आस्रवपूर्वक ही होता है। इसीलिए आस्रव को बंध का हेतु कहते हैं।[3] आस्रव और बंध दोनों युगपत् होते हैं। उनमें कोई समय भेद नहीं है।[4] आस्रव और बंध का यही संबंध है। सामान्यतया आस्रव के कारणों कोई बंध के कारण (कारण का कारण होने मे) कह देते हैं, किंतु बंध के

1 आस्रवैरात्तरण कर्मण अत्मनासयोग बन्ध., त भा हरि वृ 1/3
2 आत्मकर्मणोरन्योन्य प्रवेशानुप्रवेशात्मको बध., सर्वा सि 1/4, पृ 11
3 आश्रवो बध हेतु भर्वात्। — जैन दर्शन सार, पृ. 44
4 त सू 8/2

लिए अलग शक्तिया कार्य करती है।

बंध के कारण

मूल रूप मे दो ही शक्तियां कर्म बंध का कारण हैं—कषाय और योग। योग रूप शक्ति के कारण कर्म वर्गणाएं जीव की ओर आकृष्ट होती हैं तथा रागद्वेषादि रूप मनोविकार (कषाय) का निमित्त पाकर जीवात्मा के साथ चिपक जाते हैं, अर्थात् योग शक्ति के कारण कर्म वर्गणाएं कर्म रूप से परिणत होती हैं तथा कषायों के कारण उनका आत्मा के साथ संश्लेष रूप एक क्षेत्रावगाह संबंध होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्म-बंध मे मूल रूप से दो शक्तियां ही (योग और कषाय) काम करती हे।[1]—

इनमें कषायों को गोंद की, योग को वायु की, कर्म को धूल की तथा जीव को दीवार की उपमा दी जाती है। दीवार गीली हो अथवा उस पर गोंद लगी हो तो वायु से प्रेरित धूल उस पर चिपक जाती है, किंतु साफ-स्वच्छ दीवार पर वह चिपके बिना झड़कर गिर जाती है। उसी प्रकार योग रूप वायु से प्रेरित कर्म भी कषाय रूप गोंद युक्त आत्मप्रदेशों से चिपक जाती है। धूल की हीनाधिकता वायु के वेग पर निर्भर करती है तथा उनका टिके रहना गोंद की प्रगाढ़ता और पतलेपन पर अवलम्बित है। गोद के प्रगाढ़ होने पर धूल की चिपकन भी प्रगाढ होती है तथा उसके पतले होने पर धूल भी जल्दी ही झड़कर गिर जाती है। उसी प्रकार योग की अधिकता से कर्म प्रदेश अधिक आते हैं तथा उनकी हीनता से अल्प। उत्कृष्ट योग होने पर कर्म प्रदेश उत्कृष्ट बधते हैं तथा जघन्य होने पर जघन्य। उसी प्रकार यदि कषाय प्रगाढ़ होती हैं तो कर्म अधिक समय तक टिकते हैं तथा उनका फल भी अधिक मिलता है। कषायों के मंद होने पर कर्म भी कम समय तक टिकते हैं तथा उनका फल भी अल्प मिलता है। इस प्रकार योग और कषाय रूपी शक्तियां ही बंध के प्रमुख कारण हैं। इसलिये जैन धर्म में कषाय के त्याग पर जोर देते हुए कहा गया है कि "जिन्हें बध नहीं करना है वे कषाय न करें"।[2]

बंध के भेद

द्रव्य बंध और भाव बंध की अपेक्षा बंध के दो भेद किये गये हैं। जिन राग, द्वेष, मोहादि मनोविकारों से कर्मों का बंध होता है उन्हें 'भाव-बंध कहते हैं तथा कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ एकाकार हो जाना 'द्रव्य' बंध है। [3] भाव बंध ही द्रव्य बंध का कारण है, अतः उसे प्रधान समझकर बचना चाहिए।

द्रव्य बंध के भेद : द्रव्य बंध के चार भेद किए गए हैं—1. प्रकृति बंध, 2. स्थिति बंध, 3. अनुभाग बंध, 4. प्रदेश बंध।[4]—

1. द्र स 33
2. मो मा प्र पृ 35
3. द्र स 32
4. (अ) त स्.8/3 (ब) पयदिट्ठिदि अणुभागा पदेस भेदा दुचदु विधोबधों द्र.स 33

(1) प्रकृति बंध

'प्रकृति' का अर्थ स्वभाव होता है।[1] प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वभाव होता है। जैसे नीम का स्वभाव कड़वापन है, गुड़ का स्वभाव मीठा है, वैसे ही प्रत्येक कर्मो का अपना-अपना स्वभाव है। ज्ञानावरणी कर्म की प्रकृति ज्ञान को आच्छादित करना है, दर्शनावरणी कर्म दर्शन को प्रकट होने नहीं देता। बंध के समय बंधने वाले कर्म-परमाणुओं में अपने-अपने स्वभाव के अनुसार प्रकृति पढ़ जाती है। इसी का नाम 'प्रकृति बंध' है।

(2) प्रदेश बंध

बंधे हुए कर्म-परमाणुओं की संख्या को 'प्रदेश बंध' कहते हैं। अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप बंधने वाले कर्म परमाणुओं की कोई न कोई संख्या होती है, उस संख्या को ही 'प्रदेश बंध' कहते हैं।[2]

(3) स्थिति बंध

आस्रवित कर्म जब तक अपने स्वभाव रूप से टिके रहते हैं उस काल की मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं। सभी कर्मों की अपनी-अपनी स्थिति होती है। कुछ कर्म क्षण-भर टिकते हैं तथा कुछ कर्म हजारों वर्ष तक आत्मा के साथ चिपके रहते हैं। उनके इस टिके रहने की काल मर्यादा को ही 'स्थिति बंध' कहते हैं।[3] जिस प्रकार गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध में माधुर्य एक निश्चित कालावधि तक ही रहता है, उसके बाद वह विकृत हो जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक कर्म का स्वभाव भी एक निश्चित काल तक ही रहता है।[4] यह मर्यादा ही स्थिति बंध है जिसका निर्धारण जीव के भावों के अनुसार कर्म बंधते समय ही हो जाता है, और कर्म तभी तक फल देते हैं जितनी कि उनकी स्थिति होती है। इसे Duration Period भी कह सकते हैं।

(4) अनुभाग बंध

कर्मों की फलदान-शक्ति को 'अनुभाग बंध' कहते हैं। प्रत्येक कर्म की फलदान शक्ति अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप ही होती है। जैसे—बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध के स्वाद में तरतमता रहती है। उसी प्रकार प्रत्येक कर्मों की अपनी-अपनी तीव्र मंदादिक फलदान शक्ति रहती है। प्रकृति बंध सामान्य है। अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म आ तो जाते हैं, किंतु उनमें तरतमता अनुभाग बंध के कारण ही आती है। जैसे गन्ने का स्वभाव मीठा है पर वह कितना मीठा है? यह सब उसमें रहने वाली मिठास पर ही निर्भर है।

1 त वा 8/3/4
2 त वा 8/3/7
3 त वा 8/3/5
4 त. वा 8/3/6

ज्ञानावरणी कर्म का स्वभाव ज्ञान को ढाकना है, पर वह कितना ढांके ? यह उसके अनुभाग बंध की तरतमता पर निर्भर है। प्रकृति बंध और अनुभाग बंध में इतना ही अंतर है।

अनुभाग बंध में तरतमता हमारे शुभशुभ भावों के अनुसार होती रहती है। मंद अनुभाग में हमें अल्प सुख-दुःख होता है तथा अनुभाग में तीव्रता होने पर हमारे सुख-दुःख में तीव्रता होती है। जैसे उबलते हुए जल के एक कटोरे से भी हमारा शरीर जल जाता है किंतु सामान्य गर्म जल से स्नान करने के बाद भी कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता। उसी प्रकार तीव्र अनुभाग युक्त अल्पकर्म भी हमारे गुणों को अधिक घातते हैं तथा मंद अनुभाग युक्त अधिक कर्म-पुंज भी हमारे गुणों को घातने में अधिक समर्थ नहीं हो पाते। इसी कारण चारों बंधों में अनुभाग बंध की ही प्रधानता है।

इन चार प्रकार के बंधों में प्रकृति-बंध और प्रदेश बंध योग से होते हैं, जबकि स्थिति और अनुभाग-बंध का कारण कषाय है।

इस प्रकार कर्मों से बंधा हुआ जीव विकारी होकर नाना योनियों में भटकता है। कर्म ही जीव को परतंत्र करते हैं। संसार में जो विविधता दिखाई देती है, वह सब कर्म बंध जन्य ही है। आस्रव और बंध के स्वरूप को विशेष रूप से समझने के लिए कर्म सिद्धान्त पर विचार करना जरूरी है। उसके बिना इस विषय को समझ पाना असंभव है।

पुण्य

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन शरीर और बाह्य परिवेश में संतुलन बनाना यह पुण्य कार्य है। पुण्य मात्र शुभास्रव ही नहीं वह पाप का विघातक भी है। पुण्य अशुभ कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरुप प्राप्त अवस्था का द्योतक है। वह मोक्ष की उपलब्धि में बाधक नहीं साधक है। पुण्य के मोक्ष की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या करते हुए आचार्य श्री पूज्य पाद कहते हैं, "पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर जाता है।" वस्तुतः पुण्य मोक्षार्थियो की नौका के लिए अनुकूल वायु है जो नौका को भव सागर से शीघ्र पार करा देती है।

कर्म और उसके भेद-प्रभेद
कर्म

- कर्म का अस्तित्व
- कर्म का स्वरूप
- जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप
- अमूर्त का मूर्त से बध कैसे ?
- अनादि का अत कैसे ?
- कैसे बंधते हैं कर्म ?

कर्म के भेद-प्रभेद

- कर्म के मूल भेद
- कर्म के उत्तर भेद
- ज्ञानावरण कर्म
- दर्शनावरणी कर्म
- वेदनीय कर्म
- वेदनीय कर्म-बध के कारण
- मोहनीय कर्म
- आयु कर्म
- आयु कर्म के बध सबधी विशेष नियम
- आयु बध के कारण
- नाम कर्म
- नाम कर्म के बध का कारण
- गोत्र कर्म
- गोत्र कर्म के बध का कारण
- अतराय कर्म
- अतराय कर्म-बध के कारण

कर्म और उसके भेद-प्रभेद

कर्म का अस्तित्व

इस विशाल जगत् और अपने जीवन मे जब हम झाककर देखते हैं, तो हमें अनेक विविधता दिखाई पड़ती है। जगत् विविधताओं का केंद्र है, तथा जीवन विषमताओ से घिरा है। जगत् में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई निर्धन, कोई धनवान, कोई ऊंच, कोई नीच, कोई पंडित, कोई मूर्ख, कोई सुंदर, कोई कुरूप, कोई दुर्बल, कोई बलवान, कोई उन्मत्त, कोई विद्वान्, कहीं जीवन, कहीं मरण, कोई बड़ा, कोई छोटा आदि अनेक विविधताएं पायी जाती हैं। सर्वत्र वैचित्र्य ही दिखता है तथा जीवन में भी अनेक विषमाताए हैं। हमारा जीवन भी आशा-निराशा, सुख-दुःख, प्रसन्नता-अप्रसन्नता, हर्ष-विषाद अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि अनेक परिस्थितियों से गुजरता हुआ व्यतीत होता है। जीवन मे कहीं समरूपता नहीं है। जगत् की इस विविधता और जीवन की विषमता का कोई न कोई तो हेतु होना ही चाहिए। वह हेतु है 'कर्म'। कर्म ही जगत् की विविधता और जीवन की विषमता का जनक है।

कर्म का स्वरूप

जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पडता है। सामान्यत कर्म सिद्धांत का यही अभिप्राय है। कर्म को सभी भारतीय दर्शन स्वीकार करते है (सिर्फ चार्वाक को छोडकर क्योंकि वह तो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकारते) इस सिद्धान में एक मत होते हुए भी कर्म के स्वरूप और उसके फल देने के संबंध में सबकी अपनी-अपनी मान्याताएं हैं। 'कर्म' का शाब्दिक अर्थ 'कार्य', प्रवृत्ति अथवा क्रिया होता है, अर्थात् जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे—हंसना, रोना, चलना, दौड़ना, खाना, पीना आदि।[1] व्यवहार में काम-धंधे या व्यवसाय को 'कर्म' कहा जाता है। कर्मकाडी मीमांसक, यज्ञ आदि क्रियाओं को कर्म कहते हैं। स्मृतियों में चार वर्ण और चार आश्रमों के योग्य कर्त्तव्यों को कर्म कहा गया है। पौराणिक लोग व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओं को कर्म मानते हैं।[2] वैय्याकरण जो कर्त्ता के लिए इष्ट हो, उसे कर्म मानते हैं।[3] न्याय शास्त्र में उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन रूप पांच प्रकार की क्रियाओं के लिए 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है।[4] योग-दर्शन में संस्कार को

1. त वा 6/3
2 जैन धर्म दर्शन, पृ 442
3 कुर्त्तरीप्सिततम कर्मः अष्टाध्यायी 1/4/49
4 उत्क्षेपण मवक्षेपण माकुचन प्रसारण गमनतिति कर्माणि। —जैनेन्द्र सिद्धात कोष 2/28

'अपूर्व वासना' अथवा 'कर्म' कहा जाता है। बौद्ध-दर्शन में कर्म वासना रूप है। जैन दर्शन में कर्मविषयक मान्यता इन सबसे पृथक् है। जैन सिद्धात में जो कर्म सिद्धात का विवचन मिलना है वह अत्यन विशद तथा अर्थपूर्ण है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म का अर्थ कायिक क्रियाकाडो एव अन्य प्रवृत्तियों से नही है। न ही बौद्धों और वैशेषिकों की तरह सस्कार मात्र है, अपितु कर्म भी एक पृथक् सत्ता भूत पदार्थ है।

जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप

जैन दर्शन में कर्म को पुद्गल-परमाणुओ का पिड माना गया है। तद्नुसार, यह लोक तेईस प्रकार की पुद्गल-वर्गणाओं से व्याप्त है। उनमें से कुछ पुद्गल-परमाणु कर्म रूप से परिणत होते हैं, उन्हें कर्म वर्गणा कहते है। कुछ शरीर रूप से परिणत होते है वे नोकर्म वर्गणा कहलाते हैं। लोक इन दोनो प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों से इन्हें ग्रहण करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव के साथ कर्म सबद्ध हो, तथा जीव के साथ कर्म तभी सबद्ध होते है, जब मन, वचन या काय की प्रवृत्ति हो। इस प्रकार कर्म से प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति से कर्म की परपरा अनादि से चली आ रही है। कर्म और प्रवृत्ति के इस कार्यकारण भाव को दृष्टिगत रखते हुए पुद्गल परमाणुओं के पिड रूप कर्म को 'द्रव्य कर्म' तथा रागद्वेषादि रूप प्रवृत्तियो को 'भाव-कर्म' कहा गया है।[1] द्रव्य कर्म और भाव कर्म का कार्य-कारण सबध वृक्ष और बीज के समान अनादि है।

जगत् की विविधता का कारण उक्त द्रव्य-कर्म ही है, तथा राग-द्वेषादि मनोविकार रूप भाव-कर्म ही जीवन में विषमता उत्पन्न करते है।

अमूर्त का मूर्त से बंध कैसे ?

इस प्रसग मे यह जिज्ञासा सहज ही हो जाती है कि जीव चेतनावान, अमूर्त पदार्थ है तथा कर्म पौद्गलिक पिड। तब मूर्त का अमूर्त आत्मा से बध कैसे होता है ? मूर्तिक का मूर्तिक से सबध तो उचित है, किंतु मूर्तिक का अमूर्तिक से सबध कैसे होता है ?

इस प्रश्न का समाधान जैनाचार्यों ने अनेकातात्मक शैली में दिया है। जैन दर्शन में ससारी आत्मा को आकाश की तरह सर्वथा अमूर्त नही माना गया है। उसे अनादि बधन-बद्ध होने के कारण मूर्तिक भी माना गया है। बध पर्याय में एकत्व होने के कारण आत्मा को मूर्तिक मानकर भी वह अपने ज्ञान आदि स्वभाव का परित्याग नही करता, इस अपेक्षा से उसे अमूर्तिक कहा गया है। इसी कारण अनादि बधन-बद्धता होने से उसका मूर्त कर्मों के साथ बध हो जाता है।[2]

जिस प्रकार घी (नामक पदार्थ) मूलत दूध में उत्पन्न होता है, परतु एक बार घी बन जाने के बाद उसे पुन दूध रूप में परिणत करना असभव है अथवा जिस प्रकार स्वर्ण नामक पदार्थ मूलत

---

1 गो का का 6

2 द्र स गा 7

पाषाण में पाया जाता है परतु एक बार स्वर्ण बन जाने पर उसे किट्टिमा के साथ मिला पाना असभव है। उसी प्रकार जीव भी सदा ही मूलत कर्मबद्ध (सशरीरी) उपलब्ध होता है, परंतु एक बार कर्मों से सबध छूट जाने पर पुन इसका शरीर के साथ सबध हो पाना असभव है। जीव मूलत अमूर्तिक या कर्म रहित नही है, बल्कि कर्मों से सयुक्त् रहने के कारण वह अपने स्वभाव से च्युत उपलब्ध होता है। इस कारण वह मूलत अमूर्तिक न होकर, कथचित् मूर्तिक है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उसका मूर्त कर्मों के साथ बध हो जाना, विरोध को प्राप्त नही होता। हा, एक बार मुक्त हो जाने पर वह सर्वथा अमूर्तिक अवश्य हो जाता है, और तब कर्म के साथ उसके बंध होने का प्रश्न ही नही उठता।[1]

कब से बंधा है कर्म?

जैसे स्वर्ण-पाषाण को खदान से निकालने पर वह कालिमा और किट्टिमा रूप विकृति-युक्त होता है। उसे रासायनिक प्रयोगों से पृथक् कर शुद्ध किया जाता है। उसी तरह ससारी जीवो का कर्मों से अनादि-कालीन सबध है। साधना और तपश्चर्या के बल पर कर्मों को अलग कर आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। जैन मान्यता के अनुसार ससार में रहने वाला प्रत्येक जीव कर्मों से बधा हुआ है। जीव कभी शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ हो, ऐसी बात नही है, क्योंकि यदि वह शुद्ध था तो फिर उसके अशुद्ध होने का कोई कारण ही नही बनता। यदि फिर भी वह अशुद्ध होता है तब तो मुक्ति के उपाय की बात ही निरर्थक हो जाती है।

इसी बात का समाधान करते हुए जैनाचार्यो ने कहा है कि "जीव और कर्म का अनादि से सबध है इन कर्मों के कारण ही ससार की नाना योनियो में भटकता हुआ यह जीव सदा से दु:खो का भार उठाता आ रहा है।" कर्म बध और ससार परिभ्रमण को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुद-कुद स्वामी ने अपने 'पचास्तिकाय' मे कहा है कि—

जो खलु ससारत्थो जीवा तत्तो दुहोदि परिणामों
परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदि सु गदि
गदि मधिगदस्स देहो देहादो इदियाणि जायते
तेहि दुविसयग्गहण तत्तो दु रागो व दोसोवा
जायदि जीवस्सेव भाव ससार चक्क वालम्मि
इदि जिणवरेहि भणिद अणादि णिहणों सणिहणों वा॥[2]

ससार में जितने भी जीव हैं, उनमें राग द्वेष रूप परिणाम होते है। उन परिणामों मे कर्म बधते हैं। कर्मों से चार गतियों मे जन्म लेना पडता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है तथा शरीर में इन्द्रिया होती हैं, इनमें विषयों का ग्रहण होता है तथा विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार ससाररूपी चक्र में भ्रमण करते हुए जीव के भावों से कर्मों का बध तथा कर्म बध से जीव के भाव, सतति की अपेक्षा अनादि मे चला आ रहा है।

1 कर्म सिद्धात 38
2 प का 128-30

यह चक्र अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनंत है तथा भव्य जीवों की अपेक्षा अनादिसांत।[1]

अनादि का अंत कैसे?

ऐसा नहीं है कि इस अनादि कर्म-बंध का अंत असंभव ही हो। इस विवेचन में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कर्म-चक्र राग-द्वेष के निमित्त से घड़ी यंत्र की भांति सतत् चलता रहता है, तथा जब तक राग-द्वेष और मोह के वेग में कमी नहीं आती तब तक यह कर्म-चक्र निर्बाध रूप से चलता रहता है। राग-द्वेष के अभाव में क्रियाएं कर्म-बंध नहीं करातीं। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कुंद-कुंद स्वामी ने 'समयसार' में कहा है कि कोई व्यक्ति अपने शरीर को तेल से लिप्त कर धूली-पूर्ण स्थान में जाकर शस्त्र संचालन करता है, और ताड़, केला, बांस आदि के वृक्षों का छेदन करता है, उस समय वह धूल उड़कर उसके शरीर से चिपक जाती है। वस्तुतः देखा जाए तो उस व्यक्ति का शस्त्र-संचालन शरीर में धूल चिपकाने का यही कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो तेल का लेप ही है, जिससे धूल का संबंध होता है। यही कारण है कि जब व्यक्ति बिना तेल लगाए पूर्वोक्त क्रियाएं करता है तो धूल नहीं लगती। इसी प्रकार राग-द्वेष रूपी तेल से लिप्त आत्मा में कर्म-रज आकर चिपकती है और आत्मा को मलिन बनाकर इतना पराधीन कर देती है कि अनंत-शक्ति संपन्न जीवात्मा, कठपुतली की तरह, कर्मों के इशारे पर नाचा करता है।[2]

जीव और कर्म के संबंध को संतति की अपेक्षा अनादि मानते हुए भी पर्याय की दृष्टि से सादि-संबंध माना गया है। बीज और वृक्ष के संबंध पर दृष्टि डालें, तो संतति की अपेक्षा उनका कारण-कार्य भाव अनादि होगा। जैसे अपने सामने लगे आम के वृक्ष का कारण हम उस बीज को कहेंगे, यदि हमारी दृष्टि प्रतिनियत आम के पेड़ तक ही जाती है तो हम उसे उस बीज से उत्पन्न कहकर सादि-संबंध सूचित करेंगे। किंतु इस बीज के उत्पादक अन्य वृक्ष तथा अन्य वृक्ष के जनक अन्य बीज की परंपरा पर दृष्टि डालें तो इस दृष्टि से यह संबंध अनादि मानना होगा। कुछ दार्शनिकों का मानना है कि जो अनादि है उसका अंत नहीं हो सकता, किंतु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। यह कोई अनिवार्य नहीं है कि अनादि वस्तु अनंत ही है। वह अनंत भी हो सकती है तथा विरोधी कारण के आ जाने पर अनंत होने वाले संबंध का मूलोच्छेद भी किया जा सकता है, कहा भी है—

दग्धे बीजे यथात्यन्ते प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥[3]

अर्थात् बीज के जल जाने पर पुनः नवीन वृक्ष के निमित्त बनने वाला अंकुर उत्पन्न

1. ससार से मुक्त होने की योग्यता वाले ससारी जीवो को भव्य तथा वैसी योग्यता से रहित जीवो को अभव्य कहते हैं। भव्य जीव अपने पुरुषार्थ से अनादिकालीन कर्म सतति को उच्छिन्न कर सकते हैं जबकि अभव्य जीवो के लिए वह सभव नही है। इसी अपेक्षा से भव्य जीवो की सतति को अनादि शात तथा अभव्यो को अनादि अनत कहा गया है।
2. समयसार गा 252-255
3. त वा. 10/9 पर उद्धृत, पृ 725

नहीं होता। उसी प्रकार कर्म बीज के भस्म हो जाने पर भवरूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार बीज और वृक्ष की संतति की तरह जीव और कर्मों का परस्पर निमित्त-नैमेत्तिक संबंध है। जीव के अशुद्ध परिणामों के निमित्त से पुद्गल-वर्गणाएं कर्म रूप परिणत हो जाती हैं तथा पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव के अशुद्ध परिणाम होते हैं। फिर भी जीव कर्म-रूप नहीं होता तथा कर्म जीव-रूप नहीं होता। दोनों के निमित्त से संसार चक्र चलता रहता है।[1]

कैसे बंधते हैं कर्म?

जैन दर्शनानुसार लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहां कर्म योग्य पुद्गल परमाणु न हो। जीव के मन, वचन और काय के निमित्त से अर्थात् जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण कर्म योग्य परमाणु चारों ओर से आकृष्ट हो जाते हैं तथा कषायों के कारण जीवात्मा से चिपक जाते हैं। इस प्रकार कर्म-बंध के दो ही कारण माने गए हैं—योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं तथा क्रोधादिक-विकार कषाय के अंतर्गत है। वैसे कषायों के अनेक भेद हो सकते हैं, किंतु स्थूल रूप से दो भेद किए गए हैं—'राग और द्वेष'। राग-द्वेष युक्त शारीरिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्ति ही कर्म-बंध का कारण है। वैसे तो सभी क्रियाएं कर्मोपार्जन का हेतु बनती हैं किंतु जो क्रियाएं कषाय-युक्त होती हैं उनसे होने वाला बंध बलवान होता है, जबकि कषायरहित क्रियाओं से होने वाला बंध निर्बल और अल्पायु होता है। इसे नष्ट करने में अल्प शक्ति एवं अल्प समय लगता है। इस प्रकार योग एवं कषाय कर्म बंध के प्रमुख कारण हैं।

जैन धर्म और सामाजिक न्याय

जैन धर्म में सामाजिक वैषम्य की किसी रूप में भी स्वीकृति नहीं है। जैन संस्कृति सामाजिक न्याय मैत्री और समता पर बल देकर बंधुता की स्थापना करती है। भगवान महावीर ने जैन संस्कृति की पुनः स्थापना करते हुए इन सभी जीवन मूल्यों को समाज के लिए अनिवार्य माना है। मनुष्य के संस्कार संवर्धन के लिए उदात्त गुणों का ग्रहण जिस समाज में होगा, वह स्वयमेव सुसंस्कृत हो जाएगा।

प्रो. विजयेन्द्र स्नातक
'आस्था और चिंतन' से

1. समय सार 86-87

कर्म के भेद-प्रभेद

कर्म के मूल भेद

ैन कर्म-शास्त्र की दृष्टि से कर्म की आठ मूल प्रकृतियां हैं, जो प्राणियों को अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। वे हैं—1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनी", 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र, 8. अंतराय।[1]

इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार कर्म घातिया हैं, क्योंकि ''नसे आत्मा के गुणों का घात होता है। शेष चार कर्म अघातिया हैं क्योंकि ये आत्मा के 'कसी गुण का घात नहीं करते, बल्कि आत्मा को एक ऐसा रूप प्रदान करते हैं जो उसका 'नजी नहीं है, अपितु भौतिक है।

ज्ञानावरण कर्म से आत्मा के ज्ञान गुण का घात होता है। दर्शनावरण कर्म आत्मा के :र्शन-गुण का घात करता है। मोहनीय कर्म जीव के सम्यक् श्रद्धा और चरित्र-गुण को नष्ट ारता है। अंतराय कर्म से जीव का वीर्य अर्थात् शक्ति का घात होता है। आयु कर्म से आत्मा को नरकादि गतियों की प्राप्ति होती है। नाम कर्म के कारण जीव को चित्र-विचित्र शरीर और गतियां मिलती हैं, तथा गोत्र कर्म प्राणियों में उच्चत्व और नीचत्व का कारण है।

इन आठ कर्मों के कार्यों को दर्शाने के लिए आठ उदाहरण दिए गए हैं।[2] ज्ञानावरणी' कर्म का कार्य कपड़े की पट्टी की तरह है। जिस प्रकार आंख पर बंधी पट्टी ,ष्टि का प्रतिबंधक है, वैसे ही ज्ञानावरण-कर्म ज्ञान-गुण को प्रकट नहीं होने देता। :र्शनावरणी कर्म प्रतिहारी की तरह है। जिस प्रकार द्वारपालो की अनुमति के बिना किसी ·महल में प्रवेश नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दर्शनावरण-कर्म जीव को अनंत-दर्शन करने से रोकता है। 'वेदनीय' कर्म तलवार की धार पर लगे शहद के स्वाद की तरह होता है, ो एक क्षण को सुख देता है, पर उसका परिणाम दुःखद होता है। 'मोहनीय' कर्म मद्य की ारह है। जिस प्रकार मद्य के नशे में व्यक्ति को अपने हित-अहित का विचार नहीं रहता तथा ाह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार किए बिना कुछ भी आचरण करता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म भी जीव को विवेक-शून्य कर उसकी आचार और विचार शक्ति को रोकता है। 'आयु' कर्म खूंटे की तरह है। जिस प्रकार खूंटे से बंधा पशु उसके चारों ओर ही घूमता है, वैसे ही आयु कर्म से बंधा जीव उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। 'नाम' कर्म चित्रकार की तरह है। जिस प्रकार चित्रकार छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे अनेक प्रकार के चित्रों का निर्माण

1 गो स कर्मकाड 10
2 गो सा कर्मकाड 21

करता है उसी प्रकार नाम कर्म जीव के चित्र-विचित्र शरीर का निर्माण करता है। 'गोत्र' कर्म कुम्हार की तरह है। जिस प्रकार कुम्हार छोटे-बड़े बर्तनों का निर्माण करता है, उसी प्रकार गोत्र कर्म जीव को उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न कराता है। 'अंतराय' कर्म भंडारी की तरह है। जिस प्रकार भंडारी की अनुमति के बिना राजकोष से धन नहीं निकाला जा सकता, उसी प्रकार अंतराय कर्म जीव की अनंत शक्ति का प्रच्छादक है।

इस प्रकार ये आठ कर्मों के मूल भेद हैं। किंतु इनकी उत्तर प्रकृत्तियां (प्रभेद) 148 हो जाते हैं।

कर्म के उत्तर भेद

ज्ञानावरण कर्म—ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को आच्छादित/आवृत करता है। जिसके कारण इस संसार अवस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाता। जिस प्रकार देवता की मूर्ति पर ढका हुआ वस्त्र देवता को आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को आच्छादित किए रहता है।[1] इतना होने पर भी वह जीव की ज्ञान-शक्ति को पूर्णतया आवृत नहीं कर पाता। जिस प्रकार सघन-घटाओं से आच्छादित रहने पर भी सूर्य प्रकाश का अभाव (दिन में) पूर्णतया नहीं हो पाता, उसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म का तीव्रतम उदय होने पर भी वह जीव की ज्ञान शक्ति को पूर्णतया नष्ट/आवृत नहीं कर सकता, जिससे कि जीव सर्वथा ज्ञान-शून्य होकर जड़वत् हो सके। ज्ञानावरणी कर्म के पॉच उत्तर भेद हैं—1. मति-ज्ञानावरण, 2. श्रुत-ज्ञानावरण, 3. अवधि-ज्ञानावरण, 4. मनःपर्यय-ज्ञानावरण, 5. केवल-ज्ञानावरण।[2] ये पांचों कर्म क्रमशः पूर्वोक्त पांच ज्ञानों को आवृत करते हैं।

निम्न कारणों से ज्ञानावरणी कर्म का विशेष बंध होता है[3]—

1. ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधन के प्रति द्वेष रखने से।
2. ज्ञान-दाता गुरुओं का नाम छिपाने से।
3. ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधनों का नाश करने से।
4. ज्ञान के साधनों की विराधना करने से।
5. किसी के ज्ञान में बाधा डालने से।

2. दर्शनावरणी कर्म—पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किए बिना केवल उनके सामान्य धर्म का अवभास करना दर्शन है। दर्शनावरणी कर्म उक्त दर्शन गुण को आवृत करता है। दर्शन गुण के सीमित होने पर ज्ञानोपलब्धि का द्वार बंद हो जाता है। इसकी तुलना राजा के द्वारपाल से की जा सकती है। द्वारपाल राजा से मिलने में किसी व्यक्ति को बाधा पहुंचाता है। जिस प्रकार द्वारपाल की अनुमति के बिना कोई भी व्यक्ति राजा से नही मिल सकता, वैसे ही दर्शनावरणी कर्म वस्तुओं के सामान्य बोध को रोकता है। पदार्थों को देखने में अड़चन डालता है। इसकी नौ उत्तर प्रकृत्तियां हैं—1. चक्षु-दर्शनावरण, 2. अचक्षु-दर्शनावरण, 3. अवधि दर्शनावरण, 4. केवल दर्शनावरण, 5. निद्रा, 6. निद्रा-निद्रा,

1. द्र. स. गा. 35
2. त. सू. 8/6
3. त. सू. 6/10

7. प्रचला, 8. प्रचला-प्रचला, 9. स्त्यान-गृद्धि ।[1]

'चक्षु दर्शनावरण कर्म' नेत्रों द्वारा होने वाले सामान्य अवबोध को रोकता है। चक्षु के अलावा शेष इंद्रियों से होने वाले सामान्य बोध को 'अचक्षु-दर्शनावरण' रोकता है। 'अवधि-दर्शनावरण' इंद्रिय और मन के बिना होने वाले रूपी पदार्थ के सामान्य बोध को रोकता है।[2] तथा केवल दर्शनावरण कर्म सर्वद्रव्यों और पर्यायों की युगपत होने वाले सामान्य अवबोध को रोकता है।

हल्की नींद को निद्रा कहते हैं। ऐसी नीद कि प्राणी आवाज लगाते ही जाग उठें, 'निद्रा कर्म' से उत्पन्न होती है। 'निद्रा-निद्रा' कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, जिससे प्राणी बड़ी मुश्किल से जाग पाता है।[3] प्रचला कर्म के उदय से जीव खड़े-खड़े या बैठे-बैठे ही सो जाया करता है।[4] प्रचला-प्रचला कर्म के उदय मे नीद में मुख से लार बहने लगती है, तथा हाथ-पैर आदि चलायमान हो जाते हैं।[5] 'स्त्यान-गृद्धि कर्म' के उदय से ऐसी प्रगाढ़तम नींद आती है, जिससे व्यक्ति दिन में या रात्रि में सोचे हुए कार्य-विशेष को निद्रावस्था में ही संपन्न कर देता है।[6]

निद्रा में आत्मा का अव्यक्त उपयोग होता है, अर्थात् उसे वस्तु का सामान्य आभास नहीं हो सकता। इसलिए 'निद्रा' के पांच भेदों को दर्शनावरणी कर्म के उत्तर भेदों में परिगणित किया गया है। चक्षु-दर्शनावरणदि चारों दर्शनावारणी-कर्म दर्शन-शक्ति के प्राप्ति में बाधक होते है।

जिन कारणो से ज्ञानावरणी कर्म का बंध होता है, दर्शनावरणी कर्म भी उन्ही साधनों से बंधता है। अंतर केवल इतना है कि यहां ज्ञान और ज्ञान के साधन न होकर, दर्शन और दर्शन के साधनो के प्रति वैसा व्यवहार होने पर, दर्शनावरणी बंधती है।[7]

3. **वेदनीय कर्म** . जो कर्म-जीव को सुख या दुःख का वेदन कराता है, वह वेदनीय कर्म है।[8] यह दो प्रकार का होता है—1. साता वेदनीय एवं 2. असाता वेदनीय। जिस कर्म के उदय से प्राणी को अनुकूल विषयों की प्राप्ति से सुख का अनुभव होता है, वह 'साता' वेदनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर दुःख का संवेदन होता है वह 'असाता' वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म की तुलना मधु से लिप्त तलवार से की गयी है। जिस प्रकार शहद लिप्त तलवार की धार को चाटने से पहले अल्प-सुख और फिर अधिक दुःख होता है, वैसे ही पौद् गालिक सुख में दुःखों की अधिकता होती है। मधु को चाटने के सदृश, साता-वेदनीय है और जीभ कटने की तरह असाता-वेदनीय है।[9]

1 त सू 8/7
2 त वा 8/13-14-15
3 (अ) गो कर्म काड जी त प्र गा 23-24
(ब) सुख पडि बोहा निद्धा, निद्धा निद्धाय दुक्ख पडिवोहा। —पंचम कर्म ग्रंथ
4 कर्म ग्रथ गा 2
5 कर्म काड 24
6 कर्म काड 23
7 त सू 6/10
8 सर्वा सि, पृ 296
9 वृ द्र स टी गा 33

वेदनीय कर्म-बंध के कारण : सभी प्राणियों पर अनुकंपा रखने से व्रतियों की सेवा करने से, दान देने से, हृदय में शांति और पवित्रता रखने से, साधुओं या श्रावकों के व्रत पालन से, कषायों को वश में रखने से साता-वेदनीय कर्म का बंध होता है।[1]

इसके विपरीत स्वपर को दुःख देने से, शोकमग्न रहने से, पीड़ा पहुंचाने आदि आचरण करने से दुःख के कारणभूत असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है।[2] असाता वेदनीय कर्म के फलस्वरूप देह सदा रोग-पीड़ित रहता है तथा बुद्धि और शुभ क्रियाएं नष्ट हो जाती हैं। यह प्राणी अपने हित के उद्योग में तत्पर नहीं हो सकता।

4. मोहनीय कर्म : जो कर्म आत्मा को मोहित करता है, मूढ़ बनाता है, वह मोहनीय कर्म है।[3] इस कर्म के कारण जीव मोह ग्रस्त होकर संसार में भटकता है। मोहनीय कर्म संसार का मूल है। इसीलिए इसे 'कर्मों का राजा' कहा गया है। समस्त दुःखों की प्राप्ति मोहनीय कर्म से ही होती है। इसीलिए इसे 'अरि' या 'शत्रु' भी कहते हैं। अन्य सभी कर्म मोहनीय के अधीन हैं। मोहनीय कर्म राजा है, तो शेष कर्म प्रजा। जैसे राजा के अभाव में प्रजा कोई कार्य नहीं कर सकती, वैसे ही मोह के अभाव में अन्य कर्म अपने कार्य में असमर्थ रहते हैं। यह आत्मा के वीतराग-भाव तथा शुद्ध स्वरूप को विकृत करता है। जिससे आत्मा राग-द्वेषादि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। यह कर्म स्वपर विवेक एवं स्वरूप रमण में बाधा समुपस्थित करता है।[4]

इस कर्म की तुलना मदिरापान से की गयी है। जैसे मदिरा पान से मानव परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान नहीं रहता है, वह हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव को तत्त्व अतत्त्व का भेद विज्ञान नहीं हो पाता। वह संसार के विकारों में उलझ जाता है।[5]

दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से मोहनीय कर्म दो प्रकार का है[6]—

1. दर्शन मोहनीय : यहां 'दर्शन' का अर्थ-तत्वार्थ श्रद्धान रूप आत्म गुण है।[7] आप्त, आगम या पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। जो उस दर्शन को मोहित करता है अर्थात् विपरीत कर देता है, उसे 'दर्शन मोहनीय' कर्म कहते हैं[8] जैसे मदिरा-पान से बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है, वैसे ही दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का विवेक विलुप्त हो जाता है। यह अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय समझता है। वह तत्त्व को अतत्त्व, अतत्त्व को तत्त्व तथा धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझने लगता है।[9]

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—1. मिथ्यात्व, 2. सम्यक्-मिथ्यात्व, 3. सम्यक्त्व।

(1) **मिथ्यात्व कर्म** : जो कर्म तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता और विपरीत श्रद्धा

1. त. सू. 6/12
2. त. सू. 6/11
3. सर्वा. सि.
4. ध. पु. 1, पृ. 45
5. द्र. स. टी. गा 33
6. ष. खं. 6/1.9.1, सू. 20, पृ. 37
7. तत्वार्थ श्रद्धान सम्यक् दर्शनम्, त. सू. 1/2
8. ध. पु. 6/38
9. पचध्यायी 2/98

उत्पन्न कराता है, वह 'मिथ्यात्व' कर्म है। इस कर्म के उदय से जीव की वह मूढ अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिससे वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा तिरोहित हो जाती है।

(2) **सम्यक्-मिथ्यात्व** यह कर्म तत्त्व श्रद्धा में दोलायमान स्थिति उत्पन्न कराता है। इस कर्म के उदय से न तत्त्व के प्रति रुचि रहती है, न अतत्त्व के प्रति। इसलिए इसे मिश्र-मोहनीय कर्म भी कहते हैं। यह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्रित रूप है।

(3) **सम्यक्त्व**—जो कर्म सम्यक्त्व को तो नही रोकता, किंतु उसमें चल, मलिन और अगाढ दोष उत्पन्न करता है, वह 'सम्यक्त्व' मोहनीय कर्म है।

इस प्रकार मिथ्यात्व-प्रकृति अश्रद्धा रूप होती है तथा सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति श्रद्धा और अश्रद्धा से मिश्रित होती है तथा सम्यक्त्व-प्रकृति से श्रद्धा में शिथिलता या अस्थिरता होती है। जिसके कारण चल, मलिन और अगाढ ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं। यह प्रकृति सम्यक्त्व घात तो नही करती, परतु शकादिक दोषों को उत्पन्न करती है।[1]

2. **चारित्र मोहनीय** पाप की क्रिया की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। मिथ्यात्व, असयम और कषाय पाप है। इनके त्याग को चारित्र कहते हैं। इस चारित्र के विघातक कर्म को चारित्र-मोहनीय कहते है[2] अथवा अपने स्वरूप में रमण करना चारित्र है। जो उस चारित्र का विघातक है, उसे 'चारित्र मोहनीय' कहते है। कषाय-वेदनीय और नोकषाय-वेदनीय के भेद से चारित्र मोहनीय के भी दो भेद है।[3] कषाय वेदनीय मुख्य रूप मे चार प्रकार का है—1 क्रोध, 2 मान, 3 माया और 4 लोभ।

क्रोधादि चारो कषाय तीव्रता व मदता की दृष्टि से चार चार प्रकार की होती है—अनतानुबधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा सज्वलन। इस प्रकार कषाय वेदनीय के कुल सोलह भेद हो जाते है,[4] जिनके उदय से क्रोधादिक भाव होते है।

(अ) **अनतानुबधी** अनतानुबधी के प्रभाव से जीव को अनतकाल तक भव-भ्रमण करना पडता है। इसके उदय में सम्यक्त्व और चारित्र दोनो ही नही हो पाते।[5]

(ब) **अप्रत्याख्यान** 'प्रत्याख्यान' का अर्थ होता है 'त्याग'। जिस कषाय के उदय से ईषत् त्याग अर्थात् देश सयम भी ग्रहण किया जा सके, वह अप्रत्याख्यान कषाय है।[6]

(स) **प्रत्याख्यान** जिस कषाय के उदय से सकल सयम को ग्रहण न किया जा सके वह 'प्रत्याख्यान' कषाय है।[7]

(द) **सज्वलन** जिस कषाय के उदय से सकल-सयम तो हो जाए, किंतु आत्म

---

1 जे सि कोष 4/371

2 पाप क्रिया निवृत्तिश्चारित्र ।
त मोहेईआवरेदि त्ति चारित्रमोहणीय ॥ ध पु 6/40

3 ष ख 6/1/9/1, सूत्र 22, पृ 40

4 वही।

5 सम्मत्त देस सयल चारित्त जह घाद करण परिणामो।
घादति व कसाया चउ सोल असख लोग मिदा ॥ गो जी क 283

6 वही।

7 वही।

स्वरूप में स्थिरता रूप यथाख्यात चारित्र न हो, उसे 'संज्वलन' कषाय कहते हैं।[1]

क्रोध चतुष्क : उक्त अनंतानुबंधी आदि कषायों की शक्ति में तरतमता है। इन्हें जैनाचार्यों ने विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट किया है। अनंतानुबंधी क्रोध को पर्वत की गहरी दरार की तरह कहा गया है, जो एक बार फटने के बाद पुनः नहीं मिलती। उसी प्रकार अनंतानुबंधी कषाय का संबंध भव-भवों तक नहीं छूटता। 'अप्रत्याख्यान' के क्रोध को भूमि की दरार की तरह कहा गया है। जैसे गर्मी के दिनों में सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने से दरार पड़ जाती हैं, किंतु वर्षा होते ही वह दरार मिट जाती हैं, उसी प्रकार प्रत्याख्यान कषाय गुरुओं के उपदेशामृत की वर्षा से धीरे-धीरे शांत हो जाती है। यह अधिक से अधिक पंद्रह दिन तक अपना प्रभाव दिखाती है। संज्वलन क्रोध को 'जल की लकीर' की तरह कहा गया है। जैसे जल की लकीर खींचते ही मिट जाती है, वैसे ही यह कषाय उत्पन्न होते ही शांत हो जाती है। इसका वासनाकाल अंतर्मुहूर्त कहा गया है।[2]

मान चतुष्क : इसी प्रकार अनंतानुबंधी आदि चारों प्रकार के मान को क्रमशः शैल, अस्थि, काष्ठ तथा बेल (लता) की उपमा दी गयी है। जैसे शैलादिकों में कड़ापन उत्तरोत्तर अल्प होता है, वैसे ही ये चारों कषाय उत्तरोत्तर मंद प्रभाव वाले हैं।

माया चतुष्क : अनंतानुबंधी आदि चारों प्रकार की माया क्रमशः बांस की गठीली जड़, भेड़ की सींग, गोमूत्र और खुरपे के सदृश कुटिल कही गयी है। इनका प्रभाव भी उत्तरोत्तर अल्प है।

लोभ चतुष्क : इसी तरह चारों प्रकार के लोभ को क्रमशः किरमिजी का दाग, पहिये का औंगन (अक्षनल), कीचड़ एवं हल्दी के रंग की तरह कहा गया है। अनंतानुबंधी किरमिजी के रंग के सदृश है जोकि किसी भी उपाय से नहीं छूटता। अप्रत्याख्यानावरण गाड़ी के पहिये में लगने वाले (ओगन) मल की तरह है, जिसका दाग कठिनता से छूटता है। प्रत्याख्यानावरण लोभ कीचड़ या (देहमल) काजल की तरह है, जो अल्प परिश्रम से छूट जाता है। संज्वलन लोभ हल्दी के सदृश है, जो सहज ही छूट जाता है। उक्त चारों कषाएं क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव गति में उत्पत्ति के कारण हैं।

उपरोक्त सोलह कषायों की शक्ति को निम्न तालिका से स्पष्ट कर सकते हैं—

कषाय की अवस्था	क्रोध	मान	माया	लोभ	फल
अनंतानुबंधी	शिलारेखा	शैल	बांस की जड़	किरमिजी	नरक
अप्रत्याख्यान	पृथ्वी रेखा	अस्थि	भेड़ का सींग	अक्षमल	तिर्यंच
प्रत्याख्यान	धूली रेखा	काष्ठ	गोमूत्र	कीचड़	मनुष्य
संज्वलन	जल रेखा	लता/बेल	खुरपा	हल्दी	देव

नोकषाय वेदनीय : जिनका उदय कषायों के साथ होता है या जो कषायों से प्रेरित होती हैं, वे नोकषाय हैं।[3] इन्हें अकषाय भी कहते हैं। नोकषाय या अकषाय का तात्पर्य

1. वही।
2. प. स. प्रा. गा. 1/111 से 114
3. कषाय सह वर्तित्ववाद कषाय प्रेरणादपि।
हास्यादि नव कषायस्योक्ता नोकषाय कषायता

कषायों का अभाव नहीं, अपितु ईषत् कषाय है। इनके नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद। इनका अर्थ इनके नामों से ही स्पष्ट है।

इस प्रकार दर्शन मोहनीय के तीन तथा कषाय वेदनीय के सोलह और नोकषाय वेदनीय के नौ, इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल अट्ठाईस भेद हो जाते हैं।

मोहनीय कर्म के बंध का कारण : सत्यमार्ग की अवहेलना करने से और असत्य मार्ग का पोषण करने से आचार्य, उपाध्याय, गुरु, साधु संघ आदि सत्य-पोषक आदर्शों का तिरस्कार करने से दर्शन-मोहनीय कर्म का बंध होता है, जिसके फलस्वरूप जीव के संसार का अंत नहीं होता।

स्वयं पाप करने से तथा दूसरों को कराने से, तपस्वियों की निदा करने से, धार्मिक कार्यों में विघ्न उपस्थित करने से, मद्य-मांसादि का सेवन करने और कराने से, निर्दोष व्यक्तियों में दूषण लगाने से चारित्र मोहनीय कर्म का बंध होता है।[1]

आयु कर्म

जीव की किसी विवक्षित शरीर में टिके रहने की अवधि का नाम आयु है। इस आयु का निमित्तभूत कर्म 'आयु' कर्म कहलाता है।[2] जीवों के जीवन की अवधि का नियामक आयु है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु के मुख में जाता है।[3] मृत्यु का कोई देवता या उस जैसी कोई अन्य शक्ति नही है। अपितु आयु कर्म के सद्भाव और क्षय पर ही जन्म और मृत्यु अवलंबित है। इस कर्म की तुलना कारागार से की गयी है।[4] जैसे न्यायाधीश अपराधी को अपराध के अनुसार नियत समय के लिए कैद में डाल देता है। अपराधी की इच्छा होने पर भी वह अपनी अवधि को पूर्ण किये बिना मुक्त नहीं हो सकता वैसे ही आयु कर्म के कारण जीव देह-मुक्त नहीं हो सकता। आयु कर्म का कार्य सुख-दुःख देना नहीं है, किंतु निश्चित समय तक किसी एक भव में रोके रहना है।[5]

आयु दो प्रकार की होती है—अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय।[6]

कारण प्राप्त होने पर जिस आयु की काल मर्यादा में कमी हो सके, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं, तथा बड़े-बड़े कारण आने पर भी निर्धारित आयु की काल मर्यादा एक क्षण को भी कम न हो, उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं। अपवर्तनीय आयु

1 त. वा. 6/14/3
2 जैन सि. को 1/251
3 यद भावाभावयो· जीवित मरण तदायुः/त. वा 8/102, पृ 469
4 जीवस्स अवट्ठाण करेदि हलिव्वठार—कर्म काड-11
5 दुक्ख ण देइ आउ णवि सुह देइ चउसुवि गई सु।
दुक्ख सुहाणाहार धरेई देहट्ठिय जीव ॥ ठाणाग 2/4/105 टीका
6 ध. पु 10/233-34

विष, वेदना, रक्त क्षय, शस्त्रघात, पर्वतारोहण आदि निमित्तों के मिलने से अपनी अवधि से पूर्व ही समाप्त हो सकती है। इसे ही 'अकालमरण' या 'कदलीघात' मरण कहते हैं। जैसे यदि किसी की 100 वर्ष की आयु है तो यह अनिवार्य नहीं कि वह 100 वर्ष तक ही जिए। वह 100 वर्ष की अवधि में कभी भी मरण प्राप्त कर सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी शेष आयु को अगली योनि या पर्याय में जाकर भोगता है, अपितु मृत्यु के क्षण में ही वह अपनी शेषायु को भोग लेता है। जैन दर्शन के नियमानुसार आयु के क्षय होने पर ही मरण होता है। जब तक आयु कर्म का एक भी परमाणु शेष रहता है, तब तक मरण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से एक आयु को दूसरी योनि में जाकर भोगना मात्र कल्पना की उड़ान है।

इसे ऐसे समझें। यदि किसी पेट्रोमेक्स में तेल भरा हो, तो वह अपने क्रम से जलने पर छह घंटे जलता है। यदि उसका बर्नर लीक करने लगे, तो वह पूरा तेल जल्दी ही जल जाता है तथा टैंक के फट जाने पर तो सारा तेल उसी क्षण जल जाता है। इसी प्रकार आयु कर्म भी तेल की तरह है। जब तक कोई प्रतिकूल निमित्त नहीं आते, तब तक वह अपने क्रम से उदय में आता है तथा प्रतिकूल निमित्तों के जुटने पर वह अपने क्रम का उल्लंघन भी कर देता है। यह भी संभव है कि वह एक अंतर्मुहूर्त में ही अपनी करोड़ों वर्ष की आयु को भोग कर समाप्त कर डाले।[1]

देव, नारकी, भोग-भूमि के जीव, चरम देहधारी, तीर्थंकर, अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। इनकी आयु का घात समय-पूर्व नहीं होता। इसीलिए इनका अकाल मरण भी नहीं होता। शेष जीवों में दोनों प्रकार की संभावना है। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि जैन दर्शन के नियमानुसार आयु कर्म घट तो सकता है, किंतु पूर्व में बांधी हुई आयु में एक क्षण की भी वृद्धि नहीं हो सकती।

आयु कर्म के बंध संबंधी विशेष नियम

आठ मूल कर्मों में आयु कर्म का बंध सदा नहीं होता। इसके बंध का विशेष नियम है। अपने जीवन की दो-तिहाई आयु व्यतीत होने पर ही आयु कर्म बंधता है, वह भी अंतर्मुहूर्त तक। इसे अपकर्षकाल कहते हैं। एक मनुष्य/तिर्यंच के जीवन में ऐसे आठ अवसर आते हैं जिनमें वह आयु बांधने के योग्य होता है। इसके मध्य वह आयु का बंध कर ही लेता है अन्यथा मृत्यु से अंतर्मुहूर्त पूर्व तो आयु का बंध हो ही जाता है। कोई भी जीव नयी आयु का बंध किए बिना, नूतन भव को प्राप्त नहीं होता। आयु का बंध न होने पर जीव मुक्त हो जाता है।

मान लीजिए किसी व्यक्ति की 81 वर्ष की आयु हो, तो वह 54 वर्ष की अवस्था तक आयु कर्म के बंध के योग्य नहीं होता। वह पहली बार आयु कर्म का बंध 54 वर्ष की अवस्था में कर सकता है। यदि उस काल में न हो, तो शेष 27 में से दो-तिहाई (अर्थात् 18

1. ध. पु. 10/233-34
2. धवल 10/240

वर्ष बीतने पर) यानि 72 वर्ष की अवस्था में। उस काल में भी न हो तो शेष नौ वर्ष में से छह वर्ष बीतने पर, अर्थात् 78 वर्ष की अवस्था होने पर। उसमें भी न हो तो शेष तीन में से दो वर्ष बीतने पर, अर्थात् 80 वर्ष की अवस्था में। और यदि उसमें भी न हो तो शेष एक वर्ष में से 8 माह बीतने पर अर्थात् 80 वर्ष 8 माह की अवस्था में। यदि उसमें भी न बंधे तो शेष चार माह में से 80 दिन बीत जाने के बाद अर्थात् 80 वर्ष, 10 माह और 20 दिन की अवस्था में। यदि उसमें भी न बंधे, तो शेष 40 दिन के त्रिभाग, 26 दिन 16 घंटे बीत जाने के उपरांत अर्थात् 80 वर्ष, 11 माह, 16 दिन तथा 16 घंटे की अवस्था में। यदि इसमें भी न बंधे, तो शेष अवधि में से 8 दिन, 21 घंटे तथा 20 मिनिट बीत जाने पर अर्थात् 80 वर्ष, 11 माह, 25 दिन, 13 घंटे, 20 मिनिट की आयु में आयु कर्म का बंध हो जाता है यदि उसमें भी न हो पाये तो मरण के अंतर्मुहूर्त पूर्व तो आयु बंध कर ही लेता है।

आयु बंध का यह नियम मनुष्य और तिर्यंचों के लिए है। देव, नारकी तथा भोग भूमि के जीव अपने जीवन के 6 माह शेष रहने पर आयु बंध के योग्य होते हैं। इस छह माह में उनके भी आठ अपकर्ष होते हैं।[1]

आयु बंध के कारण

हिंसा आदि कार्यों में निरंतर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का हरण, इंद्रिय विषयों में अत्यंत आसक्ति तथा मरण के समय क्रूर परिणामों में 'नरकायु' का बंध होता है।[2]

धर्मोपदेश में मिथ्या बातों, को मिलाकर उसका प्रचार करना, शील रहित जीवन बिताना, अति संधान प्रियता अर्थात् विश्वासघात, वंचना और छल-कपट करना आदि 'तिर्यंच' आयु के बंध के कारण हैं।[3]

स्वभाव से विनम्र होना, भद्र प्रकृति का होना, सरल व्यवहार करना, अल्पकषाय का होना, तथा मरण के समय संक्लेश रूप परिणति का नहीं होना आदि 'मनुष्यायु' के बंध के कारण हैं।[4]

सयम, तप धारण करने से, व्रताचरण से, मंद कषाय करने से, श्रेष्ठ धर्म को सुनने से, दान देने से, धर्मायतनों की सेवा तथा रक्षा करने से तथा सम्यक् दृष्टि होने से 'देवायु' का बंध होता है।[5]

नाम-कर्म

'नाना मिनोतीति नामः'[6] जो जीव के चित्र-विचित्र रूप बनाता है वह 'नाम-कर्म' है। इसकी तुलना चित्रकार से की है।[7] जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका और विविध रंगों

1 ध. पु. 10/234
2 सर्वा. सि. 6/15/333
3 वही, 6/16/339
4 सर्वा. सि. 6/17/334
5 त. सा 42-43
6 (अ) ध. पु. 6/13 (ब) ध. पु. 13/209
7 चित्रकार पुरुष वत्नाना रूप चरणता। व. द्र. स. टी. गा. 33

के योग से सुंदर-असुंदर आदि अनेक चित्रों को निर्मित करता है, उसी तरह नाम कर्म रूपी चितेरा, जीव के भले-बुरे, सुंदर-असुंदर, लंबे-नाटे, मोटे-पतले, छोटे-बड़े, सुडौल-बेडौल आदि शरीरों का निर्माण करता है। जीव की विविध आकृतियों एवं शरीरों का निर्माण इसी नाम-कर्म की कृति है। विश्व की विचित्रता में नाम-कर्म रूप चितेरे की कला अभिव्यक्त होती है। इस नाम-कर्म के मुख्य बयालीस भेद हैं, तथा इसके उपभेद कुल तेरानवें हो जाते हैं—

1. गति : जिस कर्म के उदय से जीव एक योनि से अगली योनि में जाता है, वह 'गति' नाम-कर्म है। गतियां चार हैं—मनुष्य, देव, नरक एवं तिर्यंच।

2. जाति : जिस नाम-कर्म के उदय से सदृशता के कारण जीवों का बोध हो, उसे जाति नाम-कर्म कहते हैं।[1] जातियां पांच हैं—एकेन्द्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय तथा पांच इंद्रिय।

3. शरीर : शरीर की रचना करने वाले कर्म को शरीर नाम-कर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर।

4. आंगोपांग : जिस कर्म के उदय से शरीर के अंग और उपांगों की रचना होती है, अर्थात् शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की रचना करने वाला कर्म 'आंगोपांग' नाम-कर्म है। इसके तीन भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक व आहारक। तीनों अपने-अपने शरीर के अनुरूप आंगोपांगों की रचना करते हैं। तैजस और कार्माण शरीर सूक्ष्म होने के कारण आंगोपांग रहित होते हैं।

5. निर्माण : शरीर के आंगोपांगों की समुचित रूप से रचना करने वाला 'निर्माण' नाम-कर्म है।

6. शरीर बंधन : शरीर का निर्माण करने वाले पुद्गलों को परस्पर बांधने वाले कर्म-बंधन-नाम-कर्म हैं। पूर्वोक्त शरीर के अनुसार यह पाच प्रकार का है।

7. शरीर संघात : निर्मित शरीर के परमाणुओं को परस्पर छिद्ररहित बनाकर एकीकृत करने वाले कर्म को शरीर-संघात नाम-कर्म कहते हैं। इसके अभाव में शरीर तिल के लड्डू की तरह अपुष्ट रहता है।[2] यह भी शरीरों की तरह पाच प्रकार का होता है।

8. संस्थान : शरीर को विविध आकृतिया प्रदान करने वाला कर्म 'संस्थान' नाम-कर्म है।[3] इसके छह भेद हैं—

(1) समचतुरस्र संस्थान : सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जीव के सुंदर, सुडौल और समानुपातिक शरीर बनाने वाले कर्म को 'समचतुरस्त्र-सस्थान नाम-कर्म' कहते हैं।

(2) न्योग्रोध परिमंडल : 'न्योग्रोध' अर्थात् 'वट के वृक्ष' की तरह, नाभि से ऊपर की ओर मोटे और नीचे की ओर पतले शरीर का आकार बनाने वाले कर्म को 'न्योग्रोध' परिमंडल संस्थान नाम-कर्म कहते हैं।

(3) स्वाति : सर्प की वामी की तरह नाभि के ऊपर पतले तथा नीचे की ओर मोटे

1. ध. पु. 1/363
2. ध. पु. 6/53
3 सर्वा. सि. पृ. 304

आकार वाला शरीर बनाने वाला कर्म स्वाति संस्थान नाम-कर्म है।

(4) कुब्जक : कुबड़ा शरीर बनाने वाले कर्म को 'कुब्जक संस्थान नाम-कर्म' कहते हैं।

(5) वामन : बौना शरीर बनाने वाला कर्म 'वामन-संस्थान नाम-कर्म' है।

(6) हुंडक : अनिर्दिष्ट आकार को हुंडक कहते हैं। ऐसे अनिर्दिष्ट आकार का विचित्र शरीर बनाने वाले कर्म को 'हुंडक संस्थान नाम-कर्म' कहते हैं।

9. संहनन : अस्थि बंधनों में विशिष्टता को उत्पन्न करने वाले कर्म को 'संहनन नाम कर्म' कहते हैं। वेष्टन, त्वचा, अस्थि और कीलों के बंधन की अपेक्षा इसके छह भेद हैं—1. वज्र वृषभ नाराच, 2. वज्र-नाराच-संहनन, 3. नाराच संहनन, 4. अर्द्ध नाराच संहनन, 5. कीलक संहनन, 6. असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।[1]

10. वर्ण : शरीर को वर्ण (रंग) प्रदान करने वाले कर्म को 'वर्ण नाम-कर्म' कहते हैं। यह कृष्ण, नील, रक्त, पीत एवं श्वेत रूप पांच प्रकार के होते हैं।

11. गंध : शरीर को सुगंध एवं दुर्गंध प्रदान करने वाले कर्म को 'गंध नाम-कर्म' कहते हैं।

12. रस : तिक्त, कटु, आम्ल, मधुर और कसैला रस अर्थात् स्वाद उत्पन्न करने वाले कर्म को 'रस नाम-कर्म' कहते हैं।

13. स्पर्श : हल्का, भारी, कठोर, मृदु, शीत, उष्ण तथा स्निग्ध, रुक्ष आदि स्पर्श के भेदों से शरीर को प्रतिनियत स्पर्श उत्पन्न करानेवाला कर्म 'स्पर्श नाम-कर्म' कहलाता है।

14. आनुपूर्व्य : देह-त्याग के बाद नूतन शरीर धारण करने के लिए होने वाली गति को 'विग्रह गति' कहते हैं। विग्रह गति में पूर्व शरीर का आकार बनाने वाले कर्म को 'आनुपूर्व्य नाम-कर्म' कहते हैं। गतियों के आधार पर यह चार प्रकार का है।

15. अगुरुलघु : जो कर्म शरीर को न तो लौह पिण्ड की तरह भारी, न ही रुई की पिण्ड की तरह हल्का होने दे, वह 'अगुरुलघु नाम-कर्म' है। इस कर्म से शरीर का आयतन बना रहता है। इसके अभाव में जीव स्वेच्छा से उठ-बैठ भी नहीं सकता।

16. उपघात : इस कर्म के उदय से जीव विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से कष्ट पाता है। जैसे प्रतिजिह्वा और चोरदन्त आदि।[2]

17. परघात : दूसरों को घात करने के योग्य तीक्ष्ण नख, सींग, दाढ़ आदि अवयवों को उत्पन्न करने वाले कर्म को 'परघात नाम-कर्म' कहते हैं।[3]

18. उच्छवास : इस कर्म की सहायता से श्वासोच्छवास चलता है या ग्रहण होता है।

19. आतप : जिस कर्म के उदय से अनुष्ण शरीर में उष्ण प्रकाश निकलता है। यह कर्म सूर्य और सूर्यकान्त मणियों में रहने वाले एकेन्द्रियों को होता है। उनका शरीर शीतल होता है तथा ताप उष्ण।

1 ध. पु 6/1 सूत्र 37 गो सा. कर्म का. गा. 35, सर्वा सि. 390
2 ध. पू 6/1 पृ 11, पृ 59
3 ध. पू 6/59

20. **उद्योत** : चंद्रकांत मणि और जुगनू आदि की तरह शरीर में शीतल प्रकाश उत्पन्न करने वाला कर्म 'उद्योत नाम-कर्म' है।

21. **विहायोगति** : इस कर्म के उदय से जीव की अच्छी या बुरी चाल होती है। यह प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार की है। हाथी, हंस आदि की प्रशस्त चाल को प्रशस्त विहायोगति तथा ऊंट, गधा आदि की अप्रशस्त चाल को 'अप्रशस्त विहायोगति' कहते हैं। यहां गति का अर्थ 'गमन' या 'चाल' है।

22. **प्रत्येक** : जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, वह 'प्रत्येक शरीर नाम-कर्म' है। अर्थात् जिस कर्म के उदय से भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त होता है, वह 'प्रत्येक शरीर नाम-कर्म' है।

23. **साधारण** : जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक ही शरीर प्राप्त हो वह 'साधारण नाम-कर्म' है।

24. **त्रस** : जिस कर्म के उदय से द्विइन्द्रियादि जीवों में उत्पन्न हों उसे 'त्रस नाम-कर्म' कहते हैं।

25. **स्थावर** : पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति आदि एकेन्द्रियों में उत्पन्न कराने वाला कर्म 'स्थावर नाम-कर्म' है।

26. **बादर** : स्थूल शरीर उत्पन्न कराने वाला कर्म 'बादर नाम-कर्म ' है।

27. **सूक्ष्म** : सूक्ष्म अर्थात् दूसरों को बाधित एव दूसरों से बाधित न होने वाले शरीर को उत्पन्न करने वाला कर्म 'सूक्ष्म नाम-कर्म' है। इस कर्म का उदयमात्रएकेन्द्रिय जीवों के होता है।

28. **पर्याप्ति** : जिस कर्म के उदय से जीव स्व-योग्य अहारादिक पर्याप्तियों को पूर्ण कर सके वह 'पर्याप्ति नाम-कर्म' हैं।

29. **अपर्याप्ति** : जिस कर्म के उदय से जीव स्व-योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न कर सके, उसे 'अपर्याप्ति नाम-कर्म' कहते हैं।

30. **स्थिर** : शरीर के अस्थि, मांस, मज्जा आदि धातु, उपधातुओं को यथास्थान स्थिर रखने वाले कर्म को 'स्थिर नाम-कर्म' कहते हैं।

31. **अस्थिर** : शरीर के धातु तथा उपधातुओं को अस्थिर रखने वाला कर्म 'अस्थिर नाम-कर्म' है।

32. **शुभ** : शरीर के अवयवों को सुन्दर बनाने वाला कर्म 'शुभ नाम-कर्म' है।

33. **अशुभ** : 'अशुभ नाम-कर्म' असुन्दर शरीर प्राप्त कराता है।

34. **सुभग** : सौभाग्य को उत्पन्न करने वाला कर्म 'सुभग नाम कर्म' है। अथवा जिस कर्म के उदय से सबको प्रीति कराने वाला शरीर प्राप्त होता है। उसे 'सुभग नाम-कर्म' कहते हैं।

35. **दुर्भग** : गुण युक्त होने पर भी दुर्भग नाम-कर्म अन्य प्राणियों में अप्रीति उत्पन्न कराने वाला शरीर प्रदान करता है।

36. **सुस्वर** : कर्ण प्रिय स्वर उत्पन्न कराने वाला कर्म 'सुस्वर नाम-कर्म' है।

37. **दुःस्वर** : 'दुःस्वर नाम कर्म' के उदय से कर्ण-कटु, कर्कश स्वर होता है।

38. आदेय : इस कर्म के उदय से जीव बहुमान्य एवं आदरणीय होता है।[1] प्रभायुक्त शरीर भी 'आदेय' नाम-कर्म की देन है।[2]

39.अनादेय : 'अनादेय' कर्म के उदय से अच्छा कार्य करने पर भी गौरव प्राप्त नहीं होता। यह निष्प्रभ शरीर का कारण भी है।[3]

40. यशःकीर्ति : जिस कर्म के उदय से लोक में यश, कीर्ति, ख्याति और प्रतिष्ठा मिलती है वह 'यशःकीर्ति नाम-कर्म' है।[4]

41. अयशःकीर्ति : इस कर्म के उदय से अपयश और अप्रतिष्ठा मिलती है।[5]

42. तीर्थंकर : 'तीर्थंकर'नाम-कर्म त्रिलोक पूज्य एवं धर्म-तीर्थ का प्रवर्तक बनाता है।[6] इस प्रकार नाम कर्म के मूल बयालीस भेद तथा उत्तर भेदों को मिलने पर कुल 93 (तेरानवें) भेद हो जाते हैं। इनमें कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं।[7]

नाम-कर्म के बंध का कारण

मन-वचन-काय की कुटिलता अर्थात् सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ, इसी प्रकार अन्यों से कुटिल प्रवृत्ति कराना, मिथ्या दर्शन, चुगलखोरी, चित्त की अस्थिरता, परवंचन की प्रवृत्ति, झूठे माप-तौल आदि रखने से अशुभ नाम-कर्म का बंध होता है।[8]

इसके विपरीत मन-वचन-काय की सरलता, चुगलखोरी का त्याग, सम्यक् दर्शन, चित्त की स्थिरता, आदि शुभ नाम-कर्म के बंध का कारण होता है।[9] तीर्थंकर प्रकृति नाम-कर्म की शुभतम प्रकृति है, इसका बंध भी शुभतम परिणामों से होता है। तीर्थंकर प्रकृति के बंध के सोलह कारण बताए गए हैं।

सम्यक् दर्शन की विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता, शील और व्रतों का निर्दोष परिपालन, निरंतर ज्ञान साधना, मोक्ष की ओर प्रवृत्ति (संसार से सतत् भीति), शक्ति अनुसार तप और त्याग, भले प्रकार की समाधि, साधुजनों की सेवा/सत्कार, पूज्य आचार्य, बहुश्रुत व शास्त्र के प्रति भक्ति, आवश्यक धर्म कार्यों का निरंतर पालन, धार्मिक प्रोत्साहन व धर्मीजनों के प्रति वात्सल्य यह सब तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण है।[10]

गोत्र-कर्म

लोक-व्यवहार संबंधी आचरण को गोत्र माना गया है। जिस कुल में लोक मूर्ति आचरण की परम्परा है, उसे उच्च 'गोत्र' कहते हैं तथा जिसमें लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे

1 ध. पु. 6/65
2 सर्वा. सि. 8/11/306
3 वही
4 वही
5 वही
6 धु. पु 6/67
7. विशेष के लिये देखें त. सू. 8/25-26
8. त. सू. 6/22
9. वही 6/23
10. त.सू. 6/29

नीच गोत्र नाम दिया गया है। इन कुलों में जन्म दिलाने वाला कर्म 'गोत्र-कर्म' कहलाता है।[1]

इस कर्म की तुलना कुम्हार से की गयी है। जैसे—कुम्हार अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है। उनमें से कितने ही ऐसे होते हैं, जिन्हें लोग कलश बनाकर चंदन, अक्षत आदि मंगल द्रव्यों से अलंकृत करते हैं और कितने ही ऐसे होते हैं जिनमें मदिरा आदि निन्द्य पदार्थ रखे जाते हैं, इसलिए निम्न माने जाते हैं। इसी प्रकार गोत्र कर्म के उदय से जीव कुलीन/पूज्य/अपूज्य/अकुलीन घरों में उत्पन्न होता है।[2] गोत्र कर्म दो प्रकार का होता है—1. उच्च गोत्र तथा 2. नीच गोत्र।[3]

गोत्र-कर्म के बंध का कारण

परनिंदा, आत्म-प्रशंसा, दूसरे के सद्भूत गुणों का आच्छादन तथा अपने असद्भूत गुणों को प्रकट करना—यह सब नीच गोत्र के बंध के कारण हैं। इसके विपरीत स्व की निंदा, पर की प्रशंसा, अपने गुणों का आच्छादन, पर के गुणों का उद्भावन, गुणाधिकों के प्रति विनम्रता तथा ज्ञानादि गुणों में श्रेष्ठ रहते हुए भी, उसका अभिमान न करना, ये सब उच्च गोत्र के बंध का कारण है।[4]

अन्तराय-कर्म

जो कर्म विघ्न डालता है, उसे अंतराय-कर्म कहते हैं। इस कर्म के कारण आत्मशक्ति में अवरोध उत्पन्न होता है। अनुकूल साधनों और आंतरिक इच्छा के होने पर भी जीव इस कर्म के कारण अपनी मनोभावना को पूर्ण नहीं कर पाता।

इस कर्म को भण्डारी से उपमित किया है। जिस प्रकार किसी दीन-दुःखी को देखकर दया से द्रवीभूत राजा भण्डारी को दान देने का आदेश करता है, फिर भी भण्डारी बीच में अवरोधक बन जाता है। वैसे ही यह अंतराय-कर्म जीव को दान-लाभादिक कार्यों में अवरोध उत्पन्न करता है। इसके पांच भेद हैं[5]—

1. जिस कर्म के उदय से दान देने की अनुकूल सामग्री और पात्र की उपस्थिति में भी दान देने की भावना न हो, वह 'दानांतराय कर्म' है।

2. जिस कर्म के उदय से बुद्धिपूर्वक श्रम करने पर भी लाभ होने में बाधा हो वह 'लाभांतराय कर्म' है।

3. जिसके उदय से प्राप्त भोग्य वस्तु का भी भोग न किया जा सके, वह 'भोगांतराय कर्म' है।

---

1. सताणकर्मणागय जीवायरणस्स गोदमिदिसण्णा। कर्म काण्ड-11-13
2. जह कुभारो भडाइ कुणइ पुज्जेयराइ लोयस्स। इय गोय कुणइः भिय लोए पुज्जेयरानत्थ॥ ठाणांग 2/4/105 टी.
3. उर्च्चनीचैश्च—त.सू.8/12
4. सर्वा. सि. 6/26/340
5. भाण्डागारिकवद् दानादि विघ्न करणता। वृ. द्र. स. टी. गा. 33

4. जिसके उदय से प्राप्त उपभोग्य वस्तु का उपभोग न किया जा सके, वह 'उपभोगांतराय कर्म' है।

5. जिसके उदय से सामर्थ्य होते हुए भी कार्यों के प्रति उत्साह न हो, उसे 'वीर्यांराय कर्म' कहते हैं।

अंतराय कर्म के बंध के कारण : दानादि में बाधा उपस्थित करने से, जिन पूजा का निषेध करने से, पापों में रत रहने से, मोक्ष-मार्ग में दोष बताकर विघ्न डालने से अंतराय कर्म का बंध होता है।[1]

पाप

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि—वैयक्तिक संदर्भ में जो आत्मा को बंधन में डाले जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनंद का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे वह पाप है (पापाय परपीड़नं)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किए जाते हैं, पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं, सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

---

1. (अ) त. सू. 6/27
   (ब) गो. कर्म. का.810

कर्मों की विविध अवस्थाएं

- बध
- सत्ता
- उदय
- उत्कर्षण
- अपकर्षण
- उदीरणा
- सक्रमण
- उपशम
- निधत्ति
- निकाचित
- कर्मों की स्थिति
- अनुभाग
- कर्मों के प्रदेश

कर्मों की विविध अवस्थाएं

पिछले अध्याय में यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार के कर्मों से बंधा जीव संसार में पर्यटन करता है। किंतु यह जरूरी नहीं है कि वह उन्हें जिस रूप में बांधे उसी रूप में भोगे। जीव के शुभाशुभ भावों के अनुसार कर्मों में, बहुत कुछ परिवर्तन संभव है। जीव के शुभाशुभ भावों की अपेक्षा उत्पन्न होने वाली कर्मों की विविध अवस्थाओं को 'करण' कहते हैं। करण दस होते हैं[1]—

(1) बंध

कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ बंधना अर्थात् दूध और पानी की तरह एकमेक हो जाना बंध हैं।[2] बंध के बाद ही अन्य अवस्थाएं प्रारंभ होती हैं। यह चार प्रकार का होता है— 1. प्रकृति, 2. प्रदेश, 3. स्थिति, 4. अनुभाग। इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी

(2) सत्ता

कर्म, बंधने के तत्काल बाद अपना फल नहीं देते। बंधन के दूसरे समय से लेकर फल देने के पहले समय तक कर्म आत्मा में अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं। कर्मों की इस अवस्था को 'सत्ता' कहते हैं।[3] जैसे—शराब पीते ही वह तुरंत अपना असर नहीं देती, किंतु कुछ क्षण बाद ही उसका प्रभाव दिखता है, वैसे ही कर्म भी बंधने के बाद कुछ समय तक सत्ता में रहता है। इस काल को जैन कर्म-शास्त्र में 'अबाधा काल' कहते हैं। साधारणतया कर्म का अबाधा काल उसकी स्थिति के अनुसार होता है। जैसे—जो शराब जितनी अधिक दिनों तक सड़ाकर बनती है, वह उतनी ही अधिक नशीली होती है, उसी प्रकार जो कर्म जितने अधिक समय तक ठहरता है उसकी अबाधा भी उतनी ही अधिक होती है। प्रत्येक कर्मों की अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप अबाधा होती है। जैन कर्म-सिद्धांत में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

1. गो. कर्म. का. 437
2. एकीभावो बन्धः
3. पंच संग्रह 3/3

(3) उदय

कर्मों के फल देने को 'उदय' कहते हैं।[1] उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं।[2] कर्म-पुद्गल का नाश या क्षय 'निर्जरा' कहलाता है।

कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि की अपेक्षा से ही होता है। उदय क्रम से परिपाक काल को प्राप्त होने वाला 'सविपाक' उदय कहलाता है। विपाक-काल से पहले ही तपादि विशिष्ट क्रियाओं द्वारा कर्मों को फलोन्मुख दशा में ले आना 'अविपाक'-उदय कहलाता है।[3]

स्वमुखोदय और परमुखोदय की अपेक्षा, इसके दो भेद किए गए हैं[4], कर्म कभी-कभी अपने ही रूप में फल देते हैं, तथा कभी-कभी अन्य प्रकृति रूप भी फल देते हैं। जो प्रकृति अपने ही रूप में उदय में आती है, उसे 'स्वमुखोदय' तथा अन्य प्रकृति रूप से उदय में आने को 'परमुखोदय' कहते हैं।[5] जैसे—क्रोध का क्रोध रूप से उदय में आना स्वमुखोदय है, तथा उसका मानादिक में परिणत हो जाना 'परमुखोदय' है।

(4) उत्कर्षण

कर्मों की स्थिति व अनुभाग के बढ़ने को 'उत्कर्षण' कहते हैं।[6]

(5) अपकर्षण

कर्म की स्थिति व अनुभाग के घटने को 'अपकर्षण' कहते हैं।[7]

कर्म-बंधन के बाद बधे-कर्मों में ये दोनों ही क्रियाए होती हैं। अशुभ कर्मों का बंध करने वाला जीव, यदि शुभ भाव करता है तो पूर्व-बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग अर्थात् फलदान शक्ति, उसके प्रभाव से कम हो जाती है, और यदि अशुभ कर्म का बंध करने के बाद और भी अधिक कलुषित हो जाता है, तो बुरे भावों के प्रभाव से, उनकी स्थिति तथा अनुभाग में भी वृद्धि हो जाती है। इस उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण, कोई कर्म शीघ्र फल देते हैं तथा कुछ कर्म विलंब से। किसी कर्म का फल तीव्र होता है तथा किसी का मंद। उत्कर्षण और अपकर्षण की विचारधारा यह सिद्ध करती है कि कर्म का फल सर्वथा नियत नहीं है। जीव के शुभाशुभ परिणामनुसार उसमें परिवर्तन संभव है।

1 उदयो विपाका सवो सि. 6/14
2 ततश्चनिर्जरा त. सू. 8/2?
3 सर्वा सि 8/23
4 वही 8/21
5 जै सि. को 1/366
6 स्थिति अनुभगयो वृद्धि उत्कर्षगम् गो णी गा.
7 स्थिति अनुभागयो हानि अपकर्षणम्

(6) उदीरणा

नियत समय के पूर्व कर्मों का उदय में आना 'उदीरणा' कहलाता है ।[1] जैसे, आमादि फल प्रयत्न-विशेष से समय से पूर्व ही पका लिये जाते हैं। वैसे ही, विशेष साधन के बल पर, कर्मों के अपकर्षण द्वारा, स्थिति कम करके नियत समय से पूर्व ही भोगकर क्षय किया जा सकता है ।[2] सामान्यत: यह नियम है कि जिस कर्म का उदय होता है, उसी के सजातीय कर्म की उदीरणा होती है ।[3]

(7) संक्रमण

'संक्रमण' का अर्थ होता है—'परिवर्तन' ।[4] एक कर्म की स्थिति आदि का दूसरे सजातीय कर्म में परिवर्तन हो जाने को 'संक्रमण' कहते हैं ।[5] यह सक्रमण किसी भी एक मूल-प्रकृति की उत्तर-प्रकृतियों में ही होता है। मूल-प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता,[6] अर्थात् ज्ञानावरण बदलकर दर्शनावरण नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य कर्म भी अपने मूल रूप से परिवर्तित नहीं होते। कर्मों का अपने सजातीय प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है, विजातीय में नहीं। इस नियम के अपवाद में आचार्यों ने बताया है कि चारों आयु तथा दर्शन मोहनीय और चरित्र-मोहनीय परस्पर संक्रमण को प्राप्त नहीं होते ।[7] प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के भेद से यह संक्रमण चार प्रकार का होता है।

(8) उपशम

कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी, उदय में आने से रोक देना, 'उपशम' कहलाता है ।[8] कर्मों की इस अवस्था में उदय और उदीरणा संभव नहीं होती। इस अवस्था में अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण की संभावना रहती है। जिस प्रकार राख में ढकी अग्नि आवृत दशा में अपना विशेष कार्य नहीं कर सकती, किंतु आवरण के हटते ही पुनः प्रज्वलित होकर अपने कार्य करने में समर्थ हो जाती है, उसी प्रकार उपशमावस्था को प्राप्त, कर्म-पुद्गल भी अपना प्रभाव नहीं दिखा पाता। इस अवस्था के समाप्त होते ही वह अपना कार्य प्रारंभ कर देता है अर्थात् उदय में आकर अपना फल प्रदान करने लगता है।

1 भुजणकालो उदओ उदीरणापक्वपाचण फल। —पं. सं. प्रा. 3/3
2 जय धवल 10/2
3 उदयस्स उदीरणस्सय सामित्तादो ण विज्जइ विसेसो। —पं. सं. प्रा 44
4 अवत्थादो अवत्थतर सकति सकमोत्ति। —जय धवल 19/3
5 पर प्रकृति रूप परिणमन सक्रमण। —गो कर्मकाड जी. प्र. गा. 438
6. णात्थि मूल पयडीण —गो कर्मकाड गा. 410
7. दसण चरित्र मोहे आउचउक्के ण सक्रमण —गो. कर्मकांड गा.410
8. जैन सि. को 1/464

(9) निधत्ति

कर्म की वह अवस्था 'निधत्ति' कहलाती है, जिसमें उदीरणा और संक्रमण का सर्वथा अभाव रहता है। इस अवस्था में अपकर्षण-उत्कर्षण की संभावना बनी रहती है।[1]

(10) निकाचित

कर्म की उस अवस्था का नाम 'निकाचित' है, जिसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा—ये चारों अवस्थाएं असंभव होती हैं।[2] कर्मों की इस अवस्था को 'नियति' कहा जा सकता है; क्योंकि इस अवस्था में कर्म का फल उसी रूप में अवश्य भोगना पड़ता है, जिस रूप में बंध को प्राप्त हुआ था। इस अवस्था में इच्छा स्वातंत्र्य या पुरुषार्थ का सर्वथा अभाव रहता है। किसी विशेष परिस्थिति में ही कर्मों की यह अवस्था होती है।

कर्मों के इन दस करणों से स्पष्ट है कि जैन कर्म सिद्धांत नियतिवादी नहीं है और सर्वथा स्वच्छंदतावादी भी नहीं है। जीव के प्रत्येक कर्म के द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जो अपना कुछ-न-कुछ प्रभाव दिखाए बिना नहीं रहती और साथ ही जीव का स्वातंत्र्य भी कभी इस प्रकार अवरुद्ध व कुंठित नहीं होता कि वह अपने कर्मों की दशाओं में किसी भी प्रकार का सुधार करने में सर्वथा असमर्थ हो जाए। इस प्रकार जैन सिद्धांत में मनुष्यों के अपने कर्मों के फल भोग तथा पुरुषार्थ द्वारा उसको बदल डालने की शक्ति—इन दोनों में भली-भांति समन्वय स्थापित किया गया है।

कर्मों की स्थिति

जैन कर्म सिद्धांतानुसार प्रत्येक कर्म जीवात्मा के साथ एक निश्चित अवधि तक बंधा रहता है। तदुपरांत वह पेड़ में पके फल की तरह अपना फल देकर जीव से अलग हो जाता है। जब तक कर्म अपना फल देने की सामर्थ्य रखते हैं, तब तक की काल मर्यादा ही उनकी 'स्थिति' कहलाती है।[3] जैन कर्म ग्रंथों में विभिन्न कर्मों की पृथक्-पृथक् स्थितियां (उदय में आने योग्य काल बताई गयी हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

क्रमांक	कर्म का नाम	अधिकतम समय	न्यूनतम समय
1.	ज्ञानावरणी	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
2.	दर्शनावरणी	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
3.	वेदनीय	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	बारह मुहूर्त
4.	मोहनीय	सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
5.	आयु	तैंतीस सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
6.	नाम	बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	आठ मुहूर्त

1. गो. कर्मकाड गा. 450
2. —वही—
3. कम्मसरूवेण परिणदाण कम्मइय पोग्गलक्खधाण कम्मभावमद्दडिय अच्छाण कालो द्विदीणाम।
—जय धवल 3/192

7.	गोत्र	बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	आठ मुहूर्त
8.	अंतराय	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मूहूर्त

सागरोपम आदि उपमा काल हैं। इनके स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जैन कर्मग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए। जिससे काल-विषयक मान्यता का भी ज्ञान हो सकेगा।

अनुभाग

कर्मों के फलदान शक्ति को अनुभाग कहते हैं।[1] प्रत्येक कर्मों का फलदान एक-सा नहीं रहता। जीव के शुभाशुभ भावों के अनुसार बंधने वाले प्रत्येक कर्मों का अनुभाग, अपने-अपने नाम के अनुरूप तरतमता लिये रहता है। कुछ कर्मों का अनुभाग अत्यंत तीव्र होता है। कुछ का मंद तो कुछ का मध्यम। कर्मों का अनुभाग कषायों की तीव्रता व मंदता पर निर्भर रहता है। कषायों की तीव्रता होने पर अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है, शुभ कर्मों का मंद तथा कषायों की मंदता होने पर शुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है तथा अशुभ कर्मों का मंद। तात्पर्य यह है कि जो प्राणी जितना अधिक कषायों की तीव्रता से युक्त होगा उसके अशुभ कर्म उतने ही सबल होंगे, तथा शुभ कर्म उतने ही निर्बल होंगे। जो प्राणी जितना अधिक कषाय मुक्त होगा उसके शुभ कर्म उतने ही प्रबल होंगे एवं पाप कर्म उतने ही दुर्बल होंगे।

कर्मों के प्रदेश

जीव के मन, वचन और काय रूप योगों के निमित्त से जीवों के साथ बंधने वाले कर्म परमाणु 'कर्मों के प्रदेश' कहलाते हैं। जीव के भावों का आश्रय पाकर, एक साथ बंधने वाले सभी कर्मों के प्रदेश समान नहीं होते। उसका भी एक निश्चित नियम है। समस्त कर्म प्रदेश अपने एक निश्चित अनुपात से विविध कर्मों में विभक्त होकर आत्मा के साथ बद्ध हो जाते हैं। उक्त क्रमानुसार आयु कर्म को सबसे कम भाग (हिस्सा) मिलता है। नाम कर्म के प्रदेश उससे कुछ अधिक होते हैं। गोत्र कर्म की मात्रा नाम-कर्म के बराबर ही है। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अंतराय इन तीन कर्मों को कुछ अधिक प्रदेश मिलते हैं। तीनों का योग परस्पर समान होता है। इससे भी अधिक भाग मोहनीय कर्म को जाता है तथा सबसे अधिक कर्म प्रदेश वेदनीय कर्म को मिलता है।[2] यह मूल कर्मों का विभाजन है। इन प्रदेशों का पुनः उत्तर प्रकृतियों में विभाजन होता है। प्रत्येक कर्मों के प्रदेशों में न्यूनता व अधिकता का यही आधार है।

---

1. को अणुभागो कम्माणं सगकज्जकरणसत्ती अणुभागो णाम। —ज. ध. 5/1
2. आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहिओ।
   घादितियेवितत्तो मोहेतत्तो तदो तदिए॥ —गो. कर्म. का. 192

कर्म की फलदान प्रक्रिया और ईश्वर

कर्म स्वरूप के विवेचन के बाद यह सहज ही जिज्ञासा हो जाती है कि शुभाशुभ कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है ? क्या कर्म अपना फल स्वयं देते हैं अथवा अपने फलदान के लिए किसी अचिन्त्य शक्ति की अपेक्षा रखते हैं ? उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर अत्यंत जटिल तथा दार्शनिक गुत्थियों से उलझा हुआ है, साथ ही विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, किंतु विस्तार भय से सिर्फ जैन दर्शन के अनुसार कर्म की फलदान प्रक्रिया पर विचार करते हैं।

जैन कर्म-सिद्धांत के अनुसार कर्म अपना फल देने में स्वतंत्र हैं, परतंत्र नहीं। इस मान्यता के अनुसार बंधे हुए कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर स्वयं उदयावस्था में आकर अपना फल प्रदान करते हैं। कर्मों के फलदान का अर्थ 'विपाक' है। 'विपाक' यानि 'विशिष्ट पाक' जोकि बाह्य परिस्थितियों एवं आंतरिक शक्तियों की अपेक्षा रखकर अपना फल देते हैं। इसे दूसरे शब्दों में कहें कि द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा रखकर ही कर्म अपना फल देते हैं।[1]

कर्मों का फल कषायों की तीव्रता एवं मंदता पर निर्भर करता है। जिस प्रकार भोजन शीघ्र न पचकर, जठराग्नि की तीव्रता-मंदता के अनुसार पचता है, उसी प्रकार कषायों की तीव्रता व मंदता के अनुरूप ही शुभाशुभ कर्मों का फल मिलता है।[2] तीव्र कषायों के साथ बंधे हुए अशुभ कर्मों का फल तीव्र तथा अधिक मिलता है। मद कषायों के साथ बंधने वाले कर्मों का फल मंद और अल्प मिलता है।[3]

शुभाशुभ परिणामों के प्रकर्षाप्रकर्ष के अनुरूप ही कर्मो का शुभाशुभ फल मिलता है।

यह कोई अनिवार्य नहीं कि कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर ही फल दे। जिस प्रकार आमादि फलों को विशेष प्रकार के साधनों द्वारा पकाकर समय पूर्व ही रसदार बना लेते हैं, उसी प्रकार स्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही विशेष तपश्चरणादि द्वारा, कर्मों को पका देने पर, वे अपना फल असमय में भी देते हैं। इस प्रकार कर्म-फल 'यथाकाल' और 'अयथाकाल' दो प्रकार का होता है।[4]

एक समय में बंधे हुए कर्म एक साथ अपना फल नही देते बल्कि अपने-अपने उदय

1 सर्वा सि 8/21 पृ 311
2 सर्वा. सि 8/2 पृ 293
3 का. अनु गा. 319
4 त. वा. 2/83/2

क्रमानुसार ही अपना फल प्रदान करते हैं।

यह कोई जरूरी नहीं कि कर्म अपना फल देकर ही उदय में आएं, क्योंकि आन्तरिक शक्तियों और बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल न रहने पर कर्म अपना फल दिए बिना भी (अन्य कर्म-रूप परिणत होकर) आत्म प्रदेशों से अलग हो सकते हैं।[1]

सभी मूल कर्म अपने-अपने स्वभावानुसार ही अपना फल देते हैं। उनमें परस्पर कोई परिवर्तन नहीं होता।[2] जैसे, ज्ञानावरणी कर्म का फल ज्ञान को कुंठित व अवरुद्ध करने का मिलेगा। दर्शनादि अन्य शक्तियों में बाधा पहुंचाने में, उसका कोई हस्तक्षेप नहीं रहता।

कर्म अपने अवान्तर-भेदों में परिवर्तित हो सकते हैं। जैसे—साता वेदनीय कर्म असाता वेदनीय रूप फल दे सकता है अथवा शुभ नाम-कर्म अशुभ नाम-कर्म रूप फल दे सकता है, किंतु चारों आयु कर्म, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय इसके अपवाद हैं।[3] वे अपना फल स्वमुख से ही देते हैं अर्थात् एक आयु दूसरी आयु रूप नहीं हो सकती। इसी प्रकार दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनोय परस्पर बदलकर अपना फल प्रदान नहीं कर सकते।

कर्म, फल देने के तत्काल बाद आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं, वे पेड़ से गिरे फल की तरह पुनः फल नहीं दे सकते।[4] कर्म फल देने के बाद उनकी 'निर्जरा' या 'क्षय' हो जाती है। क्षय होने का तात्पर्य उनका सर्वथा विनष्ट होने से नहीं है, वरन् उनके कर्मरूप पर्याय को छोड़कर अन्य अकर्मरूप पर्यायों में परिवर्तित हो जाने से है।

ये है संक्षेप में, जैन कर्म सिद्धांत। "जैसी करनी-वैसी भरनी" या "जो जस करहि, सो तस फल चाखा" आदि कहावतों का प्रमुख आधार यही है। कुछ दार्शनिकों का मानना है कि कर्म अपना फल स्वयं नहीं देते, क्योंकि वे अचेतन हैं। अपना फल देने के लिए कर्म अचिन्त्य शक्ति के अधीन है। जिस प्रकार निष्पक्ष और स्वतंत्र न्यायाधीश निर्णय करके दोषी को दंड देता है, उसी प्रकार कर्मों का फल देने वाला सर्व-शक्तिमान ईश्वर है। वही जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है। वे कहते हैं कि ईश्वर द्वारा प्रेरित जीव स्वर्ग या नरक जाता है। ईश्वर की सहायता के बिना कोई भी जीव सुख-दुःख पाने में समर्थ नहीं है।[5]

जैन दर्शन के अनुसार कर्म अपना फल स्वयं प्रदान करते हैं। उसके लिए किसी अन्य, ईश्वर जैसे न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वर तो सुखादि अनंत चतुष्ट्यों से युक्त और कृत्य-कृत्य होता है। वह हमारे शुभाशुभ कर्मों में हस्तक्षेप क्यों करेगा।

परम वीतरागी, महान करुणावान ईश्वर किसी को कर्मों का फल तीव्र अशुभ तथा

1. भग. आ. गा. 1170
2. सयथानाम, त. सू. 8/22
3. कर्म कांड गा 410
4. पक्के फलम्मि पडिदे जहण फलं वज्झदे पुणो विटे।
   जीवस्स कम्म भावे पडिदे ण पुणोदय मुवेदि। —समयसार 175
5. ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा।
   अन्योजन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयो॥ —स्याद्वाद मं टी., पृ. 30 पर उद्धृत

किसी को शुभ प्रदान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसके पक्षपाती और क्रूर-परिणामी होने का प्रसंग आता है। यदि कहा जाए कि ईश्वर अपनी इच्छा से फल नहीं देता अपितु कर्मों के अनुसार ही फल देता है। तब जैन दार्शनिकों का कहना है कि यदि ऐसा है, तो इस विषय में ईश्वर जैसे महान् कारुणिक का नाम न घसीटकर कर्मों को ही उसके स्थान पर बिठा लेना चाहिए। ईश्वर को कर्मों का फलदाता मानने संबंधी मान्यता अनेक दृष्टियों से दूषित है। उनमें से कुछ निम्न हैं—

1. यदि ईश्वर जीवों को कर्म-फल प्रदान करने के लिए पाप-पुण्य के अनुसार सृष्टि करता है, तो ईश्वर को स्वतंत्र कहना व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि ईश्वर कर्म-फल देने में अदृष्ट की सहायता लेता है।[1] अतः जीवों को अपने अदृष्ट के उदय से ही सुख-दुःख और साधन उपलब्ध होते हैं। इसलिए इस विषय में ईश्वरेच्छा व्यर्थ है।
2. अदृष्ट के अचेतन होने से वह किसी बुद्धिमान की प्रेरणा से ही फल दे सकता है, यह कथन भी ठीक नहीं है, अन्यथा हम लोगों की प्रेरणा से भी अदृष्ट को फल देना चाहिए।[2]
3. ईश्वर को कर्मों का फलदाता मानने पर उसे कुंभकार की तरह कर्त्ता मानना पड़ेगा, कुंभकार शरीरी है और ईश्वर अशरीरी। अतः मुक्त जीव की तरह अशरीरी ईश्वर कर्मों का फल कैसे दे सकता है।[3]
4. ईश्वर को कर्मों का फलदाता मानने पर किसी भी निदनीय कार्य का दंड किसी भी जीव को नहीं मिलना चाहिए क्योंकि उसमें उनका कोई दोष नहीं हैं, वे तो ईश्वर से प्रेरित होकर ही उक्त कृत्यों में प्रवृत्त होते हैं। मगर जीवों को हत्या आदि अपराध करने पर दंड मिलता है। इससे सिद्ध है कि ईश्वर शुभ-अशुभ कर्मों का फलदाता नहीं है।[4]
5. ईश्वर को पूर्व कृत शुभाशुभ कर्मों का फलदाता मानने पर जीव द्वारा किए गए सभी कर्म व्यर्थ हो जायेंगे।[5]

अतः ईश्वर को कर्मों का फलदाता न मानकर उन्हें अपने फल देने में स्वतत्र मानना ही युक्ति-युक्त है। तभी पूर्ण कृत्य-कृत्य ईश्वर-कर्तृत्वादि दोषों से बच सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवद्गीता में भी उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा गया है कि

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य स्नजति प्रभू।
न कर्म फल संयोगं स्वभावस्तु प्रर्वत्तते॥
ना दत्ते कस्यचिद् पापं न चैव सुकृतं विभू·।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव॥

भगवद्गीता 5/14/15

1 षडदर्शन सम्मुच्य टी का ४६, पृ 182-183
2 अस्मादादीनामपि । ततस्तत् 'परिकल्पन व्यर्थमेव स्यात।
विश्व तत्व प्रकाश (भावसेन) त्रेविध्व पृ 56
3 अष्ट सहस्त्री—पृ. 271 (बबई प्रकाशन 1915)
4 A विशेष विवेचन देखे प्रमेय कमलमार्तण्ड पृ0 265-84
B न्याय कुमुदचद्र भाग-1 पृ0 97-109
C षड दर्शन सम्मुच टी पृ 167-187
5 द्वात्रिंशतिका (अमितगति)

अपने विशाल सघ के साथ सिहासन पर विराजित आचार्यश्री दोनो ओर मच पर आसीन नग्न अवस्था मे मुनियो के साथ लगोटीधारी ऐलक और दुपट्टाधारी क्षुल्लक दृष्टिगोचर हो रहे है तथा नीचे ब्रह्मचारी (श्रावक) गण विराजित है।

श्रमण संघ के साथ पदयात्रा करते हुए आचार्यश्री

जेन आर्यिकाओ (साध्वियों) का समूह पदयात्रा करते हुए

कशलाच करत जन मुनि

आहार ग्रहण करत हुए जन मुनि

कर्म मुक्ति के उपाय :—(संवर-निर्जरा)

- **संवर**
    - संवर का महत्व
    - संवर के भेद
    - संवर के साधन
    - व्रत
    - समिति
    - गुप्ति
    - धर्म
    - अनुप्रेक्षा
    - परिषह-जय
    - चारित्र,

- **निर्जरा**
    - निर्जरा का अर्थ
    - निर्जरा के साधन
    - तप का महत्त्व
    - तप का लक्षण
    - तप के भेद
    - बाह्य तप
    - अभ्यन्तर तप

कर्म मुक्ति के उपाय

संवर

जीव अपने मोह और अज्ञान के कारण निरन्तर कर्मों का आस्रव और बंध करता आ रहा है। आखिर कर्म बंध के इस अनंत प्रवाह का कोई अंत भी है या नहीं? क्या बध की यह परंपरा ऐसे ही चलती रहेगी? या उससे बचने का कोई उपाय भी है? इसका एक ही उपाय है वह है संवर। संवर का अर्थ होता है—रोकना, बंद करना। यह आस्रव का विरोधी है। आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं।[1] आस्रव जहां कर्म मल के प्रवेश करने में नाली की तरह है, तो संवर उस नाली के प्रवेश द्वार को बद कर कर्म-प्रवाह को रोकता है। इससे नवीन कर्मों का आस्रव रुक जाता है, और सतागत संचित कर्मों की अभिवृद्धि पर अकुश लग जाता है। इसलिए संवर को परम उपादेय माना गया है। सवर का व्यौत्पत्तिक अर्थ भी यही है। सम्यक् वरण को, संवरण को, संवर कहते हैं। जो अच्छी तरह से वरण करने योग्य हो, अपनाने योग्य हो, वह संवर है।

संवर का महत्त्व

मोक्षमार्ग में संवर का महत्वपूर्ण स्थान है। संवर से ही मोक्षमार्ग के विकास का क्रम प्रारंभ होता है। जितना-जितना संवर होता है, उतना-उतना ही आत्मिक विकास होता जाता है। सवर सहित निर्जरा को ही मोक्षमार्ग का साधन कहा गया है।

मान लीजिये हमें एक ऐसी नाव पर यात्रा करना पड़ रहा है, जिसमें अनेक छिद्र हैं, जिसमें जल प्रविष्ट हो रहा है, नाव का भार बढ़ रहा है, उसका सतुलन खो रहा है, वैसी स्थिति में उस नाव को खाली करना तभी संभव होगा, जब हम उसके छिद्रों को बंद कर जल उलीचना प्रारंभ करें। उसके अभाव में निरंतर उलीचते रहने के बाद भी नाव को खाली कर पाना मुश्किल है क्योंकि जिस गति से हम पानी उलीच रहे हैं, वहीं दूसरी ओर, उसी गति से जल भी प्रविष्ट हो रहा है। वैसी स्थिति में नाव को खाली कर पाना असंभव है। हमारा मारा परिश्रम व्यर्थ सिद्ध होगा। परिणामतः उस नाव को डूबने से नहीं बचाया जा सकता। जीवात्मा भी एक नाव के समान है, जो संसार समुद्र में तैर रही है। हमारे शुभाशुभ भावों के छिद्रों से उसमें निरंतर कर्म-जल प्रवेश कर रहा है। उन छिद्रों को बंद करने पर ही हम अपनी नाव को उबार सकते हैं। निर्जरा के लिए संवर अनिवार्य है।

1 तत्वार्थ सूत्र अध्याय 9/1

संवर के भेद

द्रव्य और भाव की अपेक्षा संवर के दो भेद किए गए हैं। कर्म परमाणुओं के आगमन का निरोध हो जाना द्रव्य संवर है[1] तथा आत्मा के जिन भावों से कर्मों का आगमन रुकता है, उन्हें भाव-संवर कहते हैं।[2]

संवर के साधन

व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और चारित्र ये सात मवर के साधन कहे गये है। इनके पालन से उत्पन्न आत्मिक विशुद्धि कर्म-प्रवाह को रोक देती है। ये मूलत सात हैं कितु अपने उत्तर भेदो को मिलाने पर कुल बासठ हो जाते हैं।

व्रत

पापों से विरत होने/दूर हटने को व्रत कहते हैं। "हिसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेम्योविरतिर्व्रतम्'।[3] हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाच को पाप कहा गया है। इनसे विरत होना/इनका त्याग करना ही व्रत कहलाता है।

उक्त पाच पापो का त्याग करने पर क्रमश अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत होते हैं। इनके पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते है तथा आशिक त्याग को अणुव्रत कहते हैं।[4] महाव्रतों का पालन साधुगण करते हैं तथा अणुव्रतो का पालन श्रावक/गृहस्थ जन-समाज में रहते हुए अपनी शक्ति के अनुसार करते है।

अहिसा . मन, वचन, काय से किसी को कष्ट पहुचाना हिसा है। उनके त्याग को अहिसा कहते है।

सत्य : जो यथार्थ नही है, उसे कहना झूठ है। इस झूठ का त्याग करना 'सत्य' व्रत है।

अचौर्य : बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। इसके त्याग को 'अचौर्य' व्रत कहते है।

ब्रह्मचर्य : मैथुन-कर्म को कुशील कहते है। इनका मन, वचन और काय से त्याग करना 'ब्रह्मचर्य' व्रत है।

अपरिग्रह : मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं। धन-धान्य, कुटुम्ब, परिवार और अपने शरीर के प्रति उत्पन्न आसक्ति को मूर्च्छा कहते हैं। इस मूर्च्छा का त्याग ही 'अपरिग्रह' व्रत है।

समिति

सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं।[5] समिति का अर्थ हुआ 'सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना'।

1 अ-हरि पु पृ 58/300 ब-प का जय वृ 143
2 अ सर्वा सि-9/1 ब हरि पु 58/300
3 तत्वार्थ सूत्र 7/1 4 तत्वार्थ सूत्र 7/2
5 (अ) भग आ विजयो—16 (ब) सर्वा सि-9/2 (स) आचार सार 5/137

उठने-बैठने, चलने-फिरने आदि क्रियाओं में होने वाली सावधानी ही समिति कहलाती है। समिति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है 'समेकी भावेनेति इति समिति' अर्थात् हम जिस क्रिया में संलग्न हैं उस क्रिया में एक भाव होना, पूरी तत्परता और एकाग्रता होना समिति है। अपनी प्रवृत्तिगत सावधानी या आत्म जागृति ही समिति है।

समितियां पांच होती हैं—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापन समिति।

1. **ईर्या समिति** : किसी भी जीव-जन्तु को क्लेश न हो, इस प्रकार सावधानीपूर्वक, चार हाथ जमीन देखकर चलना 'ईर्या' समिति है।

2. **भाषा समिति** : सत्य, हितकारी, परिमित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है। बोलते समय बरती जाने वाली सावधानी 'भाषा' समिति है।

3. **एषणा समिति** : शुद्ध और निर्दोष आहार विधि-पूर्वक ग्रहण करना 'एषणा समिति' है।

4. **आदान-निक्षेपण समिति** : 'आदान' का अर्थ होता है 'ग्रहण करना' तथा 'निक्षेपण' का अर्थ रखना है। वस्तु को देखभाल कर, सावधानीपूर्वक, जीवरहित स्थानों पर उठाना-रखना 'आदान-निक्षेपण समिति' है।

5. **प्रतिष्ठापन समिति** : भली-भांति देखकर शुद्ध और निर्जन्तुक स्थान पर अपने मल-मूत्र का त्याग करना 'प्रतिष्ठापन' समिति है, अर्थात् मल-मूत्र के त्याग में रखी जाने वाली सावधानी। इसे 'व्युत्सर्ग' समिति भी कहते हैं। ये पांचों समितियां कर्म-विनाश के कारण हैं तथा इन्हें साधना-पथ का मूल माना गया है।

गुप्ति

पाप क्रियाओं से आत्मा को बचाना गुप्ति है।[1] 'गुप्ति' का शाब्दिक अर्थ होता है 'गोपन करना/रक्षा करना' अर्थात् मन-वचन-काय की अकुशल प्रवृत्तियों से आत्मा की रक्षा करना 'गुप्ति' है।[2] मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को उन्मार्ग से रोकना, यही गुप्ति शब्द का भावार्थ है। गुप्तियां तीन हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। मन का राग-द्वेष, क्रोधादि से अप्रभावित होना 'मनोगुप्ति' है।[3] असत्य वाणी का निरोध करना अथवा मौन रहना 'वचन गुप्ति' है।[4] तथा शरीर को वश में रखकर हिंसादिक क्रियाओं से दूर होना 'कायगुप्ति' है।[5] यह गुप्ति ही संवर का साक्षात् कारण है। गुप्ति में असत् क्रिया के निरोध की मुख्यता रहती है तथा समिति में सत् क्रिया की प्रवृत्ति की मुख्यता रहती है। गुप्ति और समिति में यही अंतर है।

1. योगसार स्वो.वृत्ति 7/34
2. भग. आ. विजयो 16
3. भग. आ. विजयो 115
4. नि. सा.-65, मू. चा. 5/135, भग आ.1187
5. भग. आ. विजयो 115

धर्म

जो व्यक्ति को दु ख से मुक्त कराकर सुख तक पहुचा दे, उसे धर्म कहते हैं।[1] इस धर्म के दस लक्षण कहे गए हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, अकिचन्य और ब्रह्मचर्य। ये दसों धर्म आत्मा के भावनात्मक परिवर्तन से उत्पन्न विशुद्ध परिणाम हैं, जो आत्मा को अशुभ कर्मों के बध से रोकने के कारण सवर के हेतु हैं। ख्याति, पूजा आदि से निरपेक्ष होने के कारण इनमे 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है।

1. क्षमा क्रोध के कारण उपस्थित रहने पर भी क्रोध न करना क्षमा है। कायरता क्षमा नही है। समर्थ रहने पर भी क्रोधोत्पादक निदा, अपमान, गाली-गलौच आदि प्रतिकूल व्यवहार होने पर भी मन मे कलुषता न आने देना 'उत्तम क्षमा' है।

2. मार्दव चित्त मे मृदुता और व्यवहार में विनम्रता 'मार्दव' है। यह मान कषाय के अभाव मे प्रकट होता है। जाति, कुल, रूप, ज्ञान, तप, वैभव, प्रभुत्व और ऐश्वर्य सबधी अभिमान-मद कहलाता है। इसे विनश्वर समझ मान कषाय को जीतना 'मार्दव' कहलाता है।

3. आर्जव 'आर्जव' का अर्थ होता है—'ऋजुता' या 'सरलता', अर्थात् बाहर-भीतर एक होना। मन में कुछ, वचन मे कुछ तथा प्रकट मे कुछ, यह प्रवृत्ति कुटिलता या मायाचारी है। इस मायाकषाय को जीतकर मन, वचन और काय की क्रिया में एकरूपता लाना 'आर्जव' है।

4. शौच 'शौच' का अर्थ होता है—'पवित्रता' या 'सफाई'। मद, क्रोधादिक बढाने वाली जितनी दुर्भावनाए है, उनमे लोभ सबसे प्रबल है। इसे जीतकर लोभ पर विजय पाना ही उत्तम शौच है।

5. सत्य यथार्थ बोलना सत्य है। दूसरो के मन मे सन्ताप उत्पन्न करने वाले, निष्ठुर और कर्कश, कठोर वचनो का त्याग कर, सबके हितकारी और प्रिय वचन बोलना 'सत्य' धर्म है। अप्रिय शब्द भी असत्य की कोटि मे आ जाता हे।

6. सयम 'सयम' का अर्थ होता है—'आत्म नियत्रण/पाचो इद्रियो की प्रवृत्तियो पर अकुश रखकर, उनकी निरर्गल प्रवृत्तियो पर नियत्रण रखना 'सयम' धर्म है।

7. तप इच्छा के निरोध को 'तप' कहते है। विषय कषायो का निग्रह करके बारह प्रकार के तप में चित्त लगाना 'तप' धर्म है। तप धर्म का प्रमुख उद्देश्य चित्त की मलिन वृत्तियो का उन्मूलन है।

8. त्याग परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते है। बिना किसी प्रत्युपकार की अपेक्षा के अपने पास होने वाली ज्ञानादि सपदा को दूसरो के हित व कल्याण के लिए लगाना उत्तम 'त्याग' है।

9. आकिचन्य ममत्व के परित्याग को 'आकिचन्य' कहते हैं। आकिचन्य का अर्थ होता है 'मेरा कुछ भी नही है।' घर-द्वार, धन-दौलत, बधु-बाधव आदि यहा तक कि शरीर भी मेरा नही है। इस प्रकार का अनासक्ति भाव उत्पन्न होना 'आकिचन्य' धर्म है। सबका

---

1 सर्वा सि. 3/2

त्याग करने के बाद भी उस त्याग के प्रति ममत्व रह सकता है, आकिंचन्य धर्म में उस त्याग के प्रति होने वाले ममत्व का त्याग कराया जाता है।

10. **ब्रह्मचर्य** : ब्रह्म अर्थात् आत्मा में रमण करना ब्रह्मचर्य है। रागोत्पादक साधनों के होने पर भी, उन सबसे विरक्त होकर, आत्मोन्मुखी बने रहना ब्रहचर्य धर्म है।

इस प्रकार धर्म के यह दस लक्षण कोई बाहरी तत्त्व नहीं हैं वरन् विकारों के प्रभाव में प्रकट होनेवाली आत्म-शक्तियां ही हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच—ये आत्मा के अपने भाव हैं, जो क्रमशः क्रोधादिक विकारों के अभाव में प्रकट होते हैं, तथा सत्य, संयम, तप और त्याग इनकी प्राप्ति के उपाय हैं, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य धर्मों का सार है।

अपनी आत्मा पर आस्था, अपने अविनश्वर वैभव का ज्ञान और अपने आत्म-ब्रह्म में रमण धर्म का सार तो इतना ही है। चारों गतियों के दुःखों से छुड़ाने की सामर्थ्य इसी में है।

अनुप्रेक्षा

किसी भी पदार्थ का बार-बार चिंतन अनुप्रेक्षा कहलाती है। विचारों का हमारे मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का जब हम अंतर-विश्लेषण करते हैं तो बहुत कुछ सार तत्त्व हमारे हाथ आ जाता है, हमारा मनोबल बढ़ता है, और हम सत्य पुरुषार्थ की ओर प्रयत्नशील होते हैं। संसार शरीर और भोगों के स्वरूप पर जब हम बार-बार विचार करते हैं, तो उनकी निःसारता हमारी समझ में आने लगती है तथा सहज ही वैराग्य के अंकुर फूटने लगते हैं। इसलिए इन्हें वैराग्य की उत्पत्ति में माता की तरह कहा गया है। जैन दर्शन में बारह अनुप्रेक्षाएं प्रसिद्ध हैं। इन्हें बारह भावना भी कहते हैं। वे हैं क्रमशः अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ और धर्म। आइए अब हम इनके स्वरूप पर विचार करें।

1. **अनित्य अनुप्रेक्षा** : संसार में जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश सुनिश्चित है। संसार के सारे संयोग विनाशशील हैं, क्षण-क्षयी हैं। चाहे हमारा शरीर हो, सम्पत्ति हो या संबंधी, सबके-सब छूटने वाले हैं। इनका अस्तित्व भोर के तारे की तरह है, जो कुछ ही क्षणों में विलीन होने वाला है। इस प्रकार का चिंतन करना 'अनित्यानुप्रेक्षा' है।

2. **अशरण अनुप्रेक्षा** : जन्म, जरा और मृत्युरूपी भयों से, इस संसार में कोई भी किसी को बचा नहीं सकता। चाहे कितना ही बड़ा परिकर और परिवार हो, धन और वैभव हो अथवा देवी-देवताओं की उपासना की जाए, मृत्यु के समय इनका कोई जोर नहीं चलता, सारे साधन रहते हुए भी निष्प्राण हो जाते हैं। जन्म लेने वाले का मरण अनिवार्य है। बड़ी-बड़ी औषधि, मंत्र-तंत्र और संसार के सारे पदार्थ व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार शेर के मुख में रहने वाले हिरण को कोई बचा नहीं सकता, उसी प्रकार इस जीव को मृत्युरूपी सिंह के मुख से नहीं बचाया जा सकता। ऐसी स्थिति में कोई शरण और सहारा है तो मात्र देव, धर्म और गुरु ही हमारे शरण हैं जो हमें मृत्यु के आतंक से बचा सकते हैं, इस प्रकार का चिंतन करना 'अशरणानुप्रेक्षा' है।

3. ससार अनुप्रेक्षा जन्म, जरा और मृत्युरूपी इस ससार में सभी जीव चारों गतियों में भ्रमण करते हुए दुख पाते हैं। समार में रहने वाले सभी प्राणी दुखी हैं। चाहे वह बहुत वैभव सम्पन्न हो, उसके पास सारी सुविधाए हों अथवा वैभवहीन, दरिद्र हो, अभावग्रस्त हो, सभी के सभी दुखी हैं। फर्क इतना है कि धनवान अधिक पाने की चाह में दुखी हो रहा है तथा निर्धन अभाव के कारण दुखी हो रहा है। गरीब की कोशिश है—अपने अभाव को मिटाने की तथा सपन्न वर्ग की चाहत है—और अधिक पाने की। इस प्रकार सब आशा और तृष्णा के अधीन होकर तदनुरूप दुखी है। इस प्रकार का चितन करना 'ससारानुप्रेक्षा' है।

4. एकत्व अनुप्रेक्षा ससार में प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही जन्म लेता है। जन्म के समय उसके साथ कोई नही आता। सारे रिश्ते नाते, सगी-साथी सब बीच में ही मिलते हैं, तथा यह मरता भी अकेला है। इसके साथी न तो जन्म के समय इसके साथ आते है और न ही मरण के बाद कोई इसके साथ जाता है। अपना सुख-दुख उसे अकेला ही भोगना पडता है। उसे ससार की पूरी यात्रा अकेले ही पूर्ण करनी पडती है। इस प्रकार का विचार करना 'एकत्वानुप्रेक्षा' है।

5. अन्यत्व अनुप्रेक्षा · बाहर से दिखने वाले धन-वैभव तथा परिवार-परिजन ये सब मुझसे पृथक् हैं, ये मेरे नही है। यहा तक कि यह देह, जिसका मेरे साथ बडा घनिष्ठ सबध है, यह भी मेरी नही है। यद्यपि दूध और पानी की तरह मिली-जुली होने के कारण यह एक-सी दिखती है, किंतु विवेक के द्वारा इनका भेद जाना जाता है। मै अपने पुरुषार्थ के बल पर अपनी आत्मा को इस शरीर की कैद से मुक्त कर सकता हू। इस प्रकार का विचार करना 'अन्यत्व अनुप्रेक्षा' है।

6. अशुचि अनुप्रेक्षा यह ऊपर से गोरा, काला या सुदर दिखाई पडने वाला शरीर भीतर से उतना ही घिनौना है। इसके अदर कोई सार नही है। इसे जितना साफ करने का प्रयास करते हैं, यह उतनी ही मैली होती जाती है। इतना ही नही, इसके सपर्क मे आने वाली केशर, चदन, पुष्प जैसी बहुमूल्य सामग्री भी अपवित्र हो जाती है। इस देह का शृगार करना तो विष्ठा के घडे को फूलों से सजाने जैसा कृत्य है। इस शरीर के द्वारा तप करने मे ही सार्थकता है। इसी से यह पवित्र होता है। इस प्रकार का विचार 'अशुचि अनुप्रेक्षा' है।

7. आस्रव अनुप्रेक्षा . मैं अपने मन, वचन और काय की क्रियाओं के कारण, निरतर, अनेक प्रकार के कर्मों का आस्रव कर रहा हू, जिससे सम्बद्ध हो, अनेक प्रकार के कर्म हमारी आत्मा को नाना योनियों में भटका रहे हैं। जब तक हमारा अज्ञान दूर नही हो जाता, तब तक हम इस आस्रव से नही बच सकते। इस प्रकार का चितन करना 'आस्रवानुप्रेक्षा' है।

8. सवर अनुप्रेक्षा प्रनि समय आस्रवित होने वाले कर्मों को रोके बिना हमारी आत्मा का विकास सभव नही। सवर के माध्यम से ही कर्मों को रोका जा सकता है। इसके साधन मेरे जीवन में कैसे अवतरित हो ? इस प्रकार का विचार करना 'सवर अनुप्रेक्षा' है।

9. निर्जरा अनुप्रेक्षा . कर्मों के झडने को निर्जरा कहते हैं। तप के द्वारा सभी कर्मों की निर्जरा होती है। जब तक मैं अपने कर्मों की निर्जरा नही कर लेता, तब तक मैं अपने आत्मिक सुख को नही पा सकता। सवरपूर्वक जब तपरूपी अग्नि मेरे अतर में प्रकट होगी,

तभी मेरी आत्मा आलोकित होगी। इस प्रकार का विचार करना 'निर्जरा' अनुप्रेक्षा है।

10. लोक अनुप्रेक्षा : अपने आत्म-स्वरूप को भूलकर, मैं अनादि से इस लोक में भटक रहा हूं। यह लोक छह द्रव्यों का संयुक्त रूप है। किसी के द्वारा बनाया नहीं गया है; न ही इसका विनाश संभव है, यह अनादि निधन है। चौदह राजू ऊंचाई वाले पुरुषाकार इस लोक में, मैं अपने अज्ञान के कारण भटकता हुआ अकथनीय दुःखों का पात्र रहा हूं। अब जैसे भी बने, मुझे इस परिभ्रमण को समाप्त कर अपने शाश्वत स्वरूप को प्राप्त करना है, जहां जाने के बाद किसी प्रकार का आवागमन नहीं होगा। इस प्रकार के चितन को 'लोकानुप्रेक्षा' कहते हैं।

11. बोधि-दुर्लभ अनुप्रेक्षा : धन-धान्यादि बाह्य सासारिक सम्पदा तो मैं अनेकों बार प्राप्त कर चुका, पर उनसे मुझे किसी प्रकार का सुख या सतोष नहीं मिला। किंतु संसार से पार उतारने वाला यह ज्ञान, मुझे बहुत दुर्लभता से प्राप्त हुआ है। इसकी प्राप्ति उतनी ही दुर्लभ है, जितनी कि किसी शहर के चौराहे पर रत्नों की राशि का पाना। अतः रत्नों से भी बहुमूल्य इस बोधि रत्न को पाकर मुझे इसके संरक्षण और संवर्धन में लगना चाहिए। इस प्रकार के चिंतन को 'बोधि-दुर्लभ' अनुप्रेक्षा कहते है।

12. धर्म-भावना अनुप्रेक्षा : लोक के सारे संयोग और मबध यहीं छूट जाते हैं, धर्म इस जीव के साथ परलोक में भी जाता है। धर्म ही इसका सच्चा साथी है। यही हमारा वास्तविक मित्र है। इससे ही हमारा कल्याण होगा। इस प्रकार के चितन से अपनी धार्मिक आस्था दृढ़ करना 'धर्मानुप्रेक्षा' है।

इन बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का हमारे जीवन मे बहुत अधिक महत्त्व है। इन पर अनेक ग्रन्थ प्राकृत और संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं, तथा अनेक हिंदी के कवियों ने भी अपनी लेखनी का विषय बनाया है। उनका आलंबन लेकर, हम महज ही इनका सविस्तार चिंतन कर सकते हैं।

परिषह जय

अंगीकृत धर्म-मार्ग में स्थिर रहने के लिए तथा कर्म बध के विनाश के लिए जो भी प्रतिकूल परिस्थितियां समतापूर्वक सहन करने योग्य हों, उन्हें परिषह जय कहते हैं। कहा भी है

मार्गाच्यवन निर्जरार्थ परिषोढव्याः परिषहा ।[1]

'परिषह' यह शब्द 'परि' और 'षह' इन दो शब्दों के सम्मेल से बना है। 'परि' अर्थात् 'सब ओर से' 'षहः' का अर्थ होता है 'सहना', यानि सब ओर आए हुए कष्टों तथा दुःखों को समतापूर्वक सहन करना ही परिषह जय है। दिगम्बर साधु इमका पालन करते हैं। चूंकि वे प्रकृति में रहते हैं तथा सभी प्रकार के साधन व सुविधाओं से दूर रहते हैं, ऐसी स्थिति में समता भाव को नष्ट करने वाली अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और वे ही स्थितियां उनके समत्व की परीक्षा के विशेष स्थल हैं। यद्यपि ऐसी परिस्थितियां अनगिनत

1. तत्वार्थ सूत्र—9/8

हो सकती है, किंतु उनमें बाईस का उल्लेख मुख्य रूप से किया गया है, और सन्मार्ग से च्युत न होने के लिए तत्संबंधी क्लेशों पर विजय पाने का उपदेश दिया गया है। वे हैं क्रमशः—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डॉस-मच्छर, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।

1-2. क्षुधा-तृषा : जैन साधु अपने पास कुछ भी परिग्रह नहीं रखते, न ही अपना भोजन अपने हाथ से बनाते हैं। भिक्षावृत्ति से ही भोजन ग्रहण करते हैं। वह भी दिन में एक ही बार तथा समय-समय पर उपवास आदि तप भी धारण करते हैं। ऐसी स्थिति में भूख और प्यास लगना स्वाभाविक है। फिर भी, कितनी ही तीव्र भूख या प्यास लगने पर स्वीकृत मर्यादा (विधि) विरुद्ध आहार मिलने पर उसे ग्रहण नहीं करना, क्षुधा और प्यास रूपी अग्नि को धैर्य रूपी जल से शांत करना 'क्षुधा-तृषा परिषह-जय' है।

3-4. शीत-उष्ण : कड़कड़ाती ठण्ड हो या जेठ की तपतपाती धूप, दोनों परिस्थितियों में वस्त्रादिकों को स्वीकार न कर, समता-भावपूर्वक सहन करना 'शीत-उष्ण परिषह-जय' है।

5. डॉस-मच्छर : मक्खी, पिस्सू आदि जंतुओं कृत बाधाओं को समतापूर्वक सहन करना, उनसे विचलित होकर प्रतिकार की इच्छा न करना 'डॉस-मच्छर परिषह-जय' है।

6. नाग्न्य : माता के गर्भ से उत्पन्न बालक की तरह नग्न रूप धारण करना 'नाग्न्य' परिषह-जय है। दिगम्बरत्व को धारण करनेवाले साधु के मन में किसी भी प्रकार का विकार न आना तथा लज्जा आदि के वश, उसे छिपाने का भाव न करना, 'नाग्न्य परिषह-जय' है।

7. अरति : 'अरति' का अर्थ 'संयम के प्रति अनुत्साह' है। अनेक विपरीत कारणों के होने पर भी संयम के प्रति अत्यंत अनुराग बना रहना 'अरति परिषह-जय' है।

8. स्त्री : नव-युवतियों के हाव-भाव, विलासादि द्वारा बाधा पहुंचाए जाने पर भी मन में विकार उत्पन्न नहीं होने देना, उनके रूप को देखने अथवा उनके आलिंगन की भावना न होना 'स्त्री परिषह-जय' है।

9. चर्या : नंगे पैरों से सतत विहार करते रहने पर, मार्ग में पड़ने वाले कंकर-पत्थरों से पैर छिल जाने पर भी खेद खिन्न न होना 'चर्या परिषह-जय' है।

10. निषद्या : जिस आसन में बैठे हैं उस आसन से विचलित न होना।

11. शय्या : स्वाध्याय, ध्यान आदि के श्रमजन्य थकावट दूर करने के लिए, रात्रि में ऊंची-नीची, कठोर भूमि अथवा लकड़ी के पाटे आदि पर एक करवट से शयन करना 'शय्या परिषह-जय' है।

12. आक्रोश : मार्ग में चलते हुए साधु को अन्य अज्ञानियों द्वारा गाली-गलौच, अपमानित आदि करने पर भी शांत रहना, उन पर क्रोध न करना 'आक्रोश परिषह-जय' है।

13. बंध : जैसे चंदन को जलाने पर भी वह सुगंध देता है; वैसे ही अपने साथ मार-पीट करने वालों पर भी क्रोध न करना, अपितु, उनका हित सोचना 'वध परिषह-जय' है।

14. याचना : आहारादि के न मिलने पर भले ही प्राण चले जाएं, लेकिन किसी से याचना करना तो दूर, मन में दीनता भी न आना 'याचना परिषह-जय' है।

15. अलाभ : आहारादि का लाभ न होने पर भी, उसमें लाभ की तरह संतुष्ट रहना

'अलाभ परिषह-जय' है ।

16. रोग : यदि शरीर किसी रोग, व्याधि व पीड़ा से घिर जाए, तो उसे शांतिपूर्वक सहना 'रोग परिषह-जय' है ।

17. तृण-स्पर्श : चलते, उठते, बैठते तथा सोते समय जो कुछ तृण, ककड़, काटा, आदि चुभने की पीडा हो, उसे साम्य भाव से सहन करना 'तृण-स्पर्श परिषह-जय' है ।

18. मल . शरीर में पसीना आदि से मल लग जाने पर भी उस ओर दृष्टि न देकर उन्हें हटाने की इच्छा न करना 'मल परिषह-जय' है ।

19. सत्कार-पुरस्कार : सम्मान एव अपमान मे समभाव रखना और आदर-सत्कार न होने पर खेद-खिन्न न होना 'सत्कार-पुरस्कार परिषह-जय' है ।

20. प्रज्ञा : अपने पाण्डित्य का अहकार न होना 'प्रज्ञा परिषह-जय' है ।

21. अज्ञान : ज्ञान न होने पर लोगो के तिरस्कार युक्त वचनो को सुनकर भी अपने अंदर हीन-भावना न लाना 'अज्ञान परिषह-जय' है ।

22. अदर्शन : श्रद्धान मे च्युत होने के कारण उपस्थित होने पर भी मुनि मार्ग से च्युत न होना 'अदर्शन परिषह-जय' है ।

यह बाईस परिषह जैन मुनियो की विशेष साधनाए है । इनके द्वारा वह अपने को पूर्ण इन्द्रिय-विजयी और योगी बनाकर सवर का पात्र बनाते है । परिषहो को जीतने मे चरित्र मे दृढ निष्ठा होती है और कर्मो का आस्रव रुककर सवर होता है ।

चारित्र

सवर का सातवा साधन चारित्र है । जिसके द्वारा हित की प्राप्ति और अहित का निवारण होता है । उसे चारित्र कहते है ।[1] एक परिभाषा के अनुसार, आत्मिक शुद्ध दशा मे स्थिर होने का प्रयत्न करना चारित्र है ।[2] विशुद्धि की तरतमता की अपेक्षा, चारित्र पाच प्रकार का कहा गया है—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात् ।[3]

1. सामायिक : साम्यभाव मे स्थित रहने के लिए समस्त पाप-प्रवृत्तियो का त्याग करना 'सामायिक' चारित्र है ।[4]

2. छेदोपस्थापना . गृहीत चारित्र मे दोष लगने पर, उनका परिहार कर, मूल रूप में स्थापित होना 'छेदोपस्थापना' चारित्र है ।[5]

3. परिहार-विशुद्धि . विशिष्ट तपश्चर्या मे चारित्र को अधिक विशुद्ध करना 'परिहार-विशुद्धि' कहलाती है । इस चारित्र के प्रकट होने पर इतना हल्कापन आ जाता है कि चलने-फिरने, उठने-बैठने रूपी सभी क्रियाओं को करने के बाद भी किसी जीव का घात नहीं हो पाता । 'परिहार' का अर्थ होता है 'हिसादिक पापों से निवृत्ति' ।[6] इस विशुद्धि के बल से

1 भग आ विजयो 8/41
2 प्र सा जय वृत्ति 8
3 तत्वार्थ सूत्र 9/18
4 त वा 9/29/11
5 सर्वा सि. 9/186
6 सर्वा सि 9/18

हिसा का पूर्णतया परिहार हो जाता है; अतः इसकी परिहार-विशुद्धि, यह सार्थक संज्ञा है। इस चारित्र का धनी साधु जल में पड़े कमल के पत्रों की तरह पापों से अलिप्त रहता है। यह किसी विशिष्ट साधना-सम्पन्न तपस्वी को ही प्राप्त होना है।

4. **सूक्ष्म-साम्पराय** : जिस साधक की समस्त कषायें नष्ट हो चुकी हैं, मात्र लोभ कषाय अति सूक्ष्म रूप में शेष रह गयी हैं तथा जो उसे भी क्षीण करने में तत्पर है, उसके चारित्र को 'सूक्ष्म-साम्पराय चारित्र' कहते हैं।[1]

5. **यथाख्यात्** : समस्त मोहनीय कर्म के उपशांत अथवा क्षीण हो जाने पर, प्रकट आत्मा के शांत-स्वरूप में रमण करने रूप चारित्र 'यथाख्यात्' चारित्र हैं।[2] इसको वीतराग चारित्र या अथाख्यात् चारित्र भी कहते हैं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि सामायिक के अतिरिक्त शेष चारों चारित्र सामायिक रूप मे ही हैं परन्तु आचार गुणों की विशेषता होने के कारण उन चार को अलग किया है।

इस प्रकार व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और चारित्र रूप संवर के 62 भेद कहे गए हैं। वे साधु-जीवन को लक्ष्य करके कहे गये हैं। इसका अर्थ यह है कि संवर की सिद्धि के लिए साधु धर्म अपेक्षित है। गृहस्थजन भी इनका यथाशक्ति पालन करके आंशिक संवर के अधिकारी बन सकते हैं।

जैन धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव

जैन धर्म का हिन्दू धर्म पर क्या प्रभाव पड़ा ? इसका उत्तर यदि हम एक शब्द मे देना चाहें तो वह शब्द है—"अहिंसा" और यह अहिंसा शारीरिक ही नहीं बौद्धिक भी रही हो। शैव और वैष्णव धर्मो का उत्थान जैन और बौद्ध धर्मों के बाद हुआ। शायद यही कारण है कि इन दोनों मतों (विशेषतः वैष्णव मत) में अहिंसा का ऊंचा स्थान है। दुर्गा के सामने कुस्माण्ड की बलि चढ़ाने की प्रथा भी जैन और बौद्ध मतों के अहिंसावाद से ही निकली होगी।

रामधारी सिंह दिनकर
"संकृति के चार अध्याय" पृ119

1 सर्वा सि 9/18
2 सर्वा सि 9/18

निर्जरा

निर्जरा का अर्थ

बद्ध कर्मों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है।[1] सात तत्त्वों में संवर तत्त्व के बाद इसका स्थान है। संवर के द्वारा कर्मों का आस्रव रुकता है; तो निर्जरा द्वारा पूर्व-बद्ध अर्थात् संचित कर्मों का क्षय होता है। जैसे जल के प्रवेश-द्वार को बंद कर देने पर सूर्य के प्रखर ताप से तालाब स्थित जल धीरे-धीरे सूख जाता है, वैसे ही कर्मों के आस्रव को संवर द्वारा रोक देने पर तप आदि साधनों से आत्मा के साथ पहले बांधे हुए कर्म धीरे-धीरे विलीन होते जाते हैं। इस दृष्टि से 'निर्जरा' का अर्थ हुआ, 'कर्म वर्गणाओं का आंशिक रूप से आत्मा से छूटना।'[2] आत्म-प्रदेशों से कर्मों का छूटना ही निर्जरा है। यह प्रक्रिया जब उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाती है, तब आत्मा में लगे सम्पूर्ण कर्मों का विलगाव हो जाता है और आत्मा अपनी स्वभाविक अवस्था को प्राप्त कर लेता है। कर्मों का पूर्णतया विलग होना मोक्ष है।

निर्जरा शुद्धता की प्राप्ति के मार्ग में सीढ़ियों के समान है। जैसे कदम-दर-कदम सीढ़ियों पर चढ़कर मंजिल पर पहुंचते हैं, वैसे ही क्रमशः निर्जरा कर मोक्ष-अवस्था प्राप्त की जाती है।

निर्जरा के भेद

निर्जरा दो प्रकार की होती है—द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा। आत्मा के जिस निजी (शुद्ध) परिणमन से कर्म-पुद्गल विलग होते हैं, उस परिणाम/भाव की प्रक्रिया को भाव निर्जरा कहते हैं। दूसरे शब्दों में भाव निर्जरा से तात्पर्य आत्मा के निज में होने वाले उन वैचारिक परिवर्तनों से है जिनसे कर्म-पुद्गल आत्म-प्रदेशों को छोड़ने के लिए बाध्य होते हैं। द्रव्य निर्जरा से तात्पर्य है कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से विलग होने की प्रक्रिया; जो कर्म-फल भोगने के द्वारा अथवा कर्म-फल भोगने से पूर्व तप आदि के द्वारा संपादित होती है।[3]

इस प्रकार से द्रव्य निर्जरा दो प्रकार की हो जाती है। प्रथम सविपाक निर्जरा और द्वितीय अविपाक निर्जरा।[4]

स्थिति के पूर्ण होने पर, कर्मों के सुख-दुःखात्मक फल देकर विलग होने को सविपाक

1. वा. अनु 66
2. स सि. 1-4
3. प्र सा टीका 36
4. भ. आ. मू. 1847

निर्जरा कहते हैं। जैसे—आम आदि फल पककर झर जाते हैं, वैसे ही यह निर्जरा केवल फलोन्मुख हुए कर्मों की होती है। इसे यथाकाल-निर्जरा भी कहते हैं।[1] यह सभी संसारी जीवों के होती है;[2] क्योंकि बंधे हुए कर्म अपने-अपने समय पर अपना फल देकर निजीर्ण होते ही रहते हैं। मोक्षमार्ग में इस प्रकार की निर्जरा का महत्त्व नहीं है, क्योंकि इस निर्जरा में राग-द्वेष होने के कारण निर्जरा के साथ-साथ नवीन कर्मों का बंध भी होता है। संवर पूर्वक होने वाली निर्जरा ही मोक्षमार्ग में उपादेय है।

सविपाक निर्जरा के विपरीत अविपाक निर्जरा है, जिसमें परिपाक-काल से पहले तपादि साधनों के द्वारा, समय से पूर्व ही कर्मों को विलगाया जाता हैं। यह ऐसा ही है जैसे—माली कच्चे आमों को तोड़कर, पाल आदिक में रखकर, उन्हें समय से पूर्व ही पका लेता है। वैसे ही अविपाक निर्जरा परिपाक काल से पूर्व ही तपादि विशेष साधनों द्वारा की जाती है। यह समय से पूर्व ही कर्मों को गला देती है।[3] मोक्षमार्ग में यह अविपाक निर्जरा ही उपादेय मानी गयी है। यह व्रतधारी, सम्यक्‌दृष्टि पुरुषों के ही होती है।[4]

निर्जरा का साधन

निर्जरा का साधन तप कहा गया है।[5] करोड़ों वर्षों से सचित-कर्म तप से निर्जरित हो जाते हैं। 'भव कोटि सचियं कम्मं तवसा णिरज्जइ'। कहा गया है कि तप के बिना अकेले संवर से ही मोक्ष नही होता। जैसे अर्जित धन उपभोग के बिना समाप्त नहीं होता, वैसे ही संचित कर्म तपस्या के बिना नष्ट नहीं होते। इसलिए कर्म-निर्जरा के लिए तप आवश्यक है।[6] वैदिक-ग्रन्थों में भी "तपसाकिल्विषंहन्ति" तप द्वारा पाप नाश करते हैं। ऐसा कहकर तप को आत्मशोधन का उपाय बताया गया है।

तप का महत्त्व

तप की बहुत महिमा है। जैसे जल मिट्टी को गला देता है, किंतु अग्नि में तपने के बाद, उसी घड़े में जल को, अपने भीतर धारण करने की क्षमता आ जाती है, उसी प्रकार तप के द्वारा आत्मा में अनेक गुणों की अभिव्यक्ति हो जाती है। जैसे सोने को तपाने पर स्वर्ण की आभा निखर उठती है; ठीक वैसे ही तपस्वी जन जितना ही अधिक दुर्द्धर तप करते हैं, उनकी आत्मा में उतना ही निखार आता है।

जैन शास्त्रों में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसे मोक्षमार्ग का प्रमुख अंग बताकर, धर्म निरूपित किया गया है। 'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो'[7] तप के महात्म्य का

1 स सि 8/23
2 का अनु गा 104
3 स सि 8/13
4 का अनु गा 104
5 त सू 9/13
6 भ आ मू गा 1846
7 प्रतिक्रमण सूत्र 1847

उल्लेख करते हुए 'भगवती आराधना' में कहा गया है कि "जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो निर्दोष तप से प्राप्त नहीं होता। जैसे अग्नि तृण को जलाती है वैसे ही तप रूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को जलाकर भस्म कर डालती है। उत्तम प्रकार से किया गया, आस्रव-रहित तप का फल वर्णन करने में हजारों जिह्वाओं वाला शेषाद्रि भी समर्थ नहीं है।"[1]

तप का लक्षण

तप की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। किसी ने अमुक व्रत को ही तप माना है, किसी ने वनवास, कंद-मूल भक्षण अथवा सूर्य के आतप को सहना ही तप माना है, तो किसी ने देह और इन्द्रियों के दमन से ही तप की पूर्णता स्वीकार की है, किसी ने मात्र मानसिक तितिक्षा को ही तप मानने की हिमायत की है, परंतु जैन धर्म में तप का बड़ा विशद अर्थ किया गया है और उसमें शरीर, मन और आत्मा की शुद्धि करने वाली सर्ववस्तुओं को स्थान दिया गया है।

'इच्छा निरोधस्तपः"[2]: यह जैनों का प्रसिद्ध सूत्र है। तप का मूल उद्देश्य इच्छाओं का निरोध ही है। इसलिए अज्ञान पूर्वक, लौकिक, ख्याति, पूजा, प्रतिष्ठा और लाभ की भावना से किए गए तप को बाल-तप (अज्ञानियों का तप) कहा गया है। वस्तुतः ऐहिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर, सिर्फ कर्म क्षय के लिए किया गया पुरुषार्थ ही तप है। आचार्य अकलंकदेव ने तप का लक्षण करते हुए कहा है, "कर्म निर्दहनात्तपः"[3] कर्मों का दहन अर्थात् भस्म कर देने के कारण ही इसे तप कहते हैं, जैसे अग्नि संचित-तृणादि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार तप भी जन्म-जन्मांतरों के संचित कर्मों को जला डालते हैं; तथा देह और इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति को रोककर, उन्हें तपा देते हैं, अतः ये तप कहे जाते हैं[4] "तवो विसयविणिग्गहो जत्थ"[5] तप वही है जहां विषयों का निग्रह है।

तप के भेद

तप के बारह भेद हैं। अनशन, ऊनोदर, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन और काय-क्लेश ये छह बाह्य तप हैं। बाह्य द्रव्यों के आलंबनपूर्वक होने से तथा बाहर प्रत्यक्ष दिखने से, इन्हें बाह्य तप कहते हैं।[6] प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छहों भेद आभ्यंतर तप के हैं। मनोनिग्रह से संबंध होने के कारण इन्हें आभ्यंतर तप कहते हैं।[7] बाह्य तप भी आभ्यंतर तप की अभिवृद्धि के उद्देश्य से ही किये जाते हैं। बाह्य-तप आभ्यंतर तप का साधन हैं।

1. भ. आ. मू. गा. 1472, 1473
2. चा. सा. 59
3. त. वा. 9/19/18
4. त. वा. 9/19/20
5. नि. सा. त. वृ 6/15
6. स. सि. 9/19
7. स. सि. 9/20

बाह्य तप

अनशन : 'अशन' का अर्थ होता है 'भोजन'। भोजन का त्याग करना 'अनशन' तप कहलाता है। यह सीमित समय के लिये भी होता है तथा यावज्जीवन भी।[1] अनशन से भूख पर विजय होती है। भूख को जीतना और मन पर निग्रह करना अनशन तप है। अनशन से शारीरिक शुद्धि भी होती है। यह शरीर का सबसे बड़ा चिकित्सक है। कहा भी है लंघनंपरमौषधम्। अनशन को उपवास भी कहते हैं। 'उपवास' का अर्थ होता है—'उप' यानी 'पास'; 'वास' का अर्थ है बैठना। अपने करीब आने को उपवास कहते हैं। अकेले भोजन छोडना उपवास नहीं कहलाता। भोजन के साथ-साथ विषय-विकारों का त्याग कर, मन पर नियंत्रण करना ही उपवास है। मनोनिग्रह के अभाव में किया गया उपवास, उपवास न होकर लंघन कहलाता है।[2] ध्यान की साधना में उपवास बहुत आवश्यक है।

ऊनोदर : 'ऊन' का अर्थ है 'कम', 'उदर' अर्थात् पेट अर्थात् भोजन करते समय भूख से कम खाना। पेट को अपूर्ण रखना ऊनोदर तप है। अधिक खाने से मस्तिष्क पर रक्त का दबाव बढ़ जाता है। परिणामतः स्फूर्ति कम हो जाती है और नींद आने लगती है। इसके अतिरिक्त अधिक खाने से वायु-विकार आदि अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। ऊनोदर तप बहुत उपयोगी है। इससे ब्रह्मचर्य की सिद्धि भी होती है तथा यह निद्रा विजय का साधन है।[3] भूख से कम खाना ही ऊनोदर है, इसे अवमौदर्य भी कहते हैं।

वृत्ति-परिसंख्यान : जब मुनि भिक्षा के लिये निकले तो घरों का नियम करना कि मैं आहार के लिए इतने घर जाऊँगा अथवा इस रीति से आहार मिलेगा तो लूँगा अन्यथा नहीं। इसे वृत्ति-परिसंख्यान तप कहते हैं। यह तप भोजन के प्रति आशा की निवृत्ति के लिए किया जाता है।[4]

रस-परित्याग : 'रस' का अर्थ है 'प्रीति बढाने वाला'। "रसप्रीतिविवर्धनम्"—रस भोजन में प्रीति बढाता है। घी, दूध, तेल, दही, मीठा और नमक—इन छह प्रकार के रसों के संयोग से भोजन स्वादिष्ट होता है तथा अधिक खाया जाता है। इनके अभाव में भोजन नीरस हो जाता है। इन्दिय पर विजय पाने के लिये इनमें से किसी एक, दो या सभी का त्याग करना रस-परित्याग तप है।[5]

विविक्त-शय्यासन : ब्रह्मचर्य, ध्यान, स्वाध्याय आदि की सिद्धि के लिए एकान्त स्थान पर शयन करना तथा आसन लगाना विविक्त-शय्यासन तप है।[6]

कायक्लेश—'कायक्लेश' का अर्थ होता है शारीरिक कष्टों/बाधाओं को सहन

---

1 स्वय भू स्तोत 83
2 कषाय विषयाहार त्यागो यत्र विधीयते
उपवासो स विज्ञेयो शेष लघन क विदु (का अनु पर उद्धृत पृ 33)
3 त. वा 9/19/3
4 त. वा 9/19/4
5 त. वा 9/19/5
6 त. वा 9/19/12

करना। सुख से प्राप्त हुआ ज्ञान प्रतिकूलता में नष्ट हो जाता है, अत. साधक को कष्ट-सहिष्णु होना चाहिए।[1] इसी उद्देश्य से शारीरिक ममत्व को कम करने के लिये तथा तज्जन्य कष्ट सहने के लिए और धर्म की प्रभावना के लिए अनेक प्रकार के आसनों द्वारा खड़े रहना, बैठना, ध्यान लगाना आदि कायक्लेश तप है।[2] ये छहों तप बाह्य वस्तु की अपेक्षा तथा दूसरों द्वारा प्रत्यक्ष होने के कारण बाह्य तप है।

अभ्यन्तर तप

प्रायश्चित—किये गए अपराधों के शोधन को प्रायश्चित कहते हैं। 'प्रायः' का अर्थ 'अपराध' है और 'चित्त' का अर्थ होता है 'शोधन'। अपराधों के शोधन की प्रक्रिया को प्रायश्चित कहते हैं।[3] 'प्रायश्चित' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए, कहा गया है कि जिसके द्वारा पाप का छेदन हो वह प्रायश्चित है।[4]

यह एक ऐसा तप है, जिसमें अपने अज्ञान व प्रमादवश हुई भूलों का अहसास होते ही साधक का मन पश्चाताप से भर जाता है तथा वह निश्छल भाव से उसे अपने गुरु के समक्ष प्रकट कर देता है। जैसे, किसी कुशल वैद्य के हाथों दी गयी औषधि को रोगी, अपने लिये हितकारी जान, कड़वी होने पर भी बड़े उत्साह से उसे ग्रहण करता है, वैसे ही प्रायश्चित से शिष्य, गुरु द्वारा प्रदत्त अल्प या अधिक दंड को अपना सौभाग्य समझ सहर्ष स्वीकार करता है।

कुछ लोग प्रायश्चित को दंड समझते हैं। प्रायश्चित दंड नहीं है। दोनों में अंतर है। प्रायश्चित ग्रहण किया जाता है, दंड दिया जाता है प्रायश्चित में सहज स्वीकृति है, दंड में मजबूरी। प्रायश्चित लेने वाले का मन पश्चात्ताप से भरा होता है, जबकि दंड भोगने वाले को प्रायः अपराध-बोध भी नहीं रहता, यदि कदाचित् होता भी है तो उसके प्रति पश्चाताप नहीं होता। प्रायश्चित को लेने वाला उसे समझता है—स्वयं पर गुरु की कृपा तथा दंड को समझा जाता है बोझ। दोनों की मानसिकता में महान् अंतर है। अतः दोनों एक नहीं कहे जा सकते।

प्रायश्चित-तप से दोषों का नाश होता है तथा भावों की विशुद्धि होती है। प्रायश्चित वही लेता है, जिसका मन सरल होता है।

विनय : पूज्य-पुरुषों एवं मोक्ष के साधकों के प्रति हार्दिक आदर-भाव विनय है।[5] विनय की व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए कहा गया है कि "विलयं नयति कर्ममलमिति विनयः"[6] अर्थात् जो कर्म मल को दूर कर दे, वह विनय है। इसलिए विनय को 'मोक्ष का द्वार' कहा गया है।[7]

1 अदुक्ख भाविद णाण दुहे जादे विणस्सदि
तम्हा जहा बल जोई भावह दुक्खस्स भावणा मो.पा. 62
2 त. वा. 9/19/14
3 त.वा. 9/22/1
4 पाव छिंदई जम्हा पायच्छित्त तु मण्णई तेण आ. नि. 1503
5 सर्वा सि. 9/20/439
6 भग. आरा. विजयो 300/511/21
7 अ. मू. चा. 386 ब. भाग. आ. मू. 129

वैयावृत्य : गुणों के अनुराग पूर्वक संयमीजनों के खेद को दूर करना, हाथ-पांव दबाना तथा और भी जो कुछ उपकार करना है, वह वैयावृत्य कहलाता है। बाल, वृद्ध, युवा, तपस्वी आदि साधुओं के हाथ-पांव दबाकर, तेल मर्दन कर, आवश्यकतानुसार योग्य औषधि देकर, लगाकर उनकी यात्रा, स्वाध्याय, और तपस्याजन्य श्रम के खेद को दूर करना वैयावृत्य है। वैयावृत्य का बहुत महत्त्व है। इसके करने से समाधि-धारण, ग्लानि पर विजय तथा परस्पर वात्सल्य एवं सनाथता प्रकट होती है। आचार्य श्री कुंद-कुंद ने वैयावृत्य को जिन-भक्तिपरक बताते हुए, अपनी शक्ति के अनुसार सदाकाल करने की प्रेरणा दी है।[1] भगवती आराधना में कहा गया है कि "समर्थ होते हुए भी जो वैयावृत्ति नहीं करता, वह धर्म-भ्रष्ट है।" जिनाज्ञा का भंग, शास्त्र कथित धर्म का नाश अथवा साधु-वर्ग का व आगम का त्याग ऐसे महादोष वैयावृत्ति न करने से उत्पन्न होते हैं।

स्वाध्याय : आलस्य के त्याग और ज्ञान की आराधना को स्वाध्याय कहते हैं।[2] वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पांच स्वाध्याय के भेद हैं।[3] ग्रंथों का अर्थ सहित पढ़ना/पढ़ाना बांचना है। संशय के निवारणार्थ तथा अर्थ के निश्चय के लिए ज्ञानीजनों से प्रश्न करना 'पृच्छना' है। पढ़े हुए अर्थ का बार-बार विचार करना 'अनुप्रेक्षा' है। शुद्धतापूर्वक पाठ करना 'आम्नाय' है। धर्म का उपदेश करना धर्मोपदेश है।[4]

स्वाध्याय करने से ज्ञान बढ़ता है, वैराग्य बढ़ता है एवं तप में वृद्धि होती है। मन को स्थिर रखने का स्वाध्याय से सरल उपाय और कोई नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि स्वाध्याय से बड़ा कोई तप नहीं है।[5]

व्युत्सर्ग—अहकार और ममकार का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।[6] इसके दो भेद हैं—बाह्य उपधि त्याग और अभ्यंतर उपधि त्याग।[7] आत्मा से पृथक् धन-धान्यादि के प्रति ममता का त्याग करना बाह्य उपधि त्याग है तथा रागादिक विकारी भावों का त्याग अभ्यंतर उपधि त्याग है।[8] कुछ समय के लिए अथवा जीवन पर्यंत के लिए शरीर के ममत्त्व को त्यागना अभ्यंतर उपधि त्याग है।[9] इसके करने से निर्भयता और निःसंगता आती है। मन हल्का होता है तथा आशा-तृष्णा पर विजय होती है।

ध्यान—मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। चित्त का किसी एक विषय को लेकर उसमें लीन होना ध्यान है। हमारे चित्त का यह स्वभाव है कि वह सामान्यतः हर समय कुछ न कुछ ध्यान किया करता है। भले ही वह शुभ हो अथवा अशुभ, इसी दृष्टि से ध्यान के

1 भाव प्राभृत 103
2 र. क. श्रा मू. पृ 142
3 शिष्याध्यापन वाचना ध. पु 9/252
4 त. सू. 9/25
5 णवि अत्थि नविय होहिदि सज्झाय सम तवो कम्म। भग आ—107
6 सर्वा सि. 9/20
7 त. वा. 9/26/3-4-5
8 वही
9 त. वा. 9/26/3-4-5

प्रशस्त और अप्रशस्त, ये दो भेद किये गये है।[1]

आर्त्तध्यान—आर्त्त और रौद्र ध्यान अप्रशस्त ध्यान हैं। आर्त्त का अर्थ होता है 'पीडा', दु:ख'। इष्ट की प्राप्ति के लिए, उसके सयोग के लिए, अनिष्ट के परिहार के लिए, शरीरादि से उत्पन्न वेदना के प्रतिकार के लिए तथा तृष्णावश आगामी भवो मे भोगो की प्राप्ति के लिए जो विकलता होती है उसे आर्त्तध्यान कहते है। उक्त चार निमित्तो की अपेक्षा इसके चार भेद हो जाते हैं।

रौद्र ध्यान—'रुद्र' का अर्थ होता है 'क्रूर'। जो ध्यान क्रूर-परिणामो से होता है, उसे रौद्र ध्यान कहते हैं। रौद्र ध्यान का मूल आधार क्रूरता है। अत क्रूरता के जनक हिसा, झूठ, चोरी और विषय-सरक्षण के निमित्त मे रौद्र ध्यान के भी चार भेद हो जाते है—हिसानन्दि, मृषानन्दि, चौर्यानन्दि और विषय सरक्षणानन्दि (परिग्रहानन्दि), इनका अर्थ इनके नामो से ही स्पष्ट है।

इस प्रकार आर्त्त और रौद्र ध्यान बिना प्रयत्न के ही हमारे सस्कारवश चलता रहता है। ये दोनों ध्यान हमारे दुर्गति के कारण है। इन्हें मोक्षमार्ग में कोई स्थान नही है। न ही ऐसे ध्यान तप की श्रेणी मे आते हैं, अपितु ये दोनों तप के विरोधी हैं। इन अशुभ विषयों से चित्त को हटाकर, किसी शुभ विषय मे मन को टिकाना ध्यान तप है।

धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान प्रशस्त ध्यान की श्रेणी में आते है।

धर्म ध्यान—पवित्र विचारों से मन का स्थिर होना धर्म-ध्यान है। इसमें धार्मिक-चितन की मुख्यता रहती है। निमित्तो की अपेक्षा धर्मध्यान के चार भेद हो जाते है—

आज्ञा विचय—वीतरागी महापुरुषो की जो धर्म-सबधी आज्ञाए है, उनका विचार करना, उनकी आज्ञा का प्रकाशन करना 'आज्ञा विचय' धर्म ध्यान है। पूजन, विधानादि इसी ध्यान में आते हैं।

अपाय विचय—'अपाय' का अर्थ दु:ख' होता है। ससार के प्राणी अपने अज्ञान से दु:खी है। उनके दु:खों का अभाव कैसे हो, इस प्रकार का करुणापूर्ण चितन अपाय विचय' धर्म ध्यान है।

विपाक विचय—कर्म फल के बारे मे विचार करना 'विपाक-विचय' है। ससारी जीव अपने-अपने कर्मों से पीडित होकर कैसे कैसे कर्मों का फल भोगते है। सभी को अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही सुख दु:ख मिलता रहता है। इस प्रकार का विचार करना विपाक विचय' धर्म ध्यान है।

सस्थान विचय—विश्व या लोक के स्वरूप का सतत् चितवन करते रहना 'सस्थान विचय' धर्म ध्यान है।

शुक्ल ध्यान—मन की अत्यत निर्मलता होने पर, जो एकाग्रता होती है, वह 'शुक्ल ध्यान' है। शुक्ल ध्यान के चार भेद किय गये हैं।

पृथकत्व-वितर्क-विचार—तीनों योगो में प्रवृत्त होना 'पृथकत्व' है। श्रुत ज्ञान के आलबन को वितर्क कहते हैं तथा अर्थ व्यजन और योगों के परिवर्तन को 'विचार' कहते हैं।

1 अ त. वा 9/26/10   ब. त. वा 9/28/4

यह परिवर्तन अबुद्धिपूर्वक होता है। इस ध्यान में परिणामों को विशुद्धि के साथ तीनों योगों में प्रवृत्त होता हुआ, श्रुत ज्ञान में उपयुक्त साधक पदार्थों के भिन्न-भिन्न पर्यायों का ध्यान करता है।[1] मोहनीय कर्म का क्षय अथवा उपशम इसी ध्यान की विशुद्धि का परिणाम है।

एकत्व-वितर्क-अविचार—श्रुतज्ञान के आलंबनपूर्वक मन, वचन और काय में से किसी एक योग में स्थिर होकर, द्रव्य की एक ही पर्याय का चिंतन करना एकत्व-वितर्क-अविचार ध्यान है। इस ध्यान में एक ही योग होने के कारण 'एकत्व' रहता है तथा पर्यायों में परिवर्तन न होने के कारण 'विचार' नहीं होता। इसलिए इसे एकत्व वितर्क अविचार कहते हैं।[2] इसी ध्यान के बल से आत्मा वीतरागी-सर्वज्ञ बनकर सदेह परमात्मा बनता है।

सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति—वितर्क और विचार से रहित इस ध्यान में मन, वचन और काय रूप योगों का निरोध हो जाता है। यहां तक कि श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया भी इस ध्यान में निरुद्ध हो जाती है। समस्त क्रियाओं के सूक्ष्म होने से इसे सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति कहते हैं।[3] यह ध्यान जीवन मुक्त सयोग केवली के अपनी आयु के अंतर्मुहुर्त शेष बचने पर होता है।[4]

व्युपरत क्रिया निवृत्ति—वितर्क और विचार से रहित होता हुआ यह ध्यान क्रिया से भी रहित हो जाता है। इस ध्यान में आत्मा के समस्त प्रदेश निष्प्रकंप हो जाते हैं। अतः आत्मा अयोगी बन जाता है। इस ध्यान में किसी प्रकार की (मानसिक, वाचनिक, कायिक) क्रिया नहीं होती। योग रूप क्रियाओं से उपरत हो जाने के कारण इस ध्यान का नाम 'व्युपरत क्रिया' है।[5] इस ध्यान के प्रताप से शेष सर्व कर्मों का नाश हो जाता है तथा जीवात्मा देह मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से लोक के अग्रभाग में शरीरातीत अवस्था के साथ स्थिर हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इसी ध्यान के बल से सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है और दुःखों से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है।

तप, कर्म-निर्जरा का मुख्य साधन है, इसीलिए इसे जैन दर्शन में विशेष प्रतिष्ठा मिली है। इस पर विचार-विमर्श भी बहुत हुआ है उसका सार यह है कि—

1. तप-पूजा, प्रसिद्धि अथवा सांसारिक लाभों की दृष्टि से नहीं करना चाहिए, अपितु कर्म-क्षय के हेतु से ही करना चाहिए।

2. तप इस प्रकार का नहीं करना चाहिए, जिसमें किसी अंग का भेद हो अथवा इंद्रिय का खंडन हो।

3. उसी प्रकार का तप करना चाहिए, जिससे मन में निर्मलता आती हो तथा ध्यान स्वाध्यायादि का विकास होता हो।

4. तप आजीविका के हेतु अथवा खेदपूर्वक नहीं होना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन धर्म का तप मात्र शारीरिक दंड रूप नहीं है अपितु उसमें कायिक संयम के साथ-साथ मानसिक शुद्धि को भी उतना ही स्थान प्राप्त है।

1. (अ) ध. पु. 13 पृ. 77 (ब) ज. ध. 1/344
2. (अ) ध. पु. 13 पृ. 79 (ब) ज. ध. 1/344
3. भग. आ. मू. 1886
4. मू. चा. 5/208
5. ब. द. स. टी. 48

जैन तपश्चर्या शरीर और मन दोनों की शुद्धि द्वारा आत्मा का निर्मल स्वभाव प्रकट करने वाली है। उसे मात्र शारीरिक दंड नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार संवर और निर्जरा के साधनों को अपनाता हुआ साधक अपना क्रमोन्नत विकास करते हुए मुक्ति के सोपानों पर चढता है। संवर और निर्जरा ही मोक्षमार्ग में परम उपादेय हैं।

जैनधर्म और मूर्ति पूजा

जैनधर्म में मूर्ति पूजा की अवधारणा पौराणिक काल से ही चली आ रही है। सिंधु घाटी से प्राप्त मृण मुद्राओं में उत्कीर्ण कायोत्सर्ग मुद्राएं भी उसकी साक्षी है। साहित्यिक अभिलेखों के अनुसार भगवान महावीर की चंदन काष्ट निर्मित जीवन्तस्वामी की प्रतिमा का प्रचलन तीर्थंकर महावीर के युग में ही हो गया था। सम्राट खारवेल द्वारा उत्कीर्णीत उदयगिरि का हाथी गुफा वाला शिलालेख जैन समाज में प्रचलित मूर्ति पूजा का आकाट्य उदाहरण है। उक्त अभिलेख में सम्राट खारवेल द्वारा मगधराज 'पुष्यमित्र' को पराजित कर 'कलिंगजिन' के नाम से ख्याति उस जैन मूर्ति के लौटाकर लाने का उल्लेख है जिसे मगधधिपति नंद ने (ई. पू. 424) में ले गया था। इस अभिलेख से जैन मूर्ति पूजा की प्राचीनता सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त पटना के पास 'लोहानीपुर' से प्राप्त शिरोविहीन मौर्यकालीन प्रतिमा भी जैन परंपरा में मूर्ति पूजा की प्राचीनता का उदाहरण है। इस मूर्ति का विश्लेषण करते हुए महान पुरातत्वविद् श्री 'अमलानंद घोष' ने लिखा है—

"लोहानीपुर से प्राप्त मौर्ययुगीन तीर्थंकर प्रतिमाएं यह सूचित करती है कि इस बात की सर्वाधिक सभावना है कि जैन धर्म में पूजा हेतु प्रतिमाओं के निर्माण में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म से आगे था। बौद्ध और ब्राह्मण धर्म से संबंधित इतनी प्राचीन प्रतिमाएं अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं। जिनकी शैली पर 'लोहानीपुर' की मूर्तियां उत्कीर्ण की गई हैं।"[1]

1. जैन कला एव स्थापत्य खड-1, पृ 4

मोक्ष आत्मा की परम अवस्था

- मोक्ष का स्वरूप
- मोक्ष का अर्थ अभाव नहीं
- मुक्ति के बाद उर्ध्वगमन में हेतु
- पुनरागमन नहीं
- अवतारवाद असंगत
- संसार खाली नहीं होगा
- मुक्तात्मा का आकार
- मोक्ष का सुख
- अन्य दर्शनों में मोक्ष

मोक्ष आत्मा की परम अवस्था

मोक्षस्वरूप

सात तत्त्वों में मोक्ष अतिम तत्त्व है। जीव का परम लक्ष्य मोक्ष है। सभी आत्मवादी भारतीय दर्शनों ने इसे स्वीकारा है। इसके बावजूद उसके स्वरूप और साधनों के सबध मे उन सबके अपने-अपने मत हैं। इस अध्याय में हम जैन दर्शन मान्य मोक्ष के स्वरूप और साधनों के साथ-साथ इतर दर्शनों में उल्लिखित/या वर्णित मोक्ष के सबध मे भी सक्षिप्त चर्चा करेंगे।

मोक्ष का स्वरूप

बधन से मुक्ति को मोक्ष कहते हैं। 'मोक्ष' का अर्थ है 'मुक्त होना'। ससारी आत्मा कर्मों से बध युक्त होता है। अत आत्मा और कर्म-बध का अलग-अलग हो जाना ही मोक्ष है। 'मोक्ष' शब्द सस्कृत के 'मोक्ष-आसने' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है 'छूटना' या 'नष्ट होना'। अत समस्त कर्मों का जीवात्मा से आत्यान्तिक रूप से पृथक् होना, समूल उच्छेद होना मोक्ष है।[1] 'आत्यन्तिक क्षय' का अर्थ है, जहा नये कर्मों के आगमन की कोई सभावना न हो और पुरातन कर्मों का पूर्णतया नाश हुआ हो। सवर द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रोकने तथा निरतर चलने वाली निर्जरा से, यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसी को परिलक्षित करते हुए आचार्य श्री 'उमा स्वामी' ने मोक्ष का लक्षण करते हुए कहा है—"बधहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष"[2] अर्थात् बध के हेतुओं के अभाव और निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों का आत्मा मे आत्यन्तिक क्षय होना या अलग होना ही मोक्ष है।

हमारी साधना का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष ही है। इसीलिए जैन दर्शन में मुक्त जीवों को 'सिद्ध' कहा गया है, क्योंकि उन्होंने अपने ममस्त कर्मों का क्षय करके अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है। कर्मों के बधन के कारण ही जीवात्मा दु खी होता है। कर्मों के नष्ट हो जाने पर वह शुद्ध-बुद्ध-निरजन हो जाता है। उसमें अनेक अलौकिक गुणों की उपलब्धि हो जाती है। बधन मुक्त पक्षियों के स्वतत्र विचरण की तरह उन्मुक्त आनद एव अनुपम सुख का अनुभव करता है। आनद भी कैसा—चिरतन, शास्वत, कभी न नष्ट होने वाला।

1 त वा 1/1/37 पृ 29
2 त सू 10/2

मोक्ष का अर्थ अभाव नहीं

बौद्ध दार्शनिक 'मोक्ष' का अर्थ 'आत्मा का अभाव' मानते हैं। उनका मानना है कि जैसे दीपक के बुझने से दीपक का अभाव हो जाता है, वैसे ही कर्मों का क्षय हो जाने से, निर्वाण में चित्त-संतति का विनाश हो जाता है। अतः मोक्ष में आत्मा का अस्तित्व नहीं होता है।[1]

जैन दर्शन की यह मान्यता है कि सत् का कभी विनाश नहीं होता, तथा असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती है।[2] बौद्धों के उपर्युक्त मत की मीमांसा करते हुए आचार्य 'समंत भद्र' महाराज ने कहा है कि दीपक के बुझ जाने से दीपक का अभाव नहीं होता, अपितु उसके प्रकाश रूप परमाणु ही अंधकार रूप परिणत हो जाते हैं।[3] उसी प्रकार मोक्ष का अर्थ भी आत्मा का विनाश नही होता, कर्मों का क्षय होते ही जीवात्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था में परिणत हो जाती है।

वस्तुतः जीव अपने रागद्वेषादिक वैभाविक-भाव के कारण ही संसारी होकर दुःखी होता है। आत्मा का राग-द्वेषादिक भावों से मुक्त होना ही मुक्ति है। आचार्य 'कमलशील' ने संसार और मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "रागादि-क्लेश और वासनामय-चित्त को ससार कहते हैं। चित्त का रागादि क्लेश और वासनामय संसार से मुक्त हो जाना ही मुक्ति है। अत मुक्ति का अर्थ जीव का अभाव न होकर रागादि क्लेशों से मुक्ति है।"[4] रोग की निवृत्ति होने का अर्थ आरोग्य का लाभ है; न कि रोगी की निवृत्ति। अतः मुक्ति का अर्थ जीव का अभाव किसी भी अर्थ में नहीं हो सकता। जैन दर्शन में आत्मा की स्वाभाविक अवस्था की उपलब्धि को ही मुक्ति कहा गया है। वस्तुतः समस्त कर्मों के क्षय से होने वाला आत्म-लाभ ही मुक्ति है। कहा भी है—

आत्मलाभं विदुर्मोक्षंजीवस्यान्तर्मलक्षयात्
नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्।[5]

मुक्ति के बाद ऊर्ध्वगमन में हेतु

कर्म मुक्त होते ही जीव का शरीर कपूर की तरह जलकर उड़ जाता है तथा जीवात्मा अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के कारण लोक के शिखर पर विराजमान हो जाता है। कर्मों का क्षय और जीव का लोकांत-गमन दोनों साथ-साथ होते हैं। जीव के ऊर्ध्वगति में आचार्य 'उमा स्वामी' ने चार हेतु दिये हैं—"पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बंधच्छेदात्तथागतिपरिणामच्च। आविद्ध-कुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्ड बीजवत् अग्नि शिखावच्च।[6]

---

1 भारतीय दर्शन प्रो हरेन्द्र प्रसाद, पृ 127
2 भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उपपादो।—प का-15
3 नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तम पुद्गल भावतोऽस्ति।—स्वयभूस्तोत-24
4 चित्तमेवहि ससारो रागादिक्लेश वासितम्।
तदेव तैं विनिर्मुक्त भवान्त इतिकथ्यते॥ त स पजिका पृ 104
5 सिद्धि विनिश्चय पृ 485
6 त. सू. 10/6-7

1. पूर्व प्रयोग (कुम्हार के चाक की तरह) जैसे अग्नि कुम्हार के द्वारा घुमाया हुआ चाक, डडे के अभाव में अपने पूर्व सस्कारवश घूमता रहता है, वैसे ही जीवात्मा द्वारा चेतना के ऊर्ध्वारोहण के लिए किए गए ध्यानादि पुरुषार्थजन्य (प्रयोगजन्य) सस्कारवश जीवात्मा ऊर्ध्वगमन करता है। अत पूर्व सस्कार भी जीव के ऊर्ध्वगमन मे एक कारण है।

2. असग होने से जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त तुम्बी, मिट्टी के भार के कारण, पानी मे डूबी रहती है और जब वह मिट्टी पानी में गलकर घुल जाती है, तब वह ऊपर उठ जाती है। वैसे ही कर्म लेप से लिप्त जीवात्मा ससार में डूबा रहता है, कर्मों के भार से मुक्त होते ही ऊर्ध्वगति कर लेता है। अत असगत्व ऊर्ध्वगति का दूसरा हेतु है।

3. बधन टूटने से जिस प्रकार अधोमुखी एरड का फल जब पककर फटता है तो उसका बीज नीचे की ओर न आकर, उचटकर, सीधे, ऊपर की ओर जाता है, उसी प्रकार कर्म बध के टूटने से मुक्तात्मा भी सीधे ऊपर की ओर जाते हैं, वह तिर्यक् या अधोगति मे नही जाते।

4. वैसा स्वभाव होने से—जैसे निर्वात अग्नि की शिखा ऊपर की ओर ही उठती है उसी प्रकार कर्म रहित जीवात्मा भी स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करता है। कर्मरूपी वायु से प्रताडित होते रहने के कारण ही वह इधर-उधर भटकता है। तात्पर्य यह है कि जब तक कर्म जीव की स्वाभाविक शक्ति को रोके रखता है, तब तक वह पूर्णतया ऊर्ध्वगमन नही कर पाता है। स्वाभाविक शक्ति के अवरोधक कर्मों के नष्ट हो जाने पर, जीवात्मा ऊर्ध्वगमन कर लोक के शिखर पर तिलक की तरह विराजमान हो जाता हैं।

पुनरागमन नही

ऊर्ध्वगति होने के बाद जीवात्मा का किसी भी परिस्थिति में पुनरागमन नही होता। जिस प्रकार बीज को जला देने पर वह अकुरित नही होता, उसकी पुनरुत्पत्ति नही होती, उसी प्रकार राग द्वेष के अभाव हो जाने पर मुक्तात्माओं का ससार में पुनरागमन नही होता।[1] राग द्वेष ही ससार में उत्पत्ति के बीज हैं। कारण के बिना कार्य नही होता। इसी दृष्टि से जैन दर्शन में अवतारवाद को नही स्वीकारा गया है।

अवतारवाद असंगत

कुछ दार्शनिक, जीवात्मा के मुक्त हो जाने के बाद, उनका ससार में पुनरागमन मानते हैं। उनके मतानुसार जब-जब धरती पर धर्म का नाश होता है, अधर्म बढता है, तो ऐसी आत्माए धर्म का प्रस्थापन करने के लिए ससार में अवतरित होती हैं।[2] उक्त बात तर्कसगत प्रतीत नही होती, क्योंकि एक बार मुक्त हो जाने के बाद पुन ससार में आने

1 त. वा. 10/2/3 पर उद्धृत

2 (अ) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥ महाभारत

(ब) द्र स टी 14

का कोई कारण नहीं बनता। यदि बनता है तो फिर मुक्त होने का कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि मुक्ति तो पूर्णता का नाम है। संसार में लौटना अपूर्णता की निशानी है। अकस्मात् कोई कार्य नहीं होता है। यदि अकस्मात् ही उनका पुनरागमन होता है तब तो किसी जीव को कभी भी मोक्ष हो ही नहीं सकता, क्योंकि मुक्ति हो जाने के बाद भी अकारण ही उसका पुनः आगमन हो जाएगा।[1]

जैन दर्शन में जीव को दूध में घी की तरह माना गया है। जिस प्रकार मथने/भाने आदि क्रिया विशेषों से एक बार दूध से घी को अलग कर लेने पर घी पुनः दूध रूप नहीं होता, न ही वह दूध में मिलता है, अपितु दूध में मिलने पर भी वह उस पर तैरता रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी एक बार शुद्ध हो जाने के बाद पुनः अशुद्ध नहीं होता, न ही वह दुबारा संसार में लौटता है। बल्कि लोक के शिखर पर विराजमान हो जाता है। अतः अवतारवाद को मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। जैन दर्शन में इसीलिए अवतारवाद को स्थान नहीं दिया गया है। वस्तुतः जैन दर्शन अवतारवादी न होकर उत्तारवादी है, जो समस्त प्राणियों को संसार सागर से पार उतरने का मार्ग प्रशस्त करता है।

इसके अतिरिक्त मुक्तात्माओं के पुनरागमन नहीं होने में एक दूसरा वैज्ञानिक कारण भी है, वह है—'गुरुत्व का अभाव'। गुरुत्व स्वभाव वाले पौद्गलिक पदार्थ ही ऊपर से नीचे गिरते हैं, मुक्तात्माओं में यह नहीं होता है। संसारी आत्मा-कर्म-पुद्गलों के संयोग से गुरुत्व रूप हो जाती है। मुक्तात्माओं में उसका अभाव हो जाता है। अतः पेड़ से टूटने वाले फल के टपकने की तरह मुक्तात्माओं की मोक्ष से च्युति नहीं होती है और न ही पानी भर जाने से जहाज की तरह डूबना होता है।[2]

संसार खाली नहीं होगा

यहां हमारे मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि जब मुक्त जीवों का पुनरागमन नहीं होता और संसारी जीव सीमित हैं, तो फिर जीवों के निरंतर मुक्त होत रहने से एक दिन ऐसा भी आ सकता है जबकि पूरा संसार खाली हो जाए? उक्त प्रश्न के लिए भी कोई अवकाश नहीं है। क्योंकि जीवों की राशि अनंत है। अनत का अर्थ वह राशि है जो आयरहित व्यय होते रहने के बाद भी अव्यय हो अर्थात् ज्यों की त्यों बनी रहे।[3]

जिस प्रकार भविष्यत काल प्रति समय घट रहा है फिर भी वह अनंत ही है, उसकी राशि में कोई न्यूनता नहीं आती है। जब भी भविष्य काल की परिगणना की जाती है वह अनंत ही रहता है। यद्यपि वह प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है। उसी प्रकार निरंतर मुक्त होते रहने से यद्यपि जीव राशि में न्यूनता आती है फिर भी उस राशि का कभी भी अंत नहीं होता। परिमित वस्तु ही घटती-बढ़ती है तथा उसी का अंत संभव है। अपरिमित वस्तु में

1. त. वा. 10/4/6 पृ. 704
2. त. वा. 10/8 पृ. 704
3. ध. पु. 4, पृ. 235

न्यूनाधिकता तथा सर्वथा विनाश होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जीव राशि अनंत है, अतः उनके मुक्त होते रहने पर भी ससार के खाली होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[1]

मुक्तात्मा का आकार

कुछ भारतीय दार्शनिक मुक्तात्मा को निराकार अर्थात् आकृति शून्य मानते हैं। जैन दर्शन उनके उक्त मत से सहमत नहीं है।[2] जैन दर्शन में आत्मा को निराकार मानते हुए भी उस आकृति शून्य नहीं माना गया है। इंद्रियों से दिखाई नहीं पड़ने के कारण ही मुक्तात्मा को जैन दर्शन में निराकार कहा गया है। इसलिए जैन दर्शन में जीव निराकार होते हुए भी आकृति-शून्य नहीं है।[3] इस दृष्टि से मुक्त-जीवों का आकार मुक्त हुए शरीर मे कुछ कम होता है। मुक्त जीव के अंतिम शरीर से कुछ कम होने का कारण यह है कि नाक, कान, नाखून आदिक अंगोपांग खोखले होते हैं। अर्थात् उनमें आत्म-प्रदेश नही होते।[4] कहा भी हैं—मुक्त शरीर के कुछ खोखले अंगों में आत्म प्रदेश नहीं होते। मुक्तात्मा छिद्ररहित होने के कारण अपने पहले के शरीर से कुछ कम (लगभग 1/3 कम), मोमरहित मांचे के बीच के आकार के अथवा छाया के प्रतिबिब (परछाई) की तरह आकार वाले होते हैं।[5] इसलिए जैन दर्शन मे जीवात्मा को कथचित् निराकार और कथंचित् साकार कहा गया है।

मोक्ष का सुख

न्याय-वैशेषिक दार्शनिक सिद्धों में सुख का अभाव मानते है। उनके अनुसार बुद्धि, इच्छा, सुख, दुःखादिक आत्मिक गुणों का अभाव हो जाना ही मुक्ति है। वे सिर्फ दुःखाभाव को ही मुक्त जीवों का सुख मानते हैं। इस प्रकार तो मुक्त जीव भी पाषाण की तरह सुख के अनुभव से रहित हो जाएंगे। सिद्धों का सुख इस प्रकार का नहीं होता है; क्योंकि इस प्रकार के सर्वविनाशी निरर्थक मोक्ष के लिए मोक्षार्थी-तपश्चरण, योग, साधना, समाधि आदि कार्य क्यों करेगा? इसी से खिन्न होकर कुछ लोगों ने वैशेषिकों के मोक्ष का उपहास करते हुए कहा है—"गौतम ऋषि वैशेषिकों की मुक्ति की अपेक्षा वृदावन में सियार होकर रहना अच्छा समझते हैं।"[6]

जैन दर्शन मान्य मुक्तात्माओं का सुख मात्र दुखाभाव रूप ही नहीं होता, अपितु मुक्तात्माओं का सुख, अतिशय रूप आत्मा मे उत्पन्न हुआ, विषयों से अतीत अनुपम,

1 द्र स टी गा 51

2 किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा। द्र स गा 51 और भी देखें ति प 9/10

3 सर्वा सि 10/4 पृ 371

4 (अ) किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा। द्र स 14

(ब) वही, द्र स टी गा 14

5 द्र स टी 37

6 वर वृंदावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम्।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति॥ स्याद्वाद मजरी, पृ 63

अनंत और विच्छेदरहित होता है।[1] संसार के सुख, विषयों की पूर्ति, वेदना का अभाव और पुण्य कर्मों के इष्ट फल-रूप है। जबकि मोक्ष-सुख कर्म क्लेश के क्षय से उत्पन्न परम सुखरूप है।[2] सारे लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसकी उपमा सिद्धों के सुख के लिए दी जा सके, वह सुख अनुपम है। संसारी जीवों का सुख इंद्रियाधीन होने के साथ बाधा-सहित है जबकि सिद्धों का सुख-अतीन्द्रिय और बाधारहित है। उनके उस सुख को अव्याबाध-सुख कहते हैं। (कोई-कोई सिद्धों के सुख को सुषुप्तावस्था के समान मानते हैं। पर उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि उनमें सुखानुभव रूप क्रिया होती है, जबकि सुषुप्तावस्था श्रम, क्लम, मद, व्याधि आदि निमित्तों से उत्पन्न होती है, और वह मोह विकार रूप है।[3]

अन्य दर्शनों में मोक्ष

जैन दर्शन में निरूपित मोक्ष के स्वरूप को हमने समझा। आइए, अब एक दृष्टि इतर दर्शनों में मान्य मोक्ष पर भी डाल लें।

1. बौद्ध : बौद्ध-दर्शन में दीपक के बुझने की तरह, चित्त संतति के अभाव को मोक्ष माना गया है। इससे उच्छेदवाद का प्रसंग आता है।[4]

2. न्याय वैशेषिक : न्याय वैशेषिक के अनुसार सुख-दुःख, चेतना आदि सभी आत्मा के आगंतुक गुण हैं। मुक्तात्माओं के शरीर विच्छेद के साथ-साथ आगंतुक गुणों का भी अभाव हो जाता है। उनका मानना है कि सुषप्तावस्था जिस प्रकार सुख-दुःख से रहित अवस्था होती है, उसी प्रकार मोक्षावस्था में भी आत्मा सुख-दुःख से अतीत होता है। नींद की अवस्था काल्पनिक होती है परंतु मोक्षावस्था स्थायी होती है।[5]

3. सांख्य : सांख्य-दर्शन के अनुसार मूल प्रकृति के निवृत्त हो जाने पर पुरुष ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है।[6] इस प्रकार प्रकृति से निवृत्त होना ही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा को आनंद की अनुभूति नहीं होती क्योंकि वे पुरुष को स्वभावतः मुक्त और त्रिगुणातीत मानते हैं।[7]

4. मीमांसा : मीमांसा दर्शन के अनुसार चैतन्य रहित अवस्था ही आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है, इस दृष्टि से मोक्ष सुख-दुःख से परे है। इस अवस्था में न चैतन्य रहता है, न ही आनंद।[8]

5. अद्वैत-वेदांत : न्याय वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों के विपरीत अद्वैत-वेदांत में

1 ता. वा 10/9/14 पर उद्धृत, पृ 727
2. अदिसय माद समुत्थ विसयातीद अणोवम अणत।
   अव्वुच्छिन्न च सुह सुद्धुवजोगो य सिद्धाण ॥ ध. पु. गा. 46
3 वही
4 षड्दर्शन सम्मुचय श्लोक 7
5. सुपतस्य स्वप्न दर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ।—**न्याय सू. 4.1.63**
6 साख्य कारिका 62
7. वही, 111
8. भारतीय दर्शन की रूप-रेखा, पृ . 22

मोक्ष पूर्ण चैतन्य और आनंद की अवस्था है। अनादि-अविद्या से मुक्त होकर आत्मा का ब्रह्म में विलीन हो जाना ही मोक्ष है। वस्तुत आत्मा ब्रह्म ही है, परतु वह अज्ञान से प्रभावित होकर अपने को ब्रह्म से पृथक् समझने लगता है। यही बधन है। अनादि अज्ञान का आत्यन्तिक अभाव ही मोक्ष है।[1]

6. जैन दर्शन : जैन दर्शन में मोक्ष को बौद्धों की तरह अभावात्मक नहीं माना गया है, न ही सांख्यों की तरह मोक्ष को आनंदरहित माना गया है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसक जहां मोक्षावस्था में चैतन्य गुणों का अभाव मानते है, वहां जैन दर्शन में मोक्ष का अर्थ चैतन्य गुणों की प्राप्ति से है, क्योकि चैतन्य आदि जीव के स्वाभाविक गुण हैं, उनका कभी अभाव नही हो सकता है। वेदात की तरह जैन दर्शन में आत्मा की ब्रह्मलीनता को मोक्ष नहीं कहा गया है, बल्कि मोक्ष आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था मानी गयी है तथा मोक्ष दशा में भी प्रत्येक आत्मा की स्वतत्र सत्ता को जैन दर्शन स्वीकार करता है।

उपरोक्त तुलनात्मक विवेचन का साराश यह है कि जैन दर्शन मान्य मोक्ष आत्म-स्वरूप के लाभ का ही नामांतर है, जोकि कर्म-मलों के क्षय से प्राप्त होता है। मोक्ष मे बौद्धों की तरह आत्मा का अभाव नहीं होता, क्योंकि मोक्ष आत्म-स्वरूप की प्राप्ति है।[2] ज्ञान और चेतनत्व आत्मा का स्वाभाविक गुण होने के कारण मोक्ष मे आत्मा न्याय-वैशेषिकों की तरह ज्ञान-शून्य और अचेतन भी नहीं होता। मोक्ष आत्मा की परम[3] और पूर्ण अवस्था है।

भक्त और भगवान

भक्त और भगवान में कोई खास अतर नही दानो ही हीरा है फर्क सिर्फ इतना है एक खान में पडा है और एक शान पर चढा है।

- यह बात सही है कि प्रभु की स्तुति करना सूरज को दीपक दिखाना है पर क्या करें सूरज की आरती तो दीपक स ही उतारी जाती है।
- हम सब ब्रह्म के अश नही अपितु हम सबमें ब्रह्म जैसे अश है।

—आचार्य श्री विद्यासागर जी के प्रवचनों से

1 तत्वबोध सूत्र 40
2 मोक्ष स्वात्मोपलब्धि ।—आ. मी. वसु. वृ. 40
3 सर्वा सि. 1/1 पृ 2

मोक्ष के साधन

- मोक्ष मार्ग
- मोक्ष मार्ग के भेद
- सम्यक् दर्शन
- सम्यक्त्व का महत्त्व
- सम्यक्त्व का स्वरूप
- सम्यक् दर्शन के साधन
- सम्यक् दृष्टि की प्रवृत्ति
- देव, शास्त्र और गुरु का स्वरुप
- तीन मूढ़ता
- आठ मद
- सम्यक् दर्शन के अंग
- सम्यक् ज्ञान
- सम्यक् ज्ञान के भेद
- सम्यक् ज्ञान के अंग
- सम्यक् चारित्र

मोक्ष के साधन

मोक्ष के स्वरूप की तरह मोक्ष के साधन के संबंध में भी विभिन्न दर्शनों में मतभेद है। कोई ज्ञान मात्र को मोक्ष का साधन मानते हैं, तो कुछ दार्शनिक आचरण मात्र को मोक्ष का साधन बताते हैं, तो कुछ केवल भक्ति को संसार संतरण का सेतु समझते हैं। जैन दर्शनकार श्रद्धा ज्ञान और आचरण की समष्टि को ही मोक्ष-मार्ग बताते हैं।

"सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।"[1]

यह जैन दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है, अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की संयुति ही मोक्ष का मार्ग है। इसके विपरीत मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या आचरण संसार की वृद्धि का हेतु है।[2] सम्यक् शब्द समीचीनता का द्योतक है। यह तीनों में अनुगत है। यहां दर्शन का अर्थ श्रद्धा है, तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहते हैं।[3] वास्तविक बोध सम्यक् ज्ञान है[4] तथा आत्म-कल्याण के लिए किया जाने वाला सदाचरण सम्यक् चारित्र है।[5]

मोक्ष मार्ग

श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों के योग से ही मोक्ष मार्ग बनता है।[6] लोक में रत्नों की तरह दुर्लभ होने के कारण इन्हें रत्नत्रय भी कहते हैं, ये तीनों मिलकर ही मोक्ष मार्ग कहलाते हैं। पृथक्-पृथक् तीनों से मोक्ष मार्ग नहीं बनता न ही किन्हीं दो के मेल से। यदि कोरी श्रद्धा मात्र से हमारा कार्य होता तो भोजन की श्रद्धा मात्र से पेट भर जाना चाहिए। यदि ज्ञान मात्र से ही दुःख की निवृत्ति होती तो जल के दर्शन मात्र से ही प्यास की तृप्ति हो जानी चाहिए। यह सब बातें प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं। इसी प्रकार कोरा क्रियाकांड भी अंधे पुरुष के आचरणवत् निरर्थक है। इसलिए कहा गया है कि "अकर्मण्यों का ज्ञान प्राणहीन है तथा अविवेकियों की क्रिया निस्सार है। श्रद्धाविहीन बुद्धि और प्रवृत्ति सच्ची सफलता प्रदान नहीं कर सकती।"

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने उक्त बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है

---

1. त. सू. 1/1
2. र. क. श्रा. 3
3. प. का. गा. 107
4. वही
5. सर्वा. सि. 1/1, पृ. 4
6. वही

कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की व्यष्टि मोक्ष का साधन नहीं है। रोगी का रोग दवा में विश्वास करने मात्र से दूर न होगा। जब तक उसे दवा का ज्ञान न हो और वह चिकित्सक के अनुसार आचरण न करे, रोग जाने का नहीं। इसी तरह दवा की जानकारी-भर से ही रोग दूर नहीं होता, जब तक कि रोगी उस पर विश्वास न करे और उसका विधिवत् सेवन न करे। इसी प्रकार दवा में रुचि और उसके ज्ञान के बिना उसके सेवन मात्र से भी रोग दूर नहीं हो सकता। रोग तभी दूर हो सकता है जब दवा में श्रद्धा हो, जानकारी हो और चिकित्सक के कहे अनुसार उसका सेवन किया जाए। इसी प्रकार सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समष्टि से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है।[1] इसकी तुलना हम लकड़ी के जीने से कर सकते हैं। जिस प्रकार लकड़ी के जीने में उसके दोनों ओर दो पाये लगे रहते हैं तथा बीच में एक आड़ी लकड़ी लगी होती है, जो दोनों पायों को जोड़े रहती है। दोनों ओर के पाये सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के प्रतीक हैं तथा बीच की आड़ी लकड़ी सम्यक् चारित्र की प्रतीक है। जिसके सहारे हम आध्यात्मिक ऊंचाइयों का स्पर्श कर पाते हैं। बीच की लकड़ी के अभाव में दोनों ओर के पाये कुछ काम नहीं कर पाते तथा दोनों पायों के अभाव में बीच की लकड़ी भी निरर्थक सिद्ध होती है। तीनों के योग से ही सीढ़ी तैयार हो सकती है। इसी प्रकार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के योग से ही हमारा मोक्ष मार्ग बनता है।

श्रद्धा ज्ञान और आचरण क्रमशः हमारे मस्तिष्क, आंख और चरण के प्रतीक हैं। व्यक्ति को चलने के लिए इनका सम्यक् उपयोग करना पड़ता है। पैरों से हम चलते हैं, आंखों से देखते हैं तथा मस्तिष्क से यह निर्णय लेते हैं कि हमें कहां पहुंचना है। तभी हम सही चल पाते हैं। यदि हम आंखें बंद कर चलते रहें तो गर्त में गिरेंगे। आंखें खुली हों किंतु पैर काम नहीं दे रहे हों तो हम अपने घर नहीं पहुंच सकते। पैर भी सही हो, आंखें भी खुली हों पर हमें यही पता न हो कि हमें पहंचना कहां है, तो निरंतर गतिशील रहने के बाद भी हम कहीं नहीं पहुंच सकते? इसी प्रकार श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों के संयोग से ही हम मोक्ष मार्ग पर चल सकते हैं।

मोक्षमार्ग के भेद

निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है।[2] व्यवहार प्रवृत्ति मूलक है तथा निश्चय निवृत्ति परक। शुद्ध आत्मस्वरूप की श्रद्धा शुद्धात्मा का ज्ञान और शुद्ध आत्मस्वरूप में लीनता रूपचारित्र की अभिन्न परिणति होने पर निश्चय मोक्षमार्ग बनता है। यह परम वीतराग अवस्था में होता है। इससे पूर्व की भूमिका में (सराग दशा में) तत्त्वों के श्रद्धान और ज्ञानपूर्वक होने वाले आचरण को व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं। निश्चय साध्य है और व्यवहार को उसका साधन कहा गया है। जैसे फूल के अभाव में फल नहीं मिलता वैसे ही व्यवहार के अभाव में निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती। फूल ही विकसित होकर फलों में रूपांतरित होते हैं।

1. सर्वार्थ सिद्धि प्र. 2
2. निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गः द्विधास्थितः।
   तत्राध्यः साध्यरूपः स्यात् द्वीतीयतु तस्य साधनम्॥ —त. सार 9/2, तत्वानुशासन 28

इसलिए प्राथमिक भूमिका में व्यवहार रत्नत्रय का आलंबन लिया जाता है। यह व्यवहार रत्नत्रय ही आगे चलकर निश्चय में ढल जाता है।

सम्यक् दर्शन

इन तीनों में सम्यक् दर्शन, ज्ञान की उत्पत्ति साथ-साथ होती है।[1] जैसे दीपक का प्रकाश और प्रताप साथ-साथ होता है वैसे ही ज्ञान और दर्शन की उत्पत्ति साथ-साथ होती है; क्योंकि ज्ञान हमेशा मान्यता (श्रद्धा) का अनुसरण करता है। हमारी जैसी मान्यता होती है, ज्ञान उसी रूप में ढल जाता है। मान्यता यदि मिथ्या होती है तो ज्ञान भी मिथ्या कहलाता है। मान्यता के सम्यक् होते ही ज्ञान सम्यक् हो जाता है। चारित्र के साथ दोनों प्रकार की संभावनाएं हैं। यह सम्यक् दर्शन और ज्ञान के साथ भी हो सकता है, तथा कुछ काल बाद भी। किंतु चारित्र कभी भी ज्ञान और दर्शन का साथ नहीं छोड़ता इसकी उत्पत्ति कभी भी ज्ञान और दर्शन के अभाव में नहीं होती।[2]

सम्यक्त्व का महत्त्व

यद्यपि सम्यक् दर्शन ज्ञान और चारित्र की समष्टि ही मोक्षमार्ग है। फिर भी सम्यक्त्व का विशेष महत्त्व है। ज्ञान और चारित्र में समीचीनता सम्यक्तव से ही आती है।[3] सम्यक्त्व की बुनियाद पर ही साधना का महल टिका है। इसे मोक्ष महल की पहली सीढ़ी कहा गया है।[4] सम्यक्त्व के डगर पर पैर रखकर ही हम रत्नत्रय के महल में प्रवेश कर सकते हैं। नदी को पार करने में नाव और पतवार से नाविक का महत्त्व कहीं अधिक है। नाविक ही नाव को सही दिशा में ले जाता है। नाविक के बिना नाव अपने निर्धारित लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकती। उसी तरह चारित्र की नाव को ज्ञान की पतवार से सम्यक्त्व खेवटिया बनकर खेता है। इसलिए ज्ञान और चारित्र से इसकी श्रेष्ठता बताते हुए इसे कर्णधार कहा गया है।[5] वस्तुतः जैसे अंक के अभाव में शून्य का कोई महत्त्व नहीं रहता वैसे ही सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चारित्र का अभाव नहीं रहता है।

सम्यक्त्व का स्वरूप

सम्यक् दर्शन का विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न लक्षण बताए हैं। यथा—

1. परमार्थभूत, देव, शास्त्र और गुरु पर तीन मूढ़ता और आठ मदों से रहित तथा आठ अंगों से युक्त होकर श्रद्धा करना।[6]
2. तत्त्वों पर श्रद्धा करना[7]
3. स्वपर का श्रद्धा न करना[8]

1 सर्वा. सि. प्र. 5
2. त. व. 1.1.69
3. सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होईणियमेण।
   तो रयणत्तय मज्झे सम्मगुणुकिट्ठिमिदि जिणुद्दिट्ठ॥ —र. सा. 47
4. दर्शन पाहुड़ 21
5. र. क. श्रा. 31
6. र. का. श्रा. 3
7. त. सू. 2/2
8. मोक्षमार्ग प्रकाशक

4. आत्मा का श्रद्धान करना[1]

इन लक्षणों में तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप लक्षण सभी में दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि जीव की शुद्ध अवस्था ही देव है। सच्चे गुरु तो साक्षात् संवर निर्जरा की प्रतिमूर्ति हैं। शास्त्र रत्नत्रय रूप सच्चे धर्म का अधिष्ठान है। सच्चा धर्म अजीव आस्रव बंध इन तत्वों से हटकर जीव संवर निर्जरा इन तत्त्वों की ओर झुकने का नाम है। इसका फल मोक्ष है। अतः सच्चे देव शास्त्र व गुरु की श्रद्धा व सात तत्त्वों की श्रद्धा बात एक ही है।

जीव-अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।[2] जिनमें जीव स्व तत्त्व है। अजीव, आस्रव और बंध 'पर' हैं। संवर और निर्जरा स्व के साधन हैं। तथा मोक्ष जीव का स्वाभाविक रूप है। अतः स्व पर का श्रद्धान रूप लक्षण भी इन सात तत्व वाले लक्षण में समाहित हो जाता है। आत्मा का श्रद्धान रूप लक्षण का अर्थ है। आत्मा के समस्त अजीव, आस्रव, बंधादि, वैभाविक भावों से रहित अवस्था का श्रद्धान करना। उसमें भी सात तत्त्वों वाला लक्षण गर्भित हो जाता है।

सम्यक् दर्शन के साधन

सम्यक् दर्शन के होते ही ऐसी भेदक दृष्टि प्राप्त हो जाती है जिससे तत्त्वों की श्रद्धापूर्वक शरीर से आत्मा की पृथक् सत्ता का भान होने लगता है। आत्मसत्ता की आस्था और स्वरूप विषयक दृढ़ निश्चय हो जाने से मैं कौन हूं, क्या हूं, कैसा हूं ?, इसका प्रतिभास होने लगता है। जड़-चेतन की इस पारखी दृष्टि को भेद विज्ञान भी कहते हैं। जब तक ऐसी दृष्टि प्राप्त नहीं होती तब तक यह जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। अनादि काल से यह जीव मिथ्यात्व से ग्रसित है। शरीर की उत्पत्ति से ही अपनी उत्पत्ति तथा शरीर के विनाश को ही अपना विनाश समझता आ रहा है। इस देहात्म बोध के छूटने पर ही सम्यक् दर्शन का प्रादुर्भाव होता हो आत्मबोध की इस प्रक्रिया को ग्रंथि भेद कहते हैं जो सांसारिक प्रवाह में कभी किसी समय पर विविध कारणों के मिलने पर उत्पन्न होता है। किन्हीं जीवों को यह अकस्मात् घर्षण घोलन न्याय से प्राप्त हो जाता है। (जिस प्रकार प्रवाह पतित पाषाण खंडों का परस्पर घिसते रहने से नाना प्रकार के आकार यहां तक कि देव मूर्ति बन जाती है।) कुछ जीवों को विशिष्ट निमित्त के मिलने से सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। निम्न साधन सम्यक् दर्शन प्राप्ति के प्रमुख हेतु।[3] है

1. जातिस्मरण—पूर्व के जन्मों का स्मरण हो जाने से
2. वेदनानुभव—तीव्र दुःख संवेदन के कारण
3. धर्मश्रवण—निग्रंथ मुनियों एवं सत् शास्त्रों के श्रवण से उत्पन्न तत्त्व बोध के कारण
4. जिन बिंब दर्शन—वीतरागी निर्ग्रंथ मुनियों तथा जिनबिंब के दर्शन से
5. जिनमहिमा दर्शन—धर्म महोत्सवों के दर्शन से

यह सम्यक् दर्शन के बाह्य हेतु है। सम्यक्त्व का अंतरंग हेतु दर्शन मोहनीय और

1. पर द्रव्यनते भिन्न आपमे रुचि सम्यक्त्व भला है।
2. जीवाजीवास्रव बध सवर निर्जरा मोक्षास्तत्तवम्। —त. सू. 1/4
3. सर्वार्थसिद्धि पृ. 26

अनंतानुबन्धि कषाय का क्षय, उपशम और क्षयोपशम है। जोकि मोह ग्रंथि भेद की प्रक्रिया द्वारा संपादित होती है।

सम्यक् दृष्टि की प्रवृत्ति

सम्यक् दृष्टि विषय भोगों से निर्लिप्त रहता है। उसकी वृत्ति कमल के समान होती है। जैसे जल के बीच रहने वाला कमल जल से सदा निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि भोग और विषयों के मध्य रहते हुए भी उनके प्रति आंतरिक आसक्ति नहीं रखता। वह संसार शरीर और भोगों से उदासीन रहता हुआ। सच्चे देवशास्त्र और गुरु को अपने जीवन का आदर्श मान उनके प्रति सच्ची श्रद्धा रखता है। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की उपासना से सम्यक्त्व में निर्मलता आती है। इसलिए सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा की बात की जाती है। प्रत्येक मुमुक्षु को सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की पहचान कर उन पर सच्ची श्रद्धा रखनी चाहिए। अतः उनके स्वरूप का ज्ञान होना भी आवश्यक है।

देवशास्त्र और गुरु का स्वरूप

देव—सच्चे देव की तीन विशेषताएं हैं सर्वज्ञता वीतरागता और हितोपदेशिता[1]। अतः जिनके अंदर-बाहर, राग-द्वेष और मोह का लेशांश भी न हो वे ही हमारे देव है। वीतरागी होने से अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र और अलंकरण से रहित परम शांत मुद्रा ही सच्चे देव का स्वरूप हैं। राग-द्वेष मोह का समूलोच्छेद हो जाने के कारण उनके अज्ञान का सर्वनाश हो जाता है। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं। सर्वज्ञ और वीतरागी होने के कारण वे जो उपदेश देते हैं। वह सबके कल्याण के लिए होता है। उनका उपदेश किसी वर्ग विशेष के लिए न होकर समस्त प्राणीमात्र के लिए होता है। इसलिए उन्हें परम हितोपदेशी कहते हैं इस प्रकार वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ही सच्चे देव का स्वरूप है। ये ही तीर्थंकर अरहन्त और परमात्मा कहलाते हैं।

शास्त्र—आज लोक में अनेक प्रकार के शास्त्र प्रचलित हैं। अलग-अलग विषयों के अलग-अलग साहित्य भण्डार लगे हैं। अब प्रश्न उठता है इस विपुल भण्डार में कौन से शास्त्र हैं जो हमारे हित के कारण हैं तथा जिन्हें सत्यशास्त्र कहा जा सके? सत्य को उपलब्ध व्यक्ति द्वारा रचित शास्त्र ही सत् शास्त्र हो सकते हैं। राग-द्वेष और मोह से ग्रसित प्राणी ही असत्य वाणी का प्रयोग करता है।[2] असत्यवाणी हमारे लिए हितकर नहीं है। अतः राग-द्वेष से रहित व्यक्ति द्वारा रचित शास्त्र ही सत् शास्त्र की कोटि में आते हैं। इसलिए सम्यक दृष्टि आप्त-वीतरागी पुरुषों द्वारा रचित शास्त्र को ही सत् शास्त्र मानता है। कहा भी गया है। "वक्तुः प्रामाण्यात् वचन प्रामाण्यम्" अर्थात् वक्ता की प्रामाणिकता से वचनों में प्रामाणिकता आती है।[3] क्या बोला जा रहा है? यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि कौन बोल रहा है? यदि वक्ता अप्रामाणिक है तो वह मिश्री में जहर की तरह अपनी मीठी वाणी में अहितकर उपदेश भी दे सकता है। वक्ता के प्रमाणिक होने पर किसी प्रकार का अविश्वास

1. र. क. श्रावकाचार 5
2. रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यतेह्यनृतम्
   यस्सतु नैते दोषा स्तस्यानृत कारण नस्ति 1/1/ 12
3. ध. पृ. 1/ 196

नही रहता। इसे निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है —

मान लीजिए आप ऐसे जगल में फॅस गए जहा कोई मार्ग नही सूझता हो। सोचकर निकले किसी गाव तक पहुँचने का, पर बीच में ही भटक गए। अनेकों पगडडिया फूटी हैं। असमजस की स्थिति में खडे हैं कि किधर चलें ? तभी देखते हैं कि सामने से घुटनों तक मैली कुचैली धोती पहने अर्द्धनग्न बदन, बिखरे बालो वाला काला-कलूटा भीमकाय व्यक्ति चला आ रहा है। देखते ही मन भयाक्रान्त हो उठता है। फिर भी जैसे-तैसे साहस बटोरकर उससे पूछा भी, तो उसने ऐसा कर्कश उत्तर दिया मानो खाने को ही दौडता हो। 'रास्ता भूल गया है मार्ग नही जानता था तो क्यों आया यहा पर ? तेरे बाप का नौकर हू क्या ? चले जा अपनी दायी ओर ।' आप ही बतायें उसके बताए मार्ग पर आपके कदम कभी भी बढेगे। आप रात्रि वही बिताने को तैयार हो सकते हैं। मगर उस व्यक्ति के द्वारा इगित दिशा पर एक कदम भी चलने का साहस नही कर सकेंगे।

अब आप निराश खडे हैं। तभी देखते है कि सामने से भव्य आकृति वाला मनुष्य चला आ रहा है। धोती दुपट्टा पहने, हाथ में कमडल लिए, माथे पर चदन का तिलक लगाए मुख से प्रभु के गीत गुनगुनाता वह दूर से ही कोई भद्र पुरुष प्रतीत हो रहा है। पास आने पर आपने उन्हें नमस्कार किया, प्रत्युत्तर में उसने भी नमस्कार किया। आपके द्वारा मार्ग पूछने पर उन्होंने कहा, 'बडे भाग्यवान हो पथिक, जो अब तक सुरक्षित बचे हो। यह वन ही ऐसा है। यहाँ अनेकों प्राणी प्रतिदिन भटक जाते है। खैर, घबराने की कोई बात नही अभी दिन ढलने में समय शेष है तुम्हारा गाव भी ज्यादा दूर नही। दायी ओर जाने वाली इस पगडडी से निकल जाओ। करीब एक मील आगे जाने पर एक नाला पडेगा उसे पार करके उसके दायी ओर मुड जाना करीब आधा मील और चलोगे तो तुम्हे खेत दिखाई पडने लगेगे। उन खेतो के बगल से बायी ओर एक पगडडी जाती है, उसे पकडकर तुम सीधे चले जाना, करीब एक मील चलने पर तुम अपने गाव पहुच जाओगे।'[1]

कल्पना कीजिए क्या इस व्यक्ति की बात पर आपको विश्वास नही होगा ? सहज ही आप उसकी बात का विश्वास कर लेगे तथा उसे धन्यवाद ज्ञापित करते हुये आपके कदम अनायास उस दिशा मे बढ जाएगे। कही तो दोनों ने एक ही बात थी। पर पहले व्यक्ति के अप्रमाणिक होने से उसके वचनो पर विश्वास नही हुआ तथा दूसरे की प्रमाणिकता ने सहज ही उस पर विश्वास उत्पन्न करा दिया। इसलिए कहा गया है कि वक्ता की प्रमाणिकता से वचनो मे प्रमाणिकता आती है।

सत्य शास्त्र आप्त प्रणीत होने के साथ-साथ उसमें कुछ और भी विशेषताए होती हैं। यथा वह पूर्वापर विरोध से रहित हो। दूसरो की युक्तियों एव तर्कों से उसके मूलभूत सिद्धान्त अखण्डनीय हो। प्राणी-मात्र का हितकारी हो । प्रयोजन भूत बातों का कथन हो तथा वह उन्मार्ग का नाश करने वाला हो। तभी वह सत्य शास्त्र की कोटि में आ सकता है। इसके विपरीत रागीद्वेषी व्यक्तियों द्वारा लिखे जाने वाले शास्त्र कुशास्त्र की कोटि में आते हैं।[2]

1 शाति पथ-प्रदर्शन

2 पूर्वापर विरुद्धादें व्यपेतो दोष सहते
द्योतक. सर्व भावाना आप्त व्याहतिरागम्. । धवल पुस्तक 1/966

गुरु—गुरु का मोक्षमार्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये हमारे मार्गदर्शक हैं। देव आज है नहीं और शास्त्र मौन है। ऐसी स्थिति में गुरु ही हमारे सहायी होते हैं। गुरु के अभाव में हम शास्त्र के रहस्यों को भी नहीं समझ सकते। जैसे समुद्र का जल खारा होता है हम उसमें नहा भी नहीं पाते और न ही उससे हमारी प्यास बुझती है। लेकिन वही जल सूर्य के प्रताप से वाष्पीकृत होकर बादल बनकर बरसता है तो वह मीठा और तृप्तिकर बन जाता है। हम आनंद के साथ उस जल में अवगाहित होते हैं। वैसे ही शास्त्र भी अगम समुद्र की तरह है। हम अपने क्षुद्र ज्ञान के बल से उसमें अवगाहित नहीं हो पाते। गुरु अपने अनुभव के प्रताप से उसे अवशोषित कर बादल की तरह जब हम पर बरसाते हैं तब महान् तृप्ति और अह्लाद उत्पन्न होता है, तथा हम सहज ही शास्त्रों के मर्म को समझ जाते हैं। जो प्रेरणा हमें गुरुओं की कृपा से मिलती है वह शास्त्र और देव से नहीं; क्योंकि गुरु तो जीवित देव होते हैं। शास्त्र और देव प्रतिमा तो जड़ है।

मान लें आपको किसी अपरिचित रास्ते से गुजरना पड़े, तो आप एकदम साहस नहीं जुटा पाते। भय लगता है। पता नहीं आगे यह रास्ता कैसा है? कितनी दुर्गम घाटियाँ हैं? कितने नदी-नाले हैं? कितने मोड़ हैं? कहीं जंगली जानवरों का आतंक तो नहीं? चोर-लुटेरों का दल तो नहीं रहता? बीच में पड़ने वाले गांवों के लोग पता नहीं कैसे हैं? ऐसी अनेक आशंकाओं से मन भयाक्रांत हो उठता है। रास्ते का पता लगने के बाद भी पांव आगे नहीं बढ़ पाते। संयोगतः वहीं कोई आपका चिर-परिचित मित्र मिल जाए और वह आपसे कहे—अरे! यह रास्ता तो बहुत अच्छा है। मैं तो रोज ही यहां से आया-जाया करता हूँ। इसके चप्पे-चप्पे से मैं परिचित हूं। यहां कोई कठिनाई नहीं, सड़क अच्छी है। रास्ते में पड़ने वाले गांव के लोग सभ्य और सरल हैं। आओ मेरे साथ मुझे भी उधर ही जाना है, मैं तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा देता हूं। उनकी बात सुनते ही हमारे मन का भय भाग जाता है तथा हमारे कदम सहज ही उस ओर बढ़ जाते हैं।

यही स्थिति गुरु की है। शास्त्र के माध्यम से हम सही मार्ग जान तो लेते हैं लेकिन अवरोधों के भय से उस पर चल पाने का साहस नहीं जुटा पाते। गुरु कहते हैं मार्ग तो बहुत सरल है। मुझे देखो मैं भी तो चल रहा हूं। आओ मेरे साथ। उन्हें देखकर सहज ही आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलने लगती है।

लोक में गुरु भी अनेक प्रकार के पाये जाते हैं। अनेक धर्म हैं और अनेकों धर्म गुरु। इनमें सच्चा गुरु किनको समझा जाए? यह बड़ा ही जटिल प्रश्न है। लौकिक क्षेत्र में तो माता-पिता, अध्यापक आदि गुरु माने जा सकते हैं, किंतु पारमार्थिक क्षेत्र में किन्हें गुरु माना जाए, हमें यह देखना है। सच्चे गुरु का स्वरूप बताते हुए आचार्य श्री समन्त भद्र ने कहा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोपरिग्रहः
ज्ञान ध्यान तपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्ते॥

अर्थात् विषय कषायों से रहित, आरंभ परिग्रहों से परिमुक्त होकर ज्ञान, ध्यान और तप में लवलीन साधु ही सच्चे गुरु हैं।

विषयासक्ति रहितता : यह सच्चे गुरु की पहली विशेषता है। **विषयाभिलाषा,**

राग-द्वेष व आकुलता की जननी है और पापो में प्रवृत्ति कराने वाली है। पाचो इन्द्रियो के विषयों के आधीन व्यक्ति कभी भी मत्य का साक्षात्कार नही कर सकता। आत्म-कल्याण के पथ पर चलने वाले सच्चे गुरु पचेन्द्रिय विजयी होते हैं। वे पॉचो इन्द्रियो के किसा एक विषय पर भी आसक्त नही होते। विषयामक्ति तो साधुत्व पर कलक है, अत सच्चे गुरु को पचेन्द्रिय विजयी होना चाहिए।

आरभ रहितता आरभ का मतलब है नौकरी, व्यापार, उद्यम, सेवा, खेनी आदि कार्य जो प्राणियों को दु ख पहुचाने वाली प्रवृत्तिया है। ये कार्य साधारण प्राणियो मे भी पाए जाते है। मनुष्य इन्हीं के गोरख-धधे मे फसकर दु खी है। अत गुरु, जिन्हें हम अपना आदर्श बना रहे है, उन्हें इनसे दूर रहना चाहिए।

परिग्रह रहितता यह सच्चे गुरु की तीसरी विशेषता है। ममत्व भाव को परिग्रह कहते है। जिनके पास थोडा भी बाह्य या भीतरी पदार्थों के प्रति ममत्व हो, वे मच्चे गुरु नही कहला सकते, क्योकि ममत्व तो समम्त विकारो का मूल है। पापो मे परिग्रह सबसे बडा पाप है, इसके होने पर अन्य पापों मे प्रवृत्ति अवश्यभावी होती है। परिग्रह आकुलता का कारण तथा समता व वीतरागता का विनाशक है। इसलिए सच्चे साधु अपने पास कुछ भी परिग्रह नही रखते। यहा नक कि वे अपने शरीर पर वस्त्र का एक छोटा सा टुकडा भी नही रखते।

सतत् ज्ञानार्जन शीलता सतत् ज्ञानाभ्यास सच्चे गुरु की चौथी विशेषता है। विषय कषायों से दूर होकर जब साधुगण अपने आत्म ध्यान से बाहर आते है तो सासारिक प्रपचों से दूर हट धर्मशास्त्रो में अपने चित्त को रमाये रखते है। यही उनकी सतत् ज्ञानार्जनशीलता है। ज्ञानाभ्यास से चित्त मे निर्मलता, समना व वीनरागता की सिद्धि व वृद्धि होती रहती है।

प्रगाढ़ ध्यानलीनता और तपस्विता सच्चे गुरु सदा अपनी आत्मा के ध्यान में लीन रहते हैं। वह अपनी साधना की अभिवृद्धि के लिए शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार का तप करते रहते हैं। आत्म-साधक गुरु का तपस्वी होना अनिवार्य है। तप से ही आत्मा में निखार आता है। इसके विपरीत भोग-विलासो मे रत सुविधा भोगी नामधारी गुरु सच्चे गुरु नही कहला सकते। तपस्विता सच्चे गुरु की छठी कसौटी है।[1]

तीन मूढ़ता

इस प्रकार सम्यक् दृष्टि सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के चरणों में सदा समर्पित रहता है। वह किसी प्रकार की ऐसी अज्ञानपूर्ण प्रवृत्तिया नही करता जिसका कोई अर्थ न हो तथा जिससे कोई धार्मिक या सामाजिक हानि उठानी पडती हो। वह एक वैज्ञानिक की तरह तर्क की कसौटी पर कसकर जो कुछ उसके आत्महित में हो, उसे ही धर्म बुद्धि से स्वीकार करता है। लोक में चली आ रही अर्थहीन रुढियो को वह धार्मिक मूर्खता समझता है। जैन दर्शन में इन्हें मूढता कहा गया है और वह तीन प्रकार की होती है[1]—

1 र क श्रावकाचार-10

1. **लोकमूढ़ता**—सम्यक् दृष्टि दूसरों की देखा-देखी में अधश्रद्धा से ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिससे आत्मा की विशुद्धि नहीं होती। "इसमें स्नान करने से जन्म-जन्मान्तरों के पाप नष्ट होते हैं।" इस वृद्धि से वह कभी नदी या सागर मे स्नान नहीं करता, क्योंकि ऐसा होता तो सारे जलचर जीवों का पाप बचना ही नहीं चाहिए। उन्हे तो अब तक पूर्ण निष्पाप हो जाना चाहिए। धर्म बुद्धि से पर्वत पर चढ़ना-गिरना, अग्नि का ढेर लगाकर उस पर कूदना (अलाव कूदना) पत्थरों और बालू का ढेर लगाकर पूजना तथा पेड़-पौधों की पूजा आदि लोक मूढ़ता है। सम्यक् दृष्टि ऐसे कार्य नहीं करता। वह इन्हें 'लोकमूर्खता' समझता है।

2. **देव मूढ़ता** : वह कल्पित, रागी-द्वेषी देवी-देवताओ को ईश्वर मानकर उनसे कोई वरदान नहीं माँगता। दुःख दूर करने के लिये किसी प्रकार की प्रार्थना नहीं करता तथा धन, वैभव, राज्य, पुत्रादिक की याचना नहीं करता। क्योंकि उसका यह दृढ विश्वास रहता है कि संसार के सारे दुःख-सुख अपने-अपने पाप और पुण्य के आश्रित हैं। कोई भी हमें कुछ दे नहीं सकता और न ही हमारा कुछ छीन सकता है। दूसरे हमें कुछ देते है इस प्रकार के विश्वास से कल्पित देवी-देवताओं की पूजा करना 'देव-मूढ़ता' है।

3. **गुरु मूढ़ता**—सच्चे गुरु की परख हो जाने के कारण वह उनके अतिरिक्त वेशधारी जन-प्रवंचक ऐसे गुरु को नहीं मानता जो सत्य, ज्ञान और सदाचार से दूर है। लोगों से अपनी पूजा कराते हैं। धन संग्रह करते हैं तथा आरभ परिग्रह मे युक्त रहते हैं। झूठे आश्वासन देकर जनता को ठगते हैं एवं मादक पदार्थों का सेवन करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को गुरु मानकर वह उनकी पूजा प्रशंसादि नहीं करता, अपितु पत्थर की नाव की तरह संसार में डुबाने वाला समझकर उनकी उपासना को गुरु मूढ़ता/मूर्खता समझता है।

आठ मद

इसी प्रकार वह, मैं बहुत ज्ञानवान हूं, मेरी बहुत प्रतिष्ठा है, मेरा कुल ऊंचा है, मेरी जाति उच्च है, मैं अतुल पराक्रम का धनी हूं, मेरे पास विपुल धन है, मैं महान् तपस्वी हूं तथा मैं बहुत रूपवान हूं इत्यादिक रूप से अहंकार नहीं करता। ये मद कहलाते हैं।[1] इनके होने पर सम्क्त्व का दम निकल जाता है। सम्यक् दृष्टि इन उपलब्धियों को क्षणिक समझकर नाशवान समझता है। यह सम्यक् दर्शन का खतरनाक शत्रु है।

सम्यक् दर्शन के अंग

इस प्रकार सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर तीन मूढ़ता और आठ मदों से रहित होकर श्रद्धा करने वाले सम्यक् दृष्टि के स्वाभाविक रूप से आठ गुण प्रकट हो जाते हैं। जिससे उसका आचरण निर्मल बन जाता है। इन्हें सम्यक्त्व के अंग भी कहते हैं। जैसे हमारे शरीर के आठ अंग हैं वैसे ही सम्यक्त्व के आठ अंग हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़-दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। आइए क्रमपूर्वक इन पर विचार करें—

निःशंकित : शंका का अर्थ होता है संदेह। सम्यक् दृष्टि निःशंक होता है। उसे

---

1 र. क. श्रावकाचार-25

मोक्षमार्ग पर किसी भी प्रकार की शंका या संदेह नहीं रहता। रहे भी कैसे? श्रद्धा और शंका भला एक साथ रह भी कैसे सकते हैं? हम अपने लौकिक जीवन में भी देख सकते हैं, जिसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा रहती है, उसके प्रति कोई संदेह नहीं रहता। संदेह उत्पन्न होते ही श्रद्धा टूटने लगती है। सम्यक् दृष्टि को परमार्थ भूत देव, गुरु तथा उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य सिद्धांत सन्मार्ग और वस्तु तत्त्व पर अविचल श्रद्धा रहती है। वह किसी प्रकार के लौकिक प्रलोभनों से विचलित नहीं होता। यह अविचलित श्रद्धा ही निःशंकित अंग या गुण है।

निःकांक्षित : विषय भोगों की इच्छा को आकांक्षा कहते हैं। सम्यक् दृष्टि किसी प्रकार की लौकिक व पारलौकिक आकांक्षा नहीं रखता। उसके मन में इंद्रिय भोगों के प्रति बहुमान नहीं होता। वह बाहरी सुविधाओं को क्षणिक संयोगमात्र मानता है। उसकी यह दृढ़ मान्यता रहती है कि संसार के सारे संयोग कर्मों के आधीन हैं, साथ ही नाशवान भी हैं। पापोदय आ जाने से एक ही क्षण में धनवान से निर्धन, रूपवान से कुरूप, विद्वान से पागल, राजा से रंक हो सकता है। संसार में किसी का भी सुख शाश्वत नहीं होता। वह संसार के सभी सुखों को विष-मिश्रित मिष्ठान्नवत् अत्यंत हेय समझता है। यह सब समझकर वह सांसारिक प्रलोभनों से दूर रहता है। यही उनका निःकांक्षित गुण है।

निर्विचिकित्सा : विचिकित्सा का अर्थ ग्लानि या घृणा होता है। सम्यक् दृष्टि मानव शरीर की बुरी आकृतियों को देखकर घृणा नहीं करता, अपितु हमेशा उनके गुणों का आदर करता है। उसका विश्वास रहता है कि शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है। गुणो द्वारा ही इसमें पवित्रता आती है। वह दीन-दुःखी, दरिद्र, अनाथ और रोगियों के बीमार शरीर को देखकर घृणा नहीं करता अपितु प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करता है। वह पदार्थ के बाहरी रूप पर दृष्टि न देकर उसके आंतरिक रूप पर दृष्टि देता है। इस अंतर्मुखी दृष्टि के कारण वह शरीर के ग्लानिजनक रूप से विमुख हो उसके गुणों में प्रीति रखता है। यही उसका निर्विचिकित्सा गुण है।

अमूढ़ दृष्टि—मूढ़ता 'मूर्खता' को कहते हैं। मूर्खतापूर्ण दृष्टि को मूढ़ दृष्टि कहते हैं। सम्यक् दृष्टि विवेकी होता है। वह अपने विवेक व बुद्धि मे सत्य-असत्य, हेय-उपादेय और हित-अहित का निर्णय कर ही उसे अपनाता है। वह अंधश्रद्धालु नहीं होता। परमार्थ-भूत, देव, शास्त्र और गुरु को वह पूर्ण बहुमान देता है। इनके अतिरिक्त अन्य कुमार्ग गामियो के वैभव को देखकर प्रभावित नहीं होता, न ही उनकी निंदा या प्रशंसा करता है अपितु उनके प्रति राग-द्वेष से ऊपर उठकर माध्यस्थ भाव धारण करता है। यही उसका अमूढ़ दृष्टित्व है।

उपगूहन : सम्यक् दृष्टि गुण ग्राही होता है। सतत् अपनी साधना के प्रति जागरूक रहता है। यदि कदाचित् किसी परिस्थिति, अज्ञान या प्रमाद के कारण किसी व्यक्ति से कोई अपराध हो जाए तो वह उसे सबके बीच प्रकट नहीं करता, अपितु एकांत में समझाकर उसे दूर करने का प्रयास करता है। जैसे बाजार में अनेक वस्तुएं रहते हुए भी हमारी दृष्टि वहीं जाती है जिसकी हमें जरूरत है। वैसे ही सम्यक् दृष्टि को गुण ही गुण दिखाई पड़ते हैं। अपने अंदर अनेक गुणों के रहने के बाद भी वह कभी अपनी प्रशंसा नहीं करता अपितु अपने दोषों को ही बताता है। दूसरों के दोषों को वह सदा छिपाकर उनके गुणों को प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि वह अपने दोषों

को सदा देखता रहता है तथा दूसरे के गुणों को। अपने गुणों को छिपाता है तथा दूसरे के दोषों को। अपनी निंदा करता है तथा दूसरों की प्रशंसा। दूसरे के दोषों तथा आने गुणों को छुपाने के कारण इस गुण का नाम 'उपगूहन' गुण है। अपने गुणों में निरंतर वृद्धि होते रहने के कारण उसके इस गुण का नाम 'उपबृंहण' गुण भी है।

स्थितिकरण : सम्यक् दृष्टि कभी किसी को नीचे नहीं गिराता। वह सभी को ऊंचा उठाने की कोशिश करता है। अपने-आपको भी वह हमेशा मोक्षमार्ग में लगाए रखता है। यदि कदाचित् किसी परिस्थितिवश वह उससे स्खलित होता है तो बार-बार अपने को स्थिर करने में तत्पर रहता है। उसी तरह किसी अन्य धर्मात्मा को किसी कारण से अपने मार्ग से स्खलित होते देखकर उसे बहुत पीड़ा होती है। वह येन-केन-प्रकारेण उसे सहायता देकर उसकी धार्मिक आस्था को दृढ़ करता है। भले ही इसमें उसे कोई कठिनाई उठानी पड़े। यदि कोई व्यक्ति आर्थिक परेशानियों से अपने मार्ग से च्युत हो रहा है तो उसे आर्थिक सहयोग देकर अथवा किसी काम पर लगाकर उसे पुनः वहां स्थित करता है। शारीरिक रोग के कारण विचलित हो रहा है तो औषधि देकर शारीरिक सेवा करके उसे धर्ममार्ग में लगाता है। यदि कुसंगति या मिथ्या उपदेश के कारण वह अपने धर्म मार्ग से स्खलित होता है तो योग्य उपदेश देकर उसे पुनः स्थित करने का प्रयास करता है। अन्य भी कोई कारण आने पर वह यथासंभव सेवा देकर उसे स्थिर करता है। यही सम्यक् दृष्टि का स्थितिकरण अंग है।

वात्सल्य : वात्सल्य शब्द वत्स से जन्मा है। वत्स का अर्थ होता है बछड़ा। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के प्रति निःस्वार्थ और निष्कपट तथा सच्चा प्रेम रखती है, उसमें कोई बनावटीपन नहीं होता, उसे देखकर उसका रोम-रोम पुलकित हो जाता है। उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि अपने, साधर्मी बंधुओं के प्रति निश्छल निःस्वार्थ और सच्चा प्रेम रखता है। उसमें कोई दिखावटी या बनावटीपन नहीं रखता। उन्हें देखकर उसे उतनी ही प्रसन्नता होती है जितनी कि किसी आत्मीय मित्र से मिलकर होती है। वह उनके साथ अत्यंत आत्मीयता का व्यवहार करता है वह अपने प्रेम और वात्सल्य की डोर से पूरे समाज को बांधे रहता है। सभी लोग उसके प्रेम-पाश में बंधे रहते हैं। वह सबके प्रति सहयोग और सहानुभूति की भावना रखता है। यह उसका वात्सल्य गुण है।

प्रभावना : सम्यक् दृष्टि की यह भावना रहती है कि जिस प्रकार हमें सही दिशा दृष्टि मिली है, सत्य धर्म का मार्ग मिला है। उसी प्रकार सभी लोगों का अज्ञानरूपी अंधकार दूर हो, उन्हें भी सही दिशा मिले, वे भी सत्य धर्म का पालन करें। जगत् हितकारी इस प्रकार की भावना से अनुप्राणित होकर वह सदा अपने आचरण को विशुद्ध बनाए रखता है। उसका आचरण ऐसा बन जाता है कि उसे देखकर लोगों को धार्मिक आस्था उत्पन्न होने लगती है। व्यक्ति उसका अनुकरण कर उसके आदर्शों पर चलने लगते हैं। वह परोपकार, ज्ञान, संयम आदि के द्वारा विश्व में अहिंसा के सिद्धांतों का प्रचार करता है, तथा अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सवों को भी करता है, जिसमें हजारों लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर सद्भावनापूर्वक विश्वक्षेम की भावना भाते हैं) जिसे देखकर लोगों को अहिंसा धर्म की महिमा का भान होता है, यही उसका 'प्रभावना' गुण है।

इस प्रकार निःशंकितादि आठ गुण सम्यक्त्व के कहे गए हैं। इन आठ गुणों के पूर्ण

पालन करने पर सम्यक् दर्शन रहता है, अन्यथा नही। जिस प्रकार किसी विषहारी मत्र में यदि एक अक्षर भी कम हो जाता है तो वह मत्र प्रभावहीन हो जाता है। उसी प्रकार एक अग से भी हीन सम्यक्त्व हमारे ससार की सतति को नही मिटा पाता। आठों अग पूर्ण होने पर ही सम्यक्त्व अपना सही कार्य करता है।

सम्यक्त्व के इन आठ अगों की तुलना हम अपने शरीर के आठ अगों से कर सकते है। शरीर के भी आठ अग होते हैं। दो पैर, दो हाथ, नितब, पीठ, वक्षस्थल और मस्तिष्क। शरीर के इन अगों के प्रति यदि हम थोडी बारीकी से विचार करें तो हमें इनमें भी सम्यक्त्व की झलक दिखाई देती है। समझने के लिए जब हम चलते हैं तो चलते वक्त एक बार रास्ता देख लेने के बाद बिना किसी सदेह के अपना दाया पैर बढा लेते हैं। दाया पैर बढते ही बिना किसी अपेक्षा के बाया पैर स्वय बढ जाता है, यही तो नि शकित और निकाक्षित गुण का लक्षण है अत दाया और बाया पैर क्रमश नि शकित और निकाक्षित अग के प्रतीक हैं। तीसरा अग है निर्विचिकित्सा। विचिकित्सा घृणा या ग्लानि को कहते हैं। इस गुण के आते ही घृणा या ग्लानि समाप्त हो जाती है। हम अपने बाए हाथ को देखें, इस हाथ से हम शरीर के मल-मूत्रादिक को साफ करते हैं। उस समय हम किसी प्रकार की घृणा का अनुभव नही करते है। यह हाथ 'निर्विचिकित्सा' अग का प्रतीक है।

जब हमें किसी बात पर जोर देना होता है। जब हम कोई बात आत्मविश्वास से भरकर कहते है, तब हम अपना दाया हाथ उठाकर बताते हैं, तथा अन्य किसी की बात पर ध्यान नही देते। यह 'अमूढ दृष्टि' का प्रतीक है, क्योंकि इस अग के होने पर वह अपनी श्रद्धा पर अटल रहता है तथा उन्मार्गियो और उन्मार्ग से प्रभावित नही होता। शरीर का पाचवा अग नितम्ब है। इसे सदैव ढाक कर रखा जाता है। इसे खुला रखने पर लज्जा का अनुभव होता है, साथ ही सभ्यता के विरुद्ध भी माना जाता है। यही तो 'उपगूहन' है, क्योंकि इसमे अपने गुण और पर के अवगुण को ढाका जाता है। दूसरे के दोष को उघाडना अपनी जाघ उघाडने की तरह है। नितम्ब उपगूहन अग का प्रतीक है। सम्यक्त्व का छठा अग है 'स्थितिकरण'। जब हमे किसी वजनदार वस्तु को उठाना होता है तो उसे अपनी पीठ पर लाद लेते है। इससे हमे चलने मे सुविधा हो जाती है। पीठ 'स्थितिकरण' अग का प्रतीक है, क्योकि गिरते हुए को सहारा देना ही तो 'स्थितिकरण' है।

हृदय शरीर का सातवा अग है। जब हम आत्मीयता और प्रेम से भर जाते है तब अपने आत्मीय को हृदय से लगा लेते हैं। हृदय वात्सल्य अग का प्रतीक है। वात्सल्य का अभाव होने पर सम्यक्त्व भी हृदय शून्य ही सिद्ध होता है। मस्तिष्क शरीर का आठवा अग है। इस अग से हम सोच-विचार (विवेक) का काम लेते है। यह प्रभावना अग का प्रतीक है, क्योकि इसके ही आधार पर हम अपने विचारो से दूसरों को प्रभावित करते हैं तथा प्रवचनादि कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार इन आठ अगो के पूर्ण होने पर ही हमारा सम्यक्त्व सही रह पाता है, अन्यथा वह तो विकलाग की तरह अक्षम रहता है। यदि हम अपने शरीर के अगों की गतिविधियो की तरह सम्यक्त्व के अगो पर नजर रखे तो फिर हमारा सम्यक्त्व स्थिर रहेगा।

सम्यक् ज्ञान

वस्तुओं को यथा रीति जैसा का तैसा जानना सम्यक् ज्ञान है। दृढ़ आत्मविश्वास के अनन्तर ज्ञान में सम्यक्पना आता है। यों तो संसार के पदार्थों का ज्ञानहीनाधिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति को होता है। पर उस ज्ञान का आत्मविकास के लिए उपयोग करना बहुत कम लोग ही जानते हैं। सम्यक् दर्शन के पश्चात् उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्मविकास का कारण होता है। स्व और पर का भेद विज्ञान यथार्थतः सम्यक्ज्ञान है। हेयोपादेय का विवेक कराना इसका मूल कार्य है।[1]

सम्यक् ज्ञान के अंग

सम्यक् दर्शन की तरह सम्यक्ज्ञान के भी आठ अग निरूपित किए गए हैं।[2]

1. शब्दाचार—मूलग्रन्थ के शब्दों (स्वर, व्यञ्जन और मात्राओ) का शुद्ध उच्चारणपूर्वक पढ़ना।[2]

2. अर्थाचार—शास्त्र की आवृत्ति मात्र न करके उसका अर्थ समझकर पढना।

3. तदुभयाचार—अर्थ समझते हुए शुद्ध उच्चारण सहित पढना।

4. कालाचार—शास्त्र पढ़ने योग्य काल में ही पढ़ना, अयोग्य काल में नहीं। दिग्दाह, उल्कापात, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, संध्याकाल आदि में शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिये।

5. विनयाचार—द्रव्य क्षेत्र आदि की शुद्धि के साथ विनयपूर्वक शास्त्र अभ्यास करना।

6. उपधानाचार—शास्त्र के मूल एवं अर्थ का बार-बार स्मरण करना, उसे विस्मरण नहीं होने देना उपधानाचार है।

7. बहुमानाचार—ज्ञान के उपकरण एवं गुरुजनों की विनय करना।

8. अनिन्हवाचार—जिस शास्त्र या गुरु से ज्ञान प्राप्त किया है उसका नाम न छिपाना।

उक्त आठ अंगों के पालन से सम्यक् ज्ञान पुष्ट और परिष्कृत होता है।

सम्यक् ज्ञान के भेद

सम्यक् ज्ञान के पांच भेद हैं। मति, श्रुत अवधि मन : पर्यय और केवल।[3] **मतिज्ञान**—इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। इसके चार भेद हैं। अवग्रह ईहा अवाह और धारणा। विषय और विषयी के सन्निपात/सम्पर्क के अनन्तर "आदितम कुछ है" इस प्रकार के अर्थबोध को **अवग्रह** कहते हैं। अवग्रह के द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में और स्पष्ट जानने की इच्छा की ईहा कहते हैं। ईहा में निर्णय की ओर झुकाव होता है। ईहा के बाद एक निर्णय पर पहुंचना **अवाय** है। अवाय द्वारा गृहीत अर्थ को संस्कार के रूप में धारण

1. उपासका अध्ययन-241
2. श्रावकाचार सग्रह1/9
3. त सू.1/9

कर लेना ताकि कालान्तर में उसकी स्मृति रह सके, धारणा है। पदार्थ ज्ञान का यही क्रम है। ज्ञात वस्तु के ज्ञान में यह क्रम बड़ी द्रुतगति से चलता है।

पूर्वोक्त अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का होता है। "अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह" व्यञ्जन अर्थात् अव्यक्त अथवा अस्पष्ट पदार्थों का ज्ञान व्यञ्जनावग्रह है। यह चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों द्वारा ही होता है। व्यक्त अथवा स्पष्ट शब्दादि विषयों को ग्रहण करने वाला ज्ञान अर्थावग्रह कहलता है। यह पांचों इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है। जैसे मिट्टी के नये घड़े पर पानी की बूंदें डालने पर वह गीला नहीं होता परन्तु लगातार जल बिन्दुओं को डालते रहने पर वह गीला हो जाता है। उसी प्रकार व्यक्त ग्रहण के पहले अव्यक्त ज्ञान व्यञ्जनावग्रह है और व्यक्त ग्रहण अर्थाविग्रह है।

बहु-बहु विधादि पदार्थों की उपेक्षा मतिज्ञान बारह प्रकार का होता है तथा विस्तार से इन्हीं भेदों की संख्या 336 हो जाती है।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के पश्चात् जो चिन्तन-मनन द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। मतिज्ञान द्वारा पदार्थ के विषय में या उसके सम्बन्ध से अन्य वस्तु के विषय में जो विशेष चिन्तन आरम्भ होता है। यह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के लिए शब्द, श्रवण या संकेत आवश्यक है। अमुक शब्दका अमुक अर्थ में संकेत है यह जानने के बाद ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का बोध होता है। शब्द, श्रवण, संकेत मतिज्ञान है। उसके बाद शब्द और अर्थ के वाच्य वाचक सम्बन्ध के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसलिए मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान सम्भव नहीं है।

प्राचीन आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान हो श्रुत अर्थात् शास्त्र से संबद्ध हो। आप्त/वीतरागी पुरुषों द्वारा रचित आगम या शास्त्रों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

इस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य। अंग प्रविष्ट के बारह भेद हैं तथा अंग बाह्य अनेक भेद वाला है।

अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है। भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय। देवों और नारकियों को यह ज्ञान जन्म के क्षणों में ही स्वभावतः प्राप्त हो जाता है। अतएव वह भव प्रत्यय है। मनुष्य और पशुओं में यह ज्ञान सम्यक् दर्शानादि विशेष गुणों के प्रभाव से ही उत्पन्न होता है इसलिए इसे गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं। इसके छह भेद हैं— 1. अनुगामी, 2. अननुगामी, 3. वर्धमान, 4. हीयमान, 5. अवस्थित, 6. अनवस्थित

अनुगामी अवधिज्ञान ज्ञाता का अनुसरण करता हुआ छाया की तरह उसके साथ-साथ जाता है। इसके विपरीत अननुगामी अवधिज्ञान क्षेत्र विशेष से पृथक् होने पर छूट जाता है। वर्धमान अवधिज्ञान शुक्लपक्ष की चन्द्रकलाओं की तरह उत्पत्ति के बाद निरन्तर वृद्धिगत होता रहता है। जबकि हीयमान अवधिज्ञान कृष्णपक्ष की चन्द्र कलाओं की तरह निरन्तर घटता रहता है। अवस्थित अवधिज्ञान एक-सी स्थिति में रहता है तथा अनवस्थित

अवधिज्ञान अक्रम से कभी एक रूप नहीं रहता है। यह छह भेद स्वामी की अपेक्षा है। विषय-क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान के तीन भेद है। देशावधि, परमावधि और सर्वाविधि। इनके विषय-क्षेत्र और पदार्थों के ज्ञान में उत्तरोत्तर अधिक विस्तार और विशुद्धि पाई जाती है। देशावधि एक बार होकर छूट भी सकता है और इस कारण वह प्रतिपाती है किन्तु परमावधि और सर्वावधि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद केवल ज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त कभी नहीं छूटते। ये दोनों तद्भव मोक्षगामी मुनियों के ही होते हैं।

मनःपर्ययज्ञान : दूसरों के मनोगत अर्थ को जानने वाला ज्ञान मनःपर्ययज्ञान है। यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जैसा सोचता है मन में उसके अनुरूप पुद्गल द्रव्यों की आकृतियां/पर्याएं बन जाती हैं। वस्तुतः मनःपर्यय का अर्थ है मन की पर्यायों का ज्ञान।[1]

मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं "ऋजुमति और विपुलमति" ऋजुमति सरल मन, वचन, काय से विचार किए गए पदार्थ को जानता है पर विपुलमति मनःपर्ययज्ञान सरल और कुटिल दोनों तरह से विचार किए गए पदार्थों को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है किन्तु विपुलमति ज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त बना रहता है। इसलिए इसे अप्रतिपाती कहते हैं। दोनों प्रकार का मनःपर्ययज्ञान ऋद्धिधारी मुनियों को ही होता है।

अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान में विशुद्धि क्षेत्र स्वामी और विषय की अपेक्षा अन्तर है। अवधिज्ञान के द्वारा ज्ञात किए गएपदार्थ के अनन्तवें भाग को मनःपर्ययज्ञान जानता है।

केवलज्ञान—त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और पर्यायों को युगपत प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। केवलज्ञानी को ही सर्वज्ञ कहते हैं। केवलज्ञानी केवलज्ञान होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है। केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्य और पर्याय है। कोई भी वस्तु ऐसी नही है जो केवलज्ञान का विषय न हो। समस्त ज्ञानावरण कर्म के समूल विनष्ट होने पर यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यह पूर्णत निरावरण और निर्मल ज्ञान है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं। केवलज्ञान आत्मा की ज्ञान शक्ति का पूर्ण विकसित रूप है।

सम्यक् चारित्र

जिसके द्वारा हित की प्राप्ति और अहित का निवारण हो वह चारित्र है।[2] सम्यक् चारित्र दो प्रकार का है व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र। सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान पूर्वक विषय वासना, हिसा, झूठ चोरी कुशील और परिग्रह रूप अशुभ क्रियाओं से निवृत्ति के साथ व्रतशील सयमादि धारण करना व्यवहार चारित्र है।

बाह्य क्रिया अर्थात पापों के निरोध से तथा अभ्यन्तर क्रिया अर्थात् योगों के निरोध मे उत्पन्न आत्मा की शुद्धि विशेष निश्चय चारित् है। इसी को समता, मध्यस्थता या

1 तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा पृ 334

2 द्रव्य सग्रह गाथा 45

वीतरागता कहते हैं ।[1]

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का सूक्ष्म, तर्क संगत और वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मोक्ष आत्म विकास की परम और पूर्ण अवस्था है।

जैन धर्म और अवतारवाद

अवतारवाद के सम्बन्ध में जैन धर्म का अपना अलग दृष्टिकोण है। वह अनंत आत्मायें मानता है। वह प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है तथा परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है। किंतु यहां परमात्मा के पुनः भवांतरण को मान्यता नहीं दी गई है। इस धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा कृत कर्मों का नाश करके परमात्मा बन सकती है। स्वरूप दृष्टि से सब आत्मायें एक (समान) हैं। यहां तक कि हाथी और चींटी दोनों में आत्मायें समान हैं। वास्तव में सब आत्मायें अपने आप में स्वतंत्र तथा पूर्ण हैं। वे किसी अखंड सत्ता की अंशभूत नहीं है। प्रत्येक नर को नारायण और भक्त को भगवान बनने का अधिकार देना ही जैन धर्म की पहली और अकेली मान्यता है। इसी आधार पर जैन धर्म में व्यक्ति विशेष की अपेक्षा यहां मात्र गुणों के पूजने का विधान है। उसका आराध्य मंत्र णमोकार मंत्र (नमस्कार मंत्र) है। बैरिस्टर चम्पतरायजी ने अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ Key of Knowledge में ठीक ही लिखा है—

Man-Passions = God
God + Passions = Man
अर्थात् मनुष्य- वासनाएं = भगवान्
ईश्वर + वासनाएं = मनुष्य

1. वही गाथा 46

आत्मविकास के क्रमोन्नत सोपान

- गुण स्थान का अर्थ
- गुण स्थान के भेद
- विविध आत्मा
- दो श्रेणियाँ
- जीवन मुक्ति और देह मुक्ति में अतर
- गुणस्थानों में आरोह अवरोह का क्रम

आत्मविकास के क्रमोन्नत सोपान

जीवन विकासशील है। जीवन के विभिन्न पक्षों के विकास का आकलन विभिन्न माध्यमों से किया जाता है। शरीर सम्बन्धी विकास को शारीरिक विकास कहते हैं तथा मन संबंधी विकास मानसिक विकास कहलाता है। इसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी विकास आत्मिक या आध्यात्मिक विकास कहलाता है। जैसे बाल, युवा, वृद्ध, आदि अवस्थाओं में क्रम होता है; हेमन्त, शिशिर, बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद आदि ऋतुओं में क्रम होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक विकास का भी अपना एक क्रम होता है—प्रथम भूमिका, द्वितीय भूमिका, तृतीय भूमिका आदि। जैन दर्शन के अनुसार साधक ज्यों-ज्यों अपनी साधना की ऊंचाइयों का स्पर्श करता है, त्यों-त्यों उसकी आत्मा का विकास होता जाता है। इस क्रम का परिज्ञान होने से आत्मा की उन्नत और अवनत अवस्थाओं का पता चलता है तथा इससे आत्मविकास की साधना में भी बहुत सहायता मिलती है। इसीलिए जैनागम में आत्मा की विकास-यात्रा को गुणस्थानों द्वारा अत्यंत सुन्दर ढंग से विवेचित किया गया है, जोकि न केवल साधक की विकास-यात्रा की विभिन्न मनोभूमियों का चित्रण करता है, अपितु आत्मा की विकास यात्रा की पूर्व भूमिका से लेकर गंतव्य आदर्श तक की समुचित व्याख्या भी प्रस्तुत करता है।

गुण-स्थान का अर्थ

गुण का अर्थ होता है 'आत्मिक गुण' तथा स्थान का अर्थ है विकास। इस प्रकार आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुण-स्थान कहते हैं। जीव के परिणाम सदा एक से नहीं रहते। उसके मोह एवं मन, वचन, काय की वृत्ति के कारण अंतरंग परिणामों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। गुण-स्थान आत्म-परिणामों में होने वाले इन उतार-चढ़ावों का बोध कराता है। साधक कितना चल चुका है तथा कितना आगे और चलना है? गुण-स्थान इसे बताने वाले मार्ग सूचक पट्ट हैं। गुण-स्थान जीव के मोह और निर्मोह दशा की भी व्याख्या करता है। यह संसार और मोक्ष के अन्तर को स्पष्ट करता है। गुण स्थानों के आधार पर जीवों के बंध और अबंध का भी पता चलता है। गुण-स्थान आत्म-विकास का दिग्दर्शक है।

जैन दर्शन के अनुसार जीवात्मा अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति स्वरूपी है। किंतु अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण वह प्रकट नहीं हो पाता कर्मावरण उसके मूल रूप को

आवृत या विकृत करते हैं। जितनी-जितनी कर्म आवरण की घटाए सघन होती जाती हैं उतनी-उतनी जीव शक्तियों का प्रकाश कम होता जाता है तथा इसके विपरीत जैसे-जैसे कर्म-पटल विरल होते हैं, वैसे-वैसे आत्मा की शक्ति प्रकट होती जाती है। जीव के परिणामों के उतार-चढाव के अनुसार आत्मिक शक्तियों का विकास और ह्रास होता रहता है। यू तो परिणामों के उतार-चढाव की अपेक्षा आत्मिक विकास के आरोहण और अवरोहण के अनत विकल्प सभव हैं फिर भी परिणामों की उत्कृष्टता और जघन्यता की अपेक्षा, उन्हें चौदह भूमिकाओं में विभक्त किया गया है जो निम्नलिखित है —

गुणस्थान के भेद

1 मिथ्यादृष्टि, 2 सासादन, 3 सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, 4 असयत सम्यक् दृष्टि, 5 सयता सयत 6 प्रमत्त सयत, 7 अप्रमत्त-सयत, 8 अपूर्वकरण, 9 अनिवृत्तिकरण, 10 सूक्ष्म-साम्पराय, 11 उपशात मोह, 12 क्षीण मोह, 13 सयोग केवली, 14 आयोग केवली।[1]

यहा सम्यक् दृष्टि के साथ लगा असयत विशेषण अपने से नीचे के सभी गुण-स्थानों में असयतत्व व्यक्त करता है, क्योंकि वह अत दीपक है। इससे ऊपर गुणस्थानों में सयम की यात्रा का सूत्रपात होता है। सम्यक्-दृष्टि पद ऊपर के सभी गुणस्थानों में नदी-प्रवाह की तरह अनुवृत्ति को प्राप्त है अर्थात् आगे के समस्त गुण-स्थान में सम्यक्-दर्शन पाया जाता है। छठे गुणस्थान में प्रयुक्त 'प्रमत्त' विशेषण अपने साथ नीचे के सभी गुणस्थानों में प्रमाद के अस्तित्व का द्योतन करता है तथा उसके आगे जुडे 'सयत' शब्द से यह सूचित होता है कि ऊपर के सभी गुण स्थान सयतों के ही होते है। (बारहवें गुण-स्थान के साथ जुडा 'छद्मस्थ' शब्द भी अन्त-दीपक है, क्योंकि आवरण कर्मों के अभाव हो जाने से उससे आगे की भूमिकाओं में छद्मस्थता नही रहती।

त्रिविध आत्मा—उपर्युक्त चौदह गुण-स्थानवर्ति जीवों में प्रथम से तृतीय गुणस्थान तक के जीव बहिरात्मा, चतुर्थ से बारहवें गुण-स्थानवर्ति अन्तरात्मा तथा तेरहवें और चौदहवें गुण-स्थानवर्ति जीव परमात्मा कहे जाते हैं।

बहिरात्मा जीव देह और आत्मा को एक मानकर बाह्य ऐन्द्रिक विषयों में अनुरक्त रहते हैं। शरीर की उत्पत्ति को अपनी उत्पत्ति तथा शरीर के विनाश को अपना विनाश समझते हैं। इस प्रकार देह में ही आत्मा की भ्रान्ति बनाए रखने के कारण भव भ्रमण करते रहते हैं। मिथ्यात्व सासादन और मिश्रगुण स्थानावर्ति जीव क्रमश उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य बहिरात्मा हैं क्योंकि बहिरात्मता का कारण मिथ्याभाव क्रमश क्षीण होता जाता है।

अन्तरात्मा अन्तरात्मा अवस्था में जीव आत्मा और देह की पृथकता को समझकर अन्तर्मुखी/निरासक्त जीवन जीता हुआ भव बधन को काटने में जुट जाता है। अविरत सम्यक्-दृष्टि जघन्य अतरात्मा है तथा निर्विकल्प ध्यान में स्थित क्षीण मोही साधक उत्कृष्ट अतरात्मा कहलाते हैं। इससे बीच की अवस्था वाले सभी साधक मध्यम अतरात्मा कहलाते हैं।

---

1 ष ख 1 1 सूत्र 9-22

परमात्मा : परमात्मा जीव की परम विशुद्ध दशा है। इस अवस्था में पहुँचने पर वह समस्त मोह आदि विकारों को नष्ट कर अपने स्वाभाविक/आत्मिक गुणों को प्रकट कर लेते हैं। ये जीवन मुक्त और देहमुक्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ति अर्हन्त जीवनमुक्त कहलाते हैं तथा देह मुक्त अवस्था को प्राप्त परमात्मा सिद्ध कहलाते हैं। सशरीरी और अशरीरी होने के कारण क्रमशः इन्हें सकल और विकल परमात्मा भी कहते हैं।

उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में प्रथम भूमिका जीव की निकृष्टतम दशा है। इस भूमिका में आत्मिक शक्तियों का प्रकाश अत्यंत मन्द होता है तथा बढ़ते-बढ़ते चौदहवें गुण-स्थान में पहुंचकर जीवात्मा अपनी शुद्ध अवस्था को पूर्णतया अभिव्यक्त कर लेता है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा के गुणों को आवृत करने वाले कर्मों में 'मोह' ही प्रधान है। इसकी तीव्रता और मन्दता पर ही अन्य आवरणों की तीव्रता मंदता होती है। इसी कारण से मोहनीय कर्मों के तीव्रता-मंदता के आधार पर ही गुण-स्थानों का विवेचन किया गया है।

मोह मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है—दर्शन, मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन-मोहनीय आत्मा को यथार्थता, सम्यक्त्व और विवेकशीलता से दूर रखता है, तथा चारित्र-मोहनीय आत्मा को विवेक युक्त आचरण नहीं करने देता। दर्शन मोहनीय के कारण व्यक्ति की भावना, विचार-दृष्टि, चिन्तन अथवा श्रद्धा समीचीन नहीं हो पाती, जबकि चारित्र-मोहनीय समीचीन-दृष्टि हो जाने पर भी सदाचरण नहीं आने देता। इस प्रकार, यह मोहनीय शक्ति ऐसी है जो कि न तो सम्यक् विचार बनने देती है और न ही आचार। मोहनीय कर्म के प्रभावों की तारतम्यता से ही गुण स्थानों का विवेचन किया गया है। आइए अब हम क्रमपूर्वक उक्त गुण-स्थानों के स्वरूप पर विचार करें।

1. **मिथ्यादृष्टि** : यह आत्मा की अधस्तम अवस्था है। इस अवस्था वाले जीव की दृष्टि मिथ्या अर्थात असत्य होती है।[1] अत इन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। ये अज्ञान में जीते हैं। इनमें सत्य-असत्य का विवेक नहीं होता । ऐसे जीव देह, स्त्री, पुत्रादिक बाह्य पदार्थों में अनुरक्त रहते हैं। अर्थ को ही जीवन का वास्तविक आधार मानते हैं। विषय-कषायों में लिप्त रहते हैं तथा अपने आत्म-स्वभाव से दूर रहते हैं।[2] इनका मन अंधविश्वासों से भरा रहता है। धर्म के क्षेत्र में प्रायः रूढ़िवादी दृष्टिकोण बनाए रखते हैं। जिस प्रकार पित्त ज्वर से ग्रसित रोगी को मधुर औषधि भी रुचिकर नहीं लगती, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीवों को तत्त्व के प्रति रुचि नहीं होती।[3] इस मिथ्यादर्शन के कारण जीवात्मा उन्मार्ग की ओर जाता है तथा गलत दिशा ग्रहण कर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहता है। इसका बंधन अत्यंत दृढ़ होता है। इस मिथ्यात्व रूप मोह-ग्रन्थि का भेद होने पर ही आत्म विकास की यात्रा प्रारंभ होती है। इसीलिए मिथ्यात्व को सबसे बड़ा शत्रु बताकर महापाप निरूपित किया गया है।[4] चैतन्य-यात्रा में यह सबसे बड़ा अवरोधक है। संसार के अधिकांश जीव इसी मिथ्यात्व

1 ध. पु 1/162
2 रयणसारगाथा 106
3 प स प्रा. 1/6
4 रत्न. क.

से ग्रसित होने के कारण इसी भूमिका में जीते हैं।

2. **सांसादन**—सम्यक्त्वरूपी रत्न-पर्वत से नीचे गिरने वाला मिथ्यात्वाभिमुख दशा का नाम सासादन सम्यक् दृष्टि है।[1] यह आत्म-विकास की दूसरी भूमिका है। इसका काल अति अल्प है। जब कोई सम्यक् दृष्टि अनंतानुबंधी कषायों के उद्वेग आ जाने से अपने सम्यक्त्व से स्खलित होता है, तब यह अवस्था बनती है।[2] सासादन का व्यौत्पत्तिक अर्थ भी यही है। स+आसादन, जो आसादन अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना से युक्त है, वह सासादन है। जैसे मिठाई खाने के बाद वमन करते वक्त उसका कुछ-कुछ आस्वाद बना रहता है, वैसे ही सम्यक्त्व छूट जाने पर भी इस अवस्था में उसका किंचित् आस्वाद बना रहता है। इसलिए इन्हें सासादन सम्यक् दृष्टि कहते हैं।[3]

यद्यपि प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा यह गुण-स्थान विकासात्मक है, परंतु यथार्थ में यह आत्मा की पतनोन्मुख दशा का द्योतक है। कोई भी जीव प्रथम गुण-स्थान से विकास कर इस गुणस्थान में नहीं आता, अपितु ऊपर के विकासात्मक गुण-स्थानों से पतित होकर पुनःमिथ्यात्व को प्राप्त होने के पूर्व (बीच की स्थिति में) इस गुण-स्थान को प्राप्त करता है।

3. **सम्यक् मिथ्यादृष्टि** : तृतीय गुण-स्थान आत्मा की वह मिश्रित अवस्था है, जिसमें न केवल सम्यक् दृष्टि रहती है, न मिथ्या दृष्टि। इसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की मिश्रित दशा रहती है:[4] जिसके कारण आत्मा में तत्त्व व अतत्त्व को समझने की क्षमता नहीं रहती। यह एक अनिश्चयात्मक अवस्था है। इसमें जीव सत्य और असत्य के मध्य ही झूलता रहता है, न वह सत्य की ओर उन्मुख हो पाता है और न ही असत्य को स्वीकार कर पाता है। वह सत्य को सत्य समझने के साथ-साथ असत्य को भी सत्य रूप स्वीकार करने लगता है। इस अवस्था वाले साधक सम्यक्त्त्व से लगाव होने के साथ-साथ मिथ्यात्व की ओर झुकाव बनाये रखते हैं। इसे ऐसे समझें—जैसे एक बहुत बड़े हाल में छोटा-सा टिमटिमाता दीपक रख देने पर नहां प्रकाश और अंधेरे का धुंधलापन दिखाई पड़ता है। न तो वहां इतना प्रकाश है कि हम पुस्तक को पढ़ सकें, न ही इतना अंधेरा रहता है कि पुस्तक दिखाई ही न दे। वहां पुस्तक तो दिखाई देती है पर अक्षर नही दिखते। न वहां इतना अंधेरा है कि चलते में ठोकर खाकर गिर पड़े, न इतना प्रकाश है कि सुई में डोरा डाल सकें। प्रकाश और अंधेरे की ऐसी ही मिश्रित अवस्था को जैनागम में सम्यक्-मिथ्यादृष्टि कहा गया है, जहां सम्यक्त्व का प्रकाश होने के साथ-साथ मिथ्यात्व का अंधेरा भी है।

इस गुणस्थान में जीव की विवेकशक्ति पूर्ण विकसित नहीं हो पाती यह अवस्था अधिक काल तक नहीं चलती। उसकी अनिश्चयात्मक अवस्था के समाप्त होने पर यदि

1 प स प्रा 1/9
2 त 91 9/1/13
3. ध पु 1/163
4 1/1166-67

मिथ्यात्वाभिमुख हो जाता है तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है, तथा सम्यक् बोध को प्राप्त कर लेने पर सम्यक् दृष्टि हो जाता है।[1] श्रद्धान और अश्रद्धानात्मक अवस्था होने से इसे मिश्र-गुणस्थान भी कहते हैं।[2] जैनागम में इस गुण-स्थान की निम्नांकित विशेषताएं बतायी गयी हैं—

1. इसमें श्रद्धान और अश्रद्धान युगपत प्रकट होता है।
2. इस गुण-स्थान वाले जीव न तो सकल संयम प्राप्त कर सकते हैं और न ही देश संयम।
3. इस गुण-स्थान में जीव की मृत्यु नहीं होती। सम्यक्त्व या मिथ्यात्व परिणामों के होने पर ही मृत्यु होती है।
4. इस में आयु कर्म का बंध नहीं होता, न ही मारणान्तिक समुद्घात।[3]

अविरत सम्यक्दृष्टि—यह विकास की चतुर्थ भूमिका है। सम्यक् बोध प्राप्त होने पर इस गुण स्थान की प्राप्ति होती है। सम्यक् बोध प्राप्त हो जाने के बाद भी जीव अपनी कमजोरी वश संयम अंगीकार नहीं कर पाते इसीलिए असंयत सम्यक् दृष्टि कहलाते हैं।[4] अनुकूल संयोगों के जुटने पर जीव अपने पुरुषार्थ से मोह-ग्रंथि को भेदकर जब मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करता है, तब यह अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में मोह की शिथिलता के कारण सम्यक् श्रद्धा अर्थात् सद्विवेक तो प्राप्त हो जाता है, परन्तु सम्यक् चारित्र का अभाव रहता है। इस अवस्था में विचार शुद्धि का सद्भाव रहते हुए भी आचार शुद्धि का असद्भाव रहता है।

यद्यपि चारित्र मोहनीय के उदय से असंयत सम्यक्दृष्टि संयम ग्रहण नहीं कर पाता, फिर भी दृष्टि में समीचीनता आ जाने से उसमें कुछ विशिष्ट गुण प्रगट हो जाते हैं। वे हैं—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य।[5]

सम्यक् दृष्टि हो जाने के बाद उसके क्रोधादिक कषायों का उद्रेक नहीं आता। वह अपने सद्विवेक से अपनी भावधारा को संभाले रहता है, यही उसका 'प्रशम' गुण है। विवेक की वृद्धि हो जाने से तथा निरन्तर संसार से भयभीत रहने के कारण उसमें विषयों से विरक्ति का भाव जगने लगता है। यह उसका 'संवेग' गुण है। उसका मन दया से भीगा हुआ रहता है, वह दीन-दुखियों की पीड़ा को देखकर स्वयं कांप उठता है तथा यथासंभव उनकी सेवा करता है, यही उसका अनुकंपा गुण है। तथा वह तत्त्वों की श्रद्धापूर्वक सबके अस्तित्व को स्वीकार कर सह-अस्तित्त्व का जीवन जीने लगता है, यही उसका 'आस्तिक्य' गुण है। इस गुण-स्थान में निम्नांकित अन्य विशेषताएं उपलब्ध रहती हैं—

1. निरीह और निरपराध जीवों की हिंसा नहीं करता है।
2. अपने दोषों की निंदा तथा गर्हा करता है।
3. गुण-ग्राही दृष्टि रखता है।

1. ध.पु. 4/343
2. गो. जी. का. 654 1.
3. णयमरेइ णेव सजमुवेइ तह देस सजम वापि
   सम्मा मिच्छादिट्ठि ण मरणत समुग्धादो 11/33   **ध. पु. 4/349 पर उद्धृत**
4. प. स. प्रा. 1/11
5. प्रशम संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्ति लक्षण प्रथमम् सर्वा. सि. पृ. 7

4. सच्चे देव, गुरु और धर्म पर सच्ची श्रद्धा रखता है। उनके प्रति पूर्णरूपेण समर्पित रहता है।

5. पुत्र, स्त्री आदि बाह्य पदार्थों को आशाश्वत मानकर उन पर गर्व नहीं करता है।

6. संवेगादिक गुणों से युक्त होने के कारण वह विषयों में अधिक अनुरागी नहीं होता अपितु उनकी ओर हेय दृष्टि बनाए रखता है।

संयता-संयत : यह पांचवीं भूमिका है। इसे विरताविरत अथवा देश संयम भी कहते हैं। इसमें व्यक्ति की आत्मिक-शक्ति और विकसित हो जाती है। यह असंयत सम्यक्-दृष्टि से एक कदम आगे बढ़ जाता है तथा वह पूर्वोक्त सम्यक्-दृष्टि के गुणों के साथ-साथ कुछ अंशों में संयम का पालन भी करने लगता है। वह पूर्णरूपेण तो संयम अंगीकार नहीं कर पाता, किंतु आंशिक रूप से संयम का पालन अवश्य करता है। इस अवस्था में स्थित साधक को जैन शास्त्रों में 'उपासक' अथवा 'श्रावक' भी कहा गया है। आंशिक रूप से व्रतों के पालन करने के कारण ही इस गुण-स्थान को देश-संयम कहते हैं।[1] चूंकि इस अवस्था के जीव स्थूल पापों से विरक्त रहते हैं, अतः संयत अथवा विरत हैं तथा सूक्ष्म पापों का त्याग न कर पाने के कारण वे असंयत अथवा अविरत कहलाते हैं। इसी अपेक्षा से इस गुण-स्थान में संयतासंयत अथवा विरताविरत रूप परिणाम युगपत् हो जाता है।[2] नैतिक जीवन का वास्तविक विकास इसी गुण-स्थान से प्रारंभ हो पाता है।

6. **प्रमत विरत**—छठे गुण-स्थान में साधक की आत्मशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह देश विरति अर्थात् आंशिक विरति से सर्व विरति अर्थात् पूर्ण विरति की ओर आता है। अब वह अणुव्रती या उपासक न कहलाकर महाव्रती साधक अथवा श्रमण कहलाने लगता है। इस भूमिका में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पांचों पापों का पूर्णरूपेण परित्याग हो जाता है। इस अवस्था को नग्न दिगम्बर मुनि ही प्राप्त कर पाते हैं। सम्यक् चारित्र प्रकट हो जाने से यहां पूर्ण मोक्षमार्ग बन जाता है। वस्तुतः मुक्ति यात्रा का वास्तविक शुभारंभ यहीं से होता है।

इतना कुछ होते हुए भी प्रमाद युक्त होने के कारण उनके आचरण में कुछ शिथिलता बनी रहती है इसलिए इन्हें चित्रालाचरणी भी कहा गया है।[3] साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थितियों के अनुसार इस भूमिका से ऊपर भी उठ सकता है तथा नीचे भी गिर सकता है।

7. **अप्रमत्त-विरत** : यह आत्मध्यान की भूमिका है। इस भूमिका में कदम रखते ही साधक सब प्रकार के प्रमादों पर विजय पा लेते हैं। वह सतत् अप्रमत रहते हैं अर्थात् आत्म-जागृति बनाए रखते हैं। अपनी इसी जागरूकता के कारण निरंतर प्रगति पथ पर बढ़ते जाते हैं। आत्मानुभूति का स्वर्णिम प्रभात यहीं से फूटता है। प्रमाद से रहित हो

1. गो.जी. का. 30
2. पं. सं. प्रा. 134-35
3. गो. जी. का. 33

जाने के कारण इन्हें अप्रमत्त-संयत कहते हैं ।[1]

यद्यपि उक्त साधक सतत् अप्रमत्त रहना चाहते हैं फिर भी प्रमाद जनित संस्कार इन्हें एकदम नहीं छोड़े देते । वे बीच-बीच में उन्हें परेशान करते रहते हैं । परिणामतः वे पुनः प्रमाद अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं । प्रमादावस्था को प्राप्त करने पर तुरंत ही अपने आत्मध्यान के बल से अप्रमादावस्था को प्राप्त कर लेते हैं । जिस प्रकार तरंगायित जल पर पड़ा लकड़ी का टुकड़ा लहरों के उतार-चढ़ाव के कारण ऊपर-नीचे होता रहता है उसी प्रकार इनकी नैया प्रमत्त-अप्रमत्तावस्था के बीच डोलती रहती है । ये स्वस्थान अप्रमत्त कहलाते हैं ।[2] प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही स्थितियों में यह भूमिका संभव है ।

अनेक बार प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्थाओं का स्पर्श करने के बाद कुछ अप्रमत्त संयत अपनी आत्म-साधना के बल से चेतना का ऊर्ध्वारोहण कर आठवें गुण-स्थान के अभिमुख हो जाते हैं, उन्हें सातिशय अप्रमत्त कहा जाता है ।[3] वे अपने परिणामों की अतिशयता से प्रमादजन्य संस्कारों को पूर्णरूपेण पराजित कर समस्त मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिए कमर कस लेते हैं, इस तरह यह गुण-स्थान दो प्रकार का हो जाता है ।

दो श्रेणियां

इससे आगे बढ़कर साधक अपने विजय अभियान को और तेज कर देता है । अब वह अपने प्रगति पथ पर आरूढ़ हो, आत्मविकास की गति को और तेज कर देता है । इसे जैन दर्शन में 'श्रेणी' शब्द से जाना जाता है । श्रेणी-सीढ़ी का प्रतीक है, जिस पर आरूढ़ हो साधक, कर्म-विनाश का विशेष उपक्रम प्रारंभ करता है । यह श्रेणी दो प्रकार की होती है—उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी ।

उपशम श्रेणी : उपशम श्रेणी में साधक मोहनीय कर्म का समूल नाश नहीं कर पाता, अपितु उन्हें दमित करता हुआ अर्थात् दबाता हुआ आगे बढ़ता जाता है ।[4] जिस प्रकार शत्रु सेना को खदेड़कर की गयी विजय-यात्रा, राजा के लिए अहितकर होती है, क्योंकि वह कभी भी समय पाकर राजा पर पुनः आक्रमण कर सकता है । उसी प्रकार इस विधि से प्रशमावस्था को प्राप्त कर्म शक्ति कभी भी समय पाकर आत्मा का अहित कर सकती है । जिस प्रकार गंदले जल में फिटकरी आदि कोई केमिकल डाल देने पर उसकी गंदगी नीचे को बैठ जाती है तथा जल अत्यंत स्वच्छ और निर्मल हो जाता है, लेकिन बर्तन में थोड़ा भी हलन-चलन होते ही वह गंदगी पुनः उभरकर आ जाती है । उसी प्रकार कर्मों के उपशम जन्य अल्पकालिक विशुद्धि के कारण आत्मा में स्वच्छता तो आ जाती है; लेकिन मोहोदय हो जाने के कारण अपनी उपरिम भूमिका से फिसलकर नीचे गिर जाता है । उपशम श्रेणी वाले जीव अपने कर्मोन्मूलन के क्रम को पूर्ण कर अंतिम सोपान तक नहीं ले जा सकते । ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर कर्मों के पुनः प्रकट हो जाने से उनका पुनः पतन हो जाता है ।[5]

1 ध. पु. 1/178
2. गो. जी. का 46
3. ल. सा. गा. 105
4. त. वा. 9/1/18
5. ध.पु. 1/37

क्षणक श्रेणी : जो साधक अपनी विशुद्धि के बल पर चारित्र मोहनीय कर्म का समूल विच्छेद करते हुये आगे बढ़ते हैं, वे क्षपक श्रेणी वाले कहलाते हैं।[1] इसमें कर्म शत्रुओं का उपशम नहीं होता, अपितु समूल विध्वंस कर दिया जाता है। इसी कारण यह पुनः जागृत नहीं हो पाते। इसी श्रेणी वाले साधकों का अधःपतन नहीं होता। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होनेवाले साधक अपना आत्मिक विकास करते हुये सर्व कर्मों का समूल नाश कर अंतिम सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

दोनों ही श्रेणियाँ आठवें गुण-स्थान से प्रारंभ होती हैं। उपशम श्रेणी में आरूढ़ साधक ग्यारहवें गुण-स्थान तक जाकर नीचे गिर जाते हैं जबकि क्षपक श्रेणी में आरूढ़ साधक दसवें गुण-स्थान से सीधे बारहवें गुण-स्थान को प्राप्त करते हुए मुक्ति की यात्रा को पूर्ण करते हैं।

8. **अपूर्वकरण** : यह आठवीं भूमिका है। जब साधक अपने चरित्र बल को विशेष रूप से बढ़ा लेते हैं और प्रमाद-अप्रमाद अवस्था के इस संघर्ष में विजयी बनकर स्थायी अप्रमत्त अवस्था (सातिशय अप्रमत्त) को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं जिससे रहे-सहे मोह बल को नष्ट उपशमित किया जा सके।

इस अवस्था में पहुंचते ही साधक असीम आनंद के सरोवर में डूब जाता है। बाहर के सारे संबंध छूट जाते हैं। इस भूमिका से वापसी की कोई संभावना नहीं रहती। वह प्रतिक्षण आगे बढ़ता चलता है। उसके साधना के नये-नये द्वार खुलते जाते हैं। उसमें अपूर्व वीर्योल्लास जगता है तथा असाधारण सामर्थ्य प्रकट होता है। वह प्रतिक्षण पूर्व में अननुभूत आत्मशुद्धि का अनुभव करने लगता है। उसे हर क्षण नयी-नयी अनुभूतियाँ होने लगती हैं। इसीलिए इस गुण-स्थान को अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं।

परिणामों की इस विशुद्धि के बल से साधक के अंदर एक अपूर्व शक्ति जागृत होती है तथा कषायों के विरुद्ध भावी संघर्ष-यात्रा का यहीं से शुभारंभ होता है जोकि दसवें गुण-स्थान तक जारी रहता है।

9. **अनिवृत्तिकरण** : अष्टम गुण-स्थान को पार कर साधक इस नवमें गुण-स्थान में आता है और चारित्र मोहनीय के शेष अंगों को उपशमन करने अथवा क्षीण करने के कार्य को विशेष गति देता है। इस भूमिका में आने के बाद इतनी समता आ जाती है कि शरीर गत भेद होते हुए भी समान काल में प्रविष्ट होने वाले विभिन्न साधकों के परिणाम भी सदृश हो जाते हैं। परिणामो गत निवृत्ति अर्थात् भेद न होने के कारण ही इस गुण-स्थान को अनिवृतिकरण कहते हैं।[2]

पूर्व में की गयी समस्त साधनाओं का फल यहां स्पष्ट दिखने लगता है। इस गुण-स्थान में आकर साधक अपने प्रबल साधना के प्रभाव से मोह सेना को नष्ट उपशमित कर स्थूल कषायों को नष्ट व उपशांत कर देता है तथा सूक्ष्म काम-वासनाएं भी यहाँ विनष्ट हो जाती हैं। इसीलिये इसको बादर-साम्पराय भी कहा जाता है।

1 त. वा. 91118
2. छ पु. 1/183

10. **सूक्ष्म-साम्पराय**—अनिवृत्तिकरण गुण-स्थान में समस्त स्थूल-कषायों को उपशांत अथवा क्षीण कर एक मात्र संज्वलन लोभ (वह भी अत्यंत सूक्ष्म) के साथ साधक इस दसवें गुण-स्थान में प्रवेश करता है।[1] इसीलिये इसे सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं। जैसे—गुफा से शेर के चले जाने के बाद भी गुफा में शेर की गंध बनी रहती है अथवा पानी की धार सूख जाने के बाद भी उसके निशान बने रहते हैं। ऐसी ही स्थिति यहां बनती है। कषायों की धार तो पूर्व में ही सूख चुकी अब उसकी निशान भर बची है। वह इतनी सूक्ष्म होती है कि दिखाई नहीं पड़ती पर आत्मा को प्रभावित करती रहती है।

इस गुण स्थान के अंत समय में उक्त सूक्ष्म-लोभ को भी उपशमित अथवा क्षीण कर ग्यारहवें अथवा बारहवें गुण-स्थान में प्रवेश किया जाता है।

11. **उपशांत मोह** : समस्त मोहनीय कर्म को उपशमित करने वाले साधक इस ग्यारहवीं भूमिका में प्रवेश करते हैं।[2] चूंकि यहां कषाएं पूर्णतया उपशांत रहती हैं, अतः साधक को कुछ क्षण के लिए यहां वीतरागता का अनुभव तो होता है लेकिन भस्माच्छादित अग्नि की तरह भीतर कषायों के दबी रहने के कारण वे कुछ क्षणों में पुनः उदय को प्राप्त हो जाते हैं। जिससे साधक मोहपाश में बंधकर पुनः नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। इस गुण-स्थान से पतन करने वाला साधक प्रथम 'मिथ्यात्व' गुण-स्थान तक भी आ सकता है। लेकिन पुनः अपने प्रयास के द्वारा ऊपर उठकर कषायों को प्रशमित अथवा विनष्ट कर प्रगति भी कर सकता है।

12. **क्षीण-मोह** : दसवें गुण-स्थान में सूक्ष्म लोभ का क्षय करने वाले साधक इस गुणस्थान में आते हैं। समस्त मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने के कारण इसका 'क्षीण-मोह' यह सार्थक नाम है।[3] समस्त कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान है। जिस प्रकार संग्राम में सेनानायक के आहत होते ही समस्त सेना स्वतः ही समर्पित हो जाती है। उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने से साधक इस भूमिका में प्रवेश कर शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय संज्ञक घातिया कर्मों का भी नाश कर देता है। इस गुण-स्थानवर्ती साधकों का कभी पतन नहीं होता।

कषाय के क्षीण हो जाने से इनमें पूर्ण वीतरागता आ जाती है, किंतु अभी इनकी छद्मस्थावस्था दूर नहीं होती। (छद्म अर्थात् लेश मात्र भी अज्ञान जिनमें वर्तता हो, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं)। अतः इस गुण-स्थान को 'क्षीण-कषाय वीतराग-छद्मस्थ' भी कहते हैं।

13. **सयोग केवली** : यह साधक की परमात्म दशा की उपलब्धि का आरोहण है। इस अवस्था में आते ही साधक परमात्म दशा को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें भगवत्ता की उपलब्धि हो जाती है। ये ही अरिहंत कहलाते हैं। बारहवें गुणस्थान में घातिया कर्मों का क्षय हो जाने के कारण इस गुण-स्थान में प्रवेश करते ही उन्हें अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य की सहज उपलब्धि हो जाती है। यही पूर्ण ज्ञानी कहलाते हैं। भूत, भविष्य और

1 त वा 9/1/21
2 त वा 9/1/22
3 द्र स टी गा 13

वर्तमान के समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने के कारण इन्हें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भी कहते हैं। ये जन्म और मरण रूप संसार के परिभ्रमण से मुक्त हो जाते हैं। अन्य दर्शनों में इन्हें जीवन मुक्त कहा जाता है। इसे ही भाव-मुक्ति भी कहते हैं। ये परम वीतरागी होते हैं।

योग सहित होने के कारण ये 'सयोगी' तथा केवल ज्ञान होने के कारण 'केवली' कहलाते हैं। कर्मों को जीतकर ही यह अवस्था प्राप्त होती है, इसलिए इस गुणस्थान को 'संयोग केवली जिन' कहते हैं।[1]

जीवन-मुक्ति और देह-मुक्ति में अन्तर

जीवन-मुक्त होते ही वे मुक्ति का अनुभव करने लगते हैं, वे पूर्ण स्वतंत्र हो जाते हैं। इसे ऐसे समझें—जैसे कोई अपराधी वर्षों तक कारागृह में कैद रहने के बाद मुक्त किया जाता है, तब वह अपने बैरक से निकलते ही स्वतंत्रता का अनुभव करने लगता है, क्योंकि अब वह कैदी नहीं रहा। उसकी बेड़ियां अलग कर दी गयी हैं, जेल की ड्रेस (परिधान) भी छूट गयी है वह सज़ा से मुक्त हो चुका है। यद्यपि वह कारागृह में ही है, फिर भी जेलर के अनुशासन से वह मुक्त हो चुका है, अब वह जेल से निकलने को है, पर चौकीदार अभी चाबी लेकर द्वार पर नहीं पहुंचा है। जब तक दरवाजा नहीं खुलता तब तक वह कारागृह से बाहर नहीं निकल पाता। फिर भी रहता तो स्वतंत्र ही है। द्वार खुलते ही वह बाहर आ जाता है। जीवन-मुक्ति देह के कारागृह से मुक्ति की घोषणा हैं। आयु-कर्म के द्वार खोलने की प्रतीक्षा की घड़ी है। जब तक आयु-कर्म चाबी लेकर नहीं आ जाता, तब तक कारागृह से बाहर नहीं निकला जा सकता। जीवन-मुक्ति और देह-मुक्ति में यही अंतर है।

14. **अयोग केवली** : आत्मिक विकास का यह अंतिम चरण है। जीवन-भर की साधना का यह चरम पड़ाव है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती 'सयोग-केवली-जिन' अपने जीवन के अंतिम क्षणों में देह से मुक्ति पाने के लिए विशुद्ध-ध्यान के बल से योगों का पूर्णतया निग्रह कर लेते हैं। तब वह आत्मिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं। योगातीत हो जाने के कारण इस गुण-स्थानवर्ती साधक को 'अयोग-केवली' कहते हैं।[2] इस अवस्था में साधक आत्मा अपने उत्कृष्टतम शुक्ल ध्यान के द्वारा पर्वत की तरह निष्प्रकम्प अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। अंत में देह-त्यागपूर्वक सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। कर्मों का आत्यन्तिक क्षय इसी अवस्था में होता है। कर्मों का क्षय होते ही वे संसार के बंधन से पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं। यहां से जीवन पूर्ण विकसित और कृत्य-कृत्य हो जाता है।

इस प्रकार आध्यात्मिक विकास के इस क्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन में अनादि सिद्ध परमात्मा को नहीं स्वीकारा गया है। प्रत्येक जीव अपने आत्म विकास की इन सीढ़ियों पर आरूढ़ होकर परमात्म दशा को प्राप्त कर सकता है।

---

1. गो. सा. जी. का. 64
2. ष. पु. 1/192

गुण-स्थानों में आरोह-अवरोह का क्रम

इस प्रकार इन चौदह गुण-स्थानों से होता हुआ जीव अपनी आत्मविकास की यात्रा को पूर्ण करता है। आत्मिक परिणति से जुड़े होने के कारण ये अत्यंत सूक्ष्म होते हैं। हम अपनी बुद्धि से इन गुण-स्थानों को पहचान नहीं सकते। इन्हें तो अपने अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। इतना अवश्य है कि इन गुण-स्थानों के प्राप्त होने पर उक्त गुणस्थान कथित गुण हमारे आचरण में अवश्य आ जाते हैं। उन आचरणों के आधार पर ही गुण-स्थानों का अनुमान लगाया जा सकता है। हमारे भावों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप इनमें क्षण-क्षण में परिवर्तन होते रहते हैं। इनमें आरोहण एवं अवरोहण का भी एक निश्चित क्रम है। आइए एक दृष्टि हम उन पर भी डालें :—

क्रमांक	गुणस्थानों के नाम	आरोहण	अवरोहण
1	मिथ्यात्व	3,4,5,7,	—
2	सासादन	—	1
3	सम्यक् -मिथ्या-दृष्टि	4	1
4	अविरत सम्यक्-दृष्टि	5, 7	3, 2, 1
5	संयतासंयत	7	4, 3, 2, 1
6	प्रमत्त-संयत	7	5, 4, 3, 2, 1
7	अप्रमत्त-संयत	8	6, 4 (मरण की अपेक्षा)
8	अपूर्वकरण	9	7, 4 (— " —)
9	अनिवृत्तिकरण	10	8, 4 (— " —)
10	सूक्ष्म साम्पराय	11 (उपशम श्रेणी) 12 (क्षणक श्रेणी)	9 (— " —)
11	उपशांत -मोह	—	10
12	क्षीण-मोह	13	—
13	सयोग-केवली	14	—
14	अयोग केवली	मोक्ष	—

इस प्रकार जैन दृष्टि से आत्मविकास के क्रम का यह सामान्य दिग्दर्शन है। इसके विशेष परिज्ञान के लिये जैन कर्म साहित्य पढ़ना चाहिये।

• जै. सि. को. 2/247

जैनाचार

- अहिंसा
- श्रावकाचार
- मुनि आचार
- सल्लेखना

अहिंसा

- अहिंसा अव्यवहार्य नहीं
- हिंसा के भेद
- पाँच व्रत

जैनाचार

आचार और विचार व्यक्तित्व के समान शक्ति वाले दो पक्ष हैं। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। विचारों के आधार पर ही हमारा आचरण फलता है, तथा आचरण से ही विचारो मे स्थिरता आती है। इन दोनों पक्षों के संतुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध विकास होता है। इस प्रकार के कह होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध विकास को हम ज्ञान और क्रिया का विकास कह सकते हैं, जो दुःख मुक्ति के लिए अनिवार्य है।

आचार और विचार की इसी अन्योन्याश्रितता को दृष्टिगत रखते हुए, भारतीय तत्त्व चितकों ने धर्म और दर्शन का साथ-साथ प्रतिपादन किया है। उन्होंने एक ओर जहा तत्त्वज्ञान की प्ररूपणा कर दर्शन की प्रस्थापना की है तो वही दूसरी ओर आचार शास्त्रो का निरूपण कर साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। भारतीय परम्परा मे आचार को धर्म तथा विचार को दर्शन कहा गया है। जब मानव विचारो के गर्भ मे प्रवेश करता है तब दर्शन जन्म लेता है तथा जब विचारों को आचरण मे ढालता है, तब धर्म प्रकट होता है। धर्म तथा दर्शन परस्पर पूरक है। एक के बिना दूसरा एकागी और अपूर्ण है। दर्शनरहित आचरण अधा है। जिस आचरण में विवेक की जगमगाती ज्योति नही है वह सही और गलत की अध गलियों मे भटकता रहेगा। आचार का मार्गदर्शक विचार है। विचार ही आचार को सन्मार्ग पर चलाता है। दूसरी ओर आचार-रहित विचार पगु है। मुक्ति के साधना पथ पर आचार रहित साधक आगे नही बढ़ सकता। दीपक के बारे मे विद्वन् चर्चा मे प्रकाश प्रगट नही होता, प्रकाश तो दीप जलाने की क्रिया (आचरण) मे ही प्रगट होता है। इस तरह आचाररहित विचार और विचाररहित आचार दोनो ही निरर्थक है। दोनो का समन्वय ही सच्ची धर्म साधना है जिसके द्वारा मुक्ति की मंजिल प्राप्त की जा सकती है।

जैन परम्परा में आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है। अहिसा मूलक आचार और अनेकांत मूलक विचार का प्रतिपादन जैन परम्परा की प्रमुख विशेषता है।

अहिसा

अहिसा जैनाचार का प्राण तत्त्व है। इसे ही परमब्रह्म और परमधर्म कहा गया है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन और आचरण जैन परम्परा में मिलता है उतना किसी अन्य में नहीं। अहिसा का मूलाधार आत्म साम्य है। प्रत्येक आत्मा चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल, स्थावर हो

या त्रस, तात्त्विक दृष्टि से सभी समान हैं। सभी जीवों में एक सी ही आत्मा का वास है। सुख-दु:ख का अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है। जीवन-मरण की प्रतीति सब करते हैं। जिस प्रकार हमें जीवन प्रिय है मरण अप्रिय, सुख प्रिय है दु:ख अप्रिय, अनुकूलता प्रिय है प्रतिकूलता अप्रिय, लाभ प्रिय है हानि अप्रिय, स्वतंत्रता प्रिय है परतंत्रता अप्रिय, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी जीवनादि प्रिय है, तथा मरण आदि अप्रिय, इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन से भी किसी प्राणी के वध आदि की बात न सोचें। शरीर से किसी को कष्ट पहुंचाना तो पाप है ही, मन और वचन से भी इस प्रकार की प्रवृत्ति करना पाप है। मन, वचन और काय से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचना ही सच्ची अहिंसा है। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय प्राणी से लेकर मानव तक के प्रति अहिंसक आचरण की भावना जैन परम्परा की प्रमुख विशेषता है। इसे अहिंसक आचार का परमोत्कर्ष भी कह सकते हैं। आचार का यह अहिंसक विकास जैन संस्कृति की अमूल्य निधि है।

अहिंसा अव्यवहार्य नहीं

जैन धर्म में प्रतिपादित इस अहिंसा को न समझ पाने के कारण कुछ लोग इसे कायरता की जननी समझते हैं तथा कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सिद्धान्ततः इसे श्रेष्ठ समझते हुए भी उसे अव्यवहार्य मानते है। उनका यह मानना है कि अहिंसा अच्छी चीज होते हुए भी उसे पाला नहीं जा सकता, इसलिए वह अव्यवहार्य है।

यह उनकी नासमझी का ही परिणाम है। न तो अहिंसा कायरता है और न ही वह ऐसी है कि उसको पाला ही न जा सके, जिससे कि हम उसे अव्यवहार्य कह सकें। हिंसा और अहिंसा के स्वरूप पर गहराई से विचार करने पर उक्त आशंका को स्थान ही नहीं मिलता।

किसी जीव को मारना मात्र हिंसा नहीं है। हिंसा और अहिंसा का संबंध तो हमारे भावों से है। इसे हमें व्यापक अर्थों में समझना चाहिए। यूं तो संसार में सर्वत्र जीव भरे हैं, तथा वे प्रति समय अपने-अपने निमित्तों से मरते रहते हैं। इतने मात्र से कोई हिंसक नहीं हो सकता। जैन धर्म के अनुसार हिंसा रूप परिणाम होने पर ही किसी को हिंसक कहा जा सकता है। हिंसा की परिभाषा बताते हुए आचार्य उमा स्वामी ने कहा है कि :—

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" —त. सू.7

अर्थात् जब कोई प्रमादी बनकर, जानबूझकर, असावधानी अथवा लापरवाही से किसी भी जीव का घात करता है अथवा कष्ट पहुंचाता है तभी उसे हिंसक कहा जा सकता है। आशय यह है कि हिंसा तीन परिस्थितियों में होती है। पहली जानबूझकर-अभिप्रायपूर्वक, दूसरी असावधानी या लापरवाही जन्य तथा तीसरी हिंसा न चाहते हुए भी, पूर्ण सावधानी बरतने पर भी, अचानक/अनायास किसी जीव का वध हो जाने पर। जब कोई स्वार्थ-प्रेरित व्यक्ति कषायाविष्ठ हो किसी पर बार करता है तो यह हिंसा कषाय प्रेरित हिंसा कहलाती है। तथा जब हमारी असावधानी या लापरवाही से किसी का घात होता है अथवा किसी को कष्ट पहुंचता है तो वह हिंसा असावधानीकृत हिंसा कही जाती है। लेकिन पर को कष्ट

पहुँचाने की भावना से शून्य पूर्णतः सावधान व्यक्ति द्वारा यदि अनायास किसी प्राणी का घात हो जाता है तो उक्त परिस्थिति में उसे हिंसक नहीं कहा जा सकता। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कुन्द-कुन्द कहते हैं कि—

"उच्चालिदम्मि पाए इरिया समिदस्स णिग्गम ठाणे।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहमो वि देसिदो समये"[1] —प्र. सा.

अर्थात् यदि कोई मनुष्य सावधानीपूर्वक जीवों को बचाते हुये देखभाल कर चल रहा है, फिर भी यदि कदाचित् कोई जीव उसके पैरों के नीचे आकर मर भी जाए तो उसे तज्जन्य हिंसा संबंधी सूक्ष्म पाप भी नहीं लगता क्योंकि उसके मन में हिंसा के भाव नहीं हैं तथा वह सावधान है।

इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य "मेरी इस प्रवृत्ति से किसी का घात हो रहा है या नहीं, किसी को कष्ट पहुंच रहा है या नहीं" इस बात का विचार किए बिना एकदम लापरवाही और असावधानी से चल रहा है तो उसे हिंसानिमित्तक पाप अवश्य लगेगा भले ही जीव का वध हो या न हो।

"मरदु व जीवदु व जीवा अयदाचारस्सणिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसा मित्तेण समिदस्स॥"[2]

अर्थात् यदि कोई असावधानीपूर्वक अयत्नाचारी बनकर अपनी प्रवृत्ति कर रहा है तो जीव मरे या न मरे, उसे तज्जन्य पाप से कोई बचा नहीं सकता, तथा सावधानी से प्रयत्नपूर्वक चलने वाले मनुष्य द्वारा हिंसा हो जाने पर भी वह पाप का भागीदार नहीं होता।

अतः यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में मान्य हिंसा और अहिंसा जीवों के वधावध पर निर्भर न होकर हमारे भावों पर आधारित है। द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा की उक्त व्याख्या को हम लोक प्रचलित इस उदाहरण से सहजतया से समझ सकते हैं।

मान लें—किसी शहर में एक साथ तीन घटनाएं घट जाती हैं। पहली में एक डाकू एक व्यक्ति को मारकर उसका धन लूट लेता है, दूसरी में एक वाहन दुर्घटना में एक व्यक्ति की जान जाती है, तो तीसरी में ऑपरेशन टेबल पर एक व्यक्ति का जीवन समाप्त होता है।

तीनों घटनाओं में एक-एक व्यक्ति के निमित्त से एक-एक व्यक्ति का जीवन समाप्त हुआ है। स्थूल दृष्टि से देखने पर तीनों का परिणाम (प्रतिफल) भी एक ही है। लेकिन तीनों की मानसिकता में बहुत अंतर है। यही कारण है कि पुलिस भी तीनों पर अलग-अलग जुर्म कायम करती है तथा अदालत में भी डाकू, ड्राइवर और डाक्टर तीनों को अलग-अलग निर्णय सुनाया जाता है।

पहली घटना में डाकू को हत्या के आरोप में आजीवन कारावास अथवा मृत्युदण्ड भी दिया जाता है। उसके प्रहार से यदि सामने वाला बच भी जाए तो भी हत्या के प्रयास के कारण उसे कड़ी सजा भोगनी पड़ती है, क्योंकि यह हिंसा स्वार्थ से प्रेरित अभिप्राय पूर्वक हुई है।

दूसरी ओर वाहन दुर्घटना में हुई मृत्यु के लिए, तथ्यों के आधार पर यदि अयोग्य वाहन हो अथवा ड्राइवर के असावधान होने पर उसे कुछ सजा दी जाती है। यह

1. प्र. सा. मू. गा.
2 प्र. सा. मू. गा.

असावधानीकृत हिंसा है। यदि ड्राइवर सावधान होता है तो उक्त घटना टाली जा सकती थी।

तीसरी ओर डाक्टर को कोई अपराधी नहीं कहता, अपितु डाक्टर साहब तो अंतिम क्षणों तक बचाने की कोशिश में लगे रहे, यह कहकर उनकी सराहना की जाती है। पुलिस और अदालत भी उसका कुछ नहीं करते। रोगी के संबंधी भी यही कहते हैं कि डाक्टर साहब ने तो बहुत प्रयत्न किया लेकिन क्या करें, हमारा तो भाग्य ही ऐसा था।[1]

हिंसा और अहिसा की उक्त धारणा से स्पष्ट है कि हिंसा और अहिसा हमारे भावों पर ही निर्भर है। द्रव्य हिंसा ही हिसा नहीं, वस्तुतः भाव हिंसा ही वास्तविक हिंसा है। आशय यह है कि किसी को कष्ट पहुंचाने या घात होने पर भी कोई व्यक्ति तब तक हिसक नही कहा जा सकता जब तक कि उसका वैसा अभिप्राय नहीं हो अथवा असावधानी न हो। इसके विपरीत यदि किसी का अभिप्राय किसी के घात करने का हो तथा बहुत कोशिश करने पर भी वह उसका कुछ अनिष्ट न कर सका हो तो वह जीव हिसक ही माना जायेगा। दूसरों का अहित चाहने वाला सबसे पहले अपना अहित करता है। कहा भी है—

स्वयमेवात्मात्मान हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्व प्राण्यंतराणांतु पश्चाद स्याद्वानवावधः॥[2]

इसलिये जैन धर्म में हिसा को द्रव्य हिसा और भाव हिसा के भेद से दो भागों में विभाजित किया गया है। अत्यन सावधानी और सद्अभिप्राय होने पर भी जब किसी का घात हो जाता है तब वह द्रव्य हिसा कहलाती है, तथा किसी को मारने या सताने के अभिप्राय अथवा असावधानी के भाव को भाव हिसा कहते हैं। वस्तुत. भाव हिसा ही हिसा है। भाव हिसा से सबध होने पर ही द्रव्य हिसा, हिसा कहलाती है। किंतु द्रव्य हिसा के होने पर भाव हिसा अनिवार्य नही। अत हमारे भावो के अनुसार ही हिसा और अहिसा का समीकरण बनता है।

भावों पर आधारित हिसा और अहिसा की उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि पूर्ण सावधानी से प्रवृत्ति करने वाले हिसा की भावना से रहित मनुष्य के द्वारा यदि किसी जीव का घात हो जाता है तो वह उसके पाप का भागीदार नही है। अत· अहिसा को अव्यवहार्य नही कहा जा सकता। हमारा तो यही कर्त्तव्य है कि हम अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर किसी को कष्ट पहुंचाने का कभी भाव न करें, तथा हमारी प्रवृत्ति से जीवों का कम से कम घात हो, इस बात को ध्यान रखकर अपने जीवन का निर्वाह करे। हमारी प्रवृत्ति में जितनी सावधानी होगी हम उतने ही अहिसक कहला सकेंगे।

हिंसा के भेद

अहिसा का व्यावहारिक रूप से पालन हो सके, इसलिये हिसा के चार भेद किये गये हैं:—
1. संकल्पी हिसा 2. आरभी हिसा 3. उद्योगी हिसा 4. विरोधी हिंसा[3]।

1 मानवता की धुरी पृ 43
2 सर्वा सि पृ 272
3 जै सि को 4/532

1. **संकल्पी हिंसा** : संकल्पपूर्वक किसी जीव का घात करना अथवा उसे कष्ट पहुंचाना संकल्पी हिंसा है। कसाइयों द्वारा प्रतिदिन असंख्य पशुओं को मौत के घाट उतारा जाना इसी संकल्पी हिंसा का परिणाम है। आतंकवाद, जातीय संघर्ष, साम्प्रादायिक दंगों एवं अपने मनोरंजन अथवा मांसाहार के लिये शिकार आदि करना इसी संकल्पी हिंसा की पर्याय है। इसके अतिरिक्त धर्म के नाम पर की जाने वाली पशुओं की बलि भी इसी संकल्पी हिंसा की कोटि में आती है।

2. **आरंभी हिंसा** : घरेलू काम-काजों में दैनिक कार्यों के निमित्त से जो हिंसा होती है वह आरंभी हिंसा कहलाती है। इसके अंतर्गत भोजन बनाना, झाड़ना, बुहारना, नहाना, धोना आदि क्रियाएं आती हैं।

3. **औद्योगिक हिंसा** : गृहस्थ को अपने जीवन के निर्वाह के लिये अर्थोपार्जन अनिवार्य है। उसके लिए खेती-बाड़ी, नौकरी, व्यवसाय अथवा बड़े-बड़े उद्योग धंधों द्वारा होने वाली हिंसा, औद्योगिक हिंसा कहलाती है।

4. **विरोधी हिंसा** : अपने तथा अपने कुटुम्बियों के जान-माल की रक्षा के लिये अथवा धर्म, धर्मातयन, तीर्थ, मंदिर एवं संतों पर आने वाली बाधाओ के निराकरण के लिये तथा अपने राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा करने के लिए आततताइयों अथवा आक्रमणकारियों से मुकाबला करते हुए जो हिंसा करनी पडती है, वह विरोधी हिसा है।

साधक गृहस्थ को चारों प्रकार की हिसा का त्याग कर पाना संभव नहीं है। उसको अपने दैनिक जीवन की आवश्यक्ताओ की पूर्ति हेतु आरभी व उद्योगी हिसा करनी ही पड़ती है। अत· उक्त दोनों प्रकार की हिसा उसके लिए अपरिहार्य है। इतना होने पर भी वह यद्वा-तद्वा कोई भी कार्य नही करता है। वह अपनी प्रत्येक क्रियाओं में पूर्ण सावधानी रखता हुआ यत्नाचारी प्रवृत्ति करता है। अपने व्यवसाय में भी वह इसका ध्यान रखता है। उस प्रकार के व्यवसाय को वह भूलकर के भी नही अपनाता जिसमें जीवों की अधिक हिंसा होती हो, साथ ही बहुजीव वधकारी उद्योग भी वह नही खोलता है।

इसी तरह विरोधी हिसा से भी वह नही बच पाता है। यद्यपि वह स्वय किसी से भी अकारण वैर/विरोध नहीं लेता, किंतु यदि कोई उस पर आक्रमण करे तो वह उससे बचने के लिये डटकर मुकाबला करता है। आक्रमणकारी, आततायी, अत्याचारी का सामना कर उसे सबक सिखाना ही गृहस्थ का विरोधी हिसा का अभिप्रेत अर्थ है। वह उसके लिए क्षम्य है। उसके बिना समाज में अराजकता बढ जाएगी। यदि कोई देश पर आक्रमण कर हमारे अस्तित्व को चुनौती देता है तो इस भावना में कि इसमें व्यर्थ में खून बहेगा, डरकर मुंह छुपाना अहिंसा नहीं कायरता है। अहिसा कायरता नही, वह तो वीरों का भूषण है, क्षत्रियों का धर्म है।

जैन धर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय वशी थे। उन्होंने राष्ट्र की रक्षा एवं स्वेच्छाचारी राजाओं के कुशासन को कुचलने के लिए अपने जीवन में अनेक बार दिग्विजय यात्राएं करके समस्त राष्ट्र को एक सूत्र में बांधा था। मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त, मेघवाहन, सम्राट खारवेल एवं वीर सेनापति चामुण्डराय जैसे अनेक जैन वीर योद्धा हुए, जिन्होंने अपने रण कौशल से

राष्ट्र की रक्षा कर भारतीय इतिहास को गौरवान्वित किया है। वस्तुतः जैन धर्म उन क्षत्रियों का धर्म था, जो युद्ध-स्थल में दुश्मन का तलवार से सत्कार/सामना करना जानते थे और क्षमा करना भी जानते थे। जैन धर्म के अनुसार अपने अस्तित्व और स्वाभिमान की रक्षा के लिए अस्त्र उठाना अपराध नहीं, धर्म है। उनकी लड़ाई न्याय के लिये न्यायपूर्वक होती थी। जैन राजनीति के व्याख्याता आचार्य सोमदेव सूरी ने इसी बात को स्पष्ट करते हुये कहा है कि रणांगन में अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित शत्रु तथा देशद्रोही व्यक्ति पर ही राजागण अपने शस्त्र का प्रहार करते हैं न कि कमजोर, निहत्थे, कायरों और सदाशयी निरपराध पुरुषों पर।

यः शस्त्र सहितो समरे रिपु स्यात्
यः कण्टको वा निजमण्डलस्य
अस्त्राणि तत्रैव नृपा क्षिपन्ति
न दीनकानीन शुभाशयेषु।[1]

अर्थात् अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर रणांगन में जो शत्रु बनकर आया हो या अपने देश का दुश्मन बनकर आया हो, राजागण उसी पर अपने अस्त्र का प्रहार करते हैं। जैन राजनीति का यही आधार है। इस न्यायपूर्ण युद्ध में भी इसकी अहिंसा खंडित नहीं होती।

हिंसक भी शत्रु से युद्ध करता है और अहिंसक भी, दोनों के द्वारा युद्ध में भीषण नरसंहार होता है। फिर भी हिंसक निर्दयी और अहिंसक दयालु ही बना रहता है क्योंकि वह अपने इस कृत्य पर प्रसन्न नहीं होता। वह सिर्फ हिंसा के लिए हिंसा का रास्ता नहीं अपनाता अपितु परिस्थितियों के कारण उसे हिंसा करनी पड़ती है। हिंसक और अहिंसक की मानसिकता में महान् अंतर होता है। हिंसक के अंदर है आक्रमण, अहिंसक के अंदर है केवल रक्षा, हिंसक के हृदय में रहता है द्वेष और अहिंसक के हृदय में रहती है क्षमा, हिंसक को अपने द्वारा किए गए नरसंहार को देखकर हर्ष होता है तो अहिंसक को होता है पश्चात्ताप। अपनी इसी मनःस्थिति के कारण गृहस्थ अपनी छोटी-मोटी अपरिहार्य हिंसाओं के होने पर भी अहिंसक बना रहता है। वस्तुतः वह हिंसक नहीं है, हिंसा उसे करनी पड़ रही है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा कायरता नहीं है, जीवन से पलायन भी अहिंसा का उद्देश्य नहीं है। अहिंसा तो व्यवहारिक जीवन को संतुलित बनाकर स्व और पर के घात से बचने का उपाय है। अहिंसा कायरता नहीं अपितु मानव में मानवता को प्रतिष्ठित करने का अनुष्ठान है।

पांच व्रत

जैनाचार में इसी अहिंसा के अनुपालनार्थ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह व्रत रूप पंचसूत्रीय आचार की प्ररूपणा की गयी है। उक्त पांचों व्रतों का मुख्य उद्देश्य अहिंसा का अनुपालन ही है। जैसे खेत की फसल की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर बाढ़ लगाई

1. यशस्तिलक चम्पू, पृष्ठ 96

जाती है, वैसे ही सत्यादि अहिंसा की रक्षा के लिए लगाये जाने वाले बाढ़ की तरह है। आत्मविकास में बाधक कर्मों को रोकने तथा उन्हें नष्ट करने के लिए अहिंसा एवं तदाधारित सत्यादि व्रतों का परिपालन अनिवार्य है। इसमें व्यक्ति एवं समाज दोनों का हित निहित है। व्यैक्तिक उत्थान एवं सामाजिक उत्कर्ष के लिये असत्य का त्याग, अनधिकृत वस्तु का अग्रहण तथा संयम का परिपालन अनिवार्य है। इनके अभाव में अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। परिणामतः आत्मविकास में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जाती है। इन सबके साथ अपरिग्रह का व्रत भी आवश्यक है। परिग्रह आत्मविकास का प्रबल शत्रु है। जहां परिग्रह होता है वहां आत्मविकास के सारे मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं परिग्रह आत्मा के अधःपतन का बहुत बड़ा कारण बनता है। परिग्रह का अर्थ ही है पाप का संग्रह। यह आसक्ति से बढ़ता है तथा आसक्ति को बढ़ाता है। इसी का नाम मूर्च्छा है। ज्यों-ज्यों परिग्रह अधिक बढ़ता है त्यों-त्यों आसक्ति बढ़ती जाती है। जितनी अधिक आसक्ति बढ़ती है उतनी ही अधिक हिंसा बढ़ती है। यही हिंसा मानव समाज में वैषम्य उत्पन्न करती है। इसी से आत्मपतन भी होता है। अपरिग्रह वृत्ति अहिंसामूलक सम्यक् आचार के परिपालन के लिए अनिवार्य है।

मुख्य रूप से समाज में बैर-विरोध बढ़ाने वाली वृत्तियों के नियंत्रण के लिए ही उक्त व्रतों की व्यवस्था दी गयी है। हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, कुशील मत करो तथा परिग्रह का संचय मत करो। इन निषेधात्मक नियमों से ही मनुष्य के आचरण का परिष्कार सरलतम रीति से किया जा सकता है। हिंसादिक पांच पाप सामाजिक पाप हैं। मनुष्य की इन्हीं प्रवृत्तियों से आज मानव समाज प्रदूषित हो रहा है जो व्यक्ति जितने अंशों में इनका परित्याग करता है वह उतना ही सभ्य और समाज-हितैषी माना जाता है। जितने अधिक व्यक्ति इसका पालन करेंगे, समाज उतना ही अधिक शुद्ध, सुखी और प्रगतिशील बनेगा।

जैन शास्त्रों में उक्त व्रतों पर बहुत जोर दिया गया है। जैन साधना का मूलाधार उक्त व्रत ही हैं। इस पर ही जैन साधना का भवन टिका है। इसके अभाव में साधना की शुरुआत ही नहीं हो सकती।

उक्त पांच व्रतों के परिपालनार्थ व्रतों के दो स्तर स्थापित किए गए हैं। प्रथम है साधु मार्ग और द्वितीय श्रावक मार्ग या गृहस्थ मार्ग। इन्हें क्रमशः साधु धर्म और श्रावक धर्म भी कहते हैं। साधु मार्ग निवृत्तिमूलक है। हिंसा, झूठ, चोरी कुशील और परिग्रहरूपी पांचों पाप के परिपूर्ण त्याग से यह प्रारंभ होता है। साधना का राजमार्ग यही है, क्योंकि उक्त पांचों पाप ही हमारे आत्मविकास के सबसे बड़े अवरोधक हैं। इनसे विमुख हुए बिना आध्यात्मिक आनन्द आ ही नहीं सकता। श्रावक मार्ग या गृहस्थ मार्ग का निर्वाह उक्त पापों के आंशिक त्याग से होता है। इसका पालन समाज में रहने वाले मनुष्य अपनी क्षमता के अनुरूप करते हैं। गृहस्थ मार्ग त्याग और भोग के बीच संतुलित जीवन जीने की पद्धति है। साधु जीवन में जहां आध्यात्मिक जीवन का चरमोत्कर्ष है, तो श्रावक जीवन भी नैतिक और आध्यात्मिक जीवन मूल्यों के क्रमिक विकास के साथ-साथ मानवीय गुणों का संचार करता है। साधु धर्म जहां व्यक्ति को आत्मकेंद्रित बनाकर पूर्ण निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है, तो श्रावक धर्म

मानव मात्र में नैतिक और धार्मिक गुणों का आरोपण कर एक श्रेष्ठ इंसान बनाता है। इस तरह हम साधु धर्म को व्यक्ति धर्म तथा श्रावक धर्म को समाज धर्म भी कह सकते हैं। समस्त जैनाचार, श्रावकाचार या गृहस्थाचार तथा श्रमणाचार या साध्वाचार के रूप में विभाजित है। अगले अध्यायों में क्रमशः इनके स्वरूप पर पूर्ण विचार करेंगे।

अहिंसा की व्यापकता

जैन धर्म की अहिंसा, अहिंसा का चरम रूप है। जैन धर्म के अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि के अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव है। मिट्टी के ढेले में कीड़े आदि जीव तो हैं ही, परंतु मिट्टी का ढेला स्वयं पृथ्वी कायिक जीवों के शरीर का पिड है। इसी तरह जल बिन्दु में यत्रों के द्वारा दिखने वाले अनेक जीवों के अतिरिक्त यह स्वयं जल-कायिक जीवों के शरीर का पिंड है। यह बात अग्निकाय, आदि के विषयों में भी समझनी चाहिए। इस प्रकार का कुछ विवेचन पारसियों की धर्म पुस्तक 'आवेस्ता' में भी मिलता है। जैसे हमारे यहां प्रतिक्रमण का रिवाज है उसी तरह उनके यहां भी पश्चात्ताप की क्रिया करने का रिवाज है। इस क्रिया में जो मंत्र बोले जाते हैं उनमें से कुछ का भावार्थ इस तरह है—"धातु-उपधातु के साथ जो मैंने दुर्व्यवहार (अपराध) किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूं।" "जमीन के साथ मैंने जो अपराध किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूं।" "पानी अथवा पानी के अन्य भेदों के साथ जो मैंने अपराध किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूं।" "वृक्ष और वृक्ष के अन्य भेदों के साथ जो मैंने अपराध किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूं।" महताब, आफताब, जलती अग्नि, आदि के साथ जो मैंने अपराध किया हो मैं उसका पश्चात्ताप करता हूं।"

पारसियों का विवेचन जैनधर्म के प्रतिक्रमण-पाठ से मिलता-जुलता है जो कि पारसी धर्म के ऊपर जैनधर्म के प्रभाव का सूचक है।

स्वामी रामभक्त के लेख 'जैनधर्म में अहिंसा' से उद्धृत
वर्णी—अभिनंदन—ग्रन्थ पृ. सं. 134-35

श्रावकाचार

- श्रावक का अर्थ
- श्रावक के भेद
- पाक्षिक श्रावक
- अष्टमूल गुण
- नैष्ठिक श्रावक
- ग्यारह प्रतिमाएं
- साधक श्रावक

श्रावकाचार

श्रावक का अर्थ

श्रावकाचार का तात्पर्य है—गृहस्थ का धर्म। 'श्रावक' शब्द का सामान्य अर्थ है—सुनने वाला। जो गुरुओं के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनता है, वह श्रावक है। श्रावक शब्द तीन अक्षरों के योग से बना। 'श्र' 'व' 'क' इसमें 'श्र' श्रद्धा का, 'व' विवेक का तथा 'क' कर्त्तव्य का प्रतीक है। इस प्रकार श्रावक का अर्थ करते हुए कहा गया है कि जो श्रद्धालु और विवेकी होने के साथ-साथ कर्त्तव्यनिष्ठ हो, वह श्रावक है। श्रावक के अर्थ में, उपासक, सागार, देश विरत, अणुव्रती आदि अनेक शब्द आते हैं। गुरुओं की उपासना करने वाला होने से उसे उपासक, आगार/घर सहित होने से सागार गृही या गृहस्थ, तथा अणुव्रतधारी होने से अणुव्रती, देशव्रती या देश संयत कहा जाता है। व्रतों के परिपालन क्रमानुसार श्रावक के तीन भेद किए गए हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।[1]

पाक्षिक

पाक्षिक का अर्थ है जो जिनेन्द्र भगवान् के पक्ष को ग्रहण कर चुका है, पाक्षिक श्रावक की श्रेणी में वे सभी श्रावक आ जाते हैं जो जिनेन्द्र भगवान् के पक्ष को ग्रहण करते हैं तथा जैन कुल क्रमानुसार अपना आचरण रखते हैं। यह गृहस्थ की प्राथमिक भूमिका है। इस भूमिका वाले श्रावक में सभी आवश्यक नैतिक गुण आ जाते हैं।[2]

जैन आचार शास्त्रानुसार एक आदर्श गृहस्थ वही है जो न्यायपूर्वक आजीवकापार्जन करता है। गुणी पुरुषों एवं गुणों का सम्मान करता है। वह हितकारी और सत्य वाणी बोलता है। धर्म, अर्थ और काम रूप तीन पुरुषार्थों का परस्पर अविरोध से सेवन करता है। इन पुरुषार्थों के योग्य स्त्री, भवनादि को धारण करता है। लज्जाशील होता है, अनुकूल आहार-विहार करने वाला होता है। सदाचार को अपने जीवन की निधि मानने वाले सत्पुरुषों की सेवा में सदा तत्पर रहता है। हिताहित विचार में दक्ष, जितेन्द्रिय और कृतज्ञ होता है। धर्म की विधि को सदा सुनता है, उसका मन दया से द्रवीभूत रहता है, तथा पाप भीरू होता है। उक्त चौदह विशेषताओं से भूषित व्यक्ति ही एक आदर्श गृहस्थ की श्रेणी में समाविष्ट होता है।[3]

---

1. सा. ध. 1/20
2. जै. सि. का 4/46
3. न्यायोपात्त धन यजन् गुण गुरुण सद्गीस्त्रिवर्गं भजन् नन्योन्यानुगुणं तदर्ह गृहणी स्थानालयो ह्रीमयः। युक्ताहार विहार आर्य समितिः प्राज्ञः कृतज्ञोवशी श्रुण्वन धर्म विधि दयालु रधमीः सागार धर्म चरेत। —स. ध. 1/11

देव, गुरु और धर्म के प्रति समर्पित पाक्षिक श्रावक गृहस्थ की उक्त सभी विशेषताओं का पालन करता है। उसके आठ मूल गुण होते हैं। वह हिसादिक पाचों पापों का स्थूल रूप से त्याग करता है तथा मद्य, मास और मधु का भी सेवन नही करता है।[1] इस प्रकार पाच अणुव्रत एव मद्य, मास, मधु का त्याग पाक्षिक श्रावक के ये आठ मूल गुण होते हैं।

अहिंसाणुव्रत

अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए राग-द्वेषपूर्वक किसी जीव को मन, वचन, काय से पीडा पहुचाना हिसा है। इस हिसा के स्थूल त्याग को अहिसाणुव्रत कहते हैं। जैन धर्म मे त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के जीव बतलाये गए हैं। "वनस्पति आदि स्थावरों एव त्रसों की पूर्व कथित चतुर्विध हिमा में से आरभी, उद्योगी और विरोधी हिसा तो गृहस्थ के लिए अपरिहार्य हैं।" अत वह सिर्फ सकल्पी हिसा का त्याग करता है, अर्थात् वह सकल्पपूर्वक मन, वचन और काय से किसी भी त्रस प्राणी का घात अपने मनोरजन एव स्वार्थपूर्ति के लिए नही करता है तथा शेष तीन प्रकार की हिसा को भी अपने विवेकपूर्वक कम करता है।[2]

अतिचार

सावधानीपूर्वक व्रतों का पालन करते रहने पर भी अज्ञान अथवा प्रमादवश कुछ ऐसी भूलें हो जाती है जो व्रतो को मलिन कर देती हैं। इस प्रकार की भूलो को अतिचार कहते हैं। अतिचार से आशय उन प्रवृत्तियो से है, जो व्रतो को दूषित करती है। इस प्रकार के अतिचारों से बचना चाहिए।

अहिसाणुव्रत के पाच अतिचार हैं—छेदन, बधन, पीडन, अतिभारारोपण, आहार वारणा या अन्नपान निरोध।[3]

छेदन दुर्भावनापूर्वक पालतू पशु-पक्षियों के नाक-कान आदि छेदना, नकेल लगाना, नाथ देना आदि 'छेदन' है।

बधन पालतू पशु-पक्षियों को इस तरह बाधना कि वे हिल-डुल भी न सकें तथा मकान मे आगादि लगने पर प्राण रक्षा के लिए भाग भी न सकें 'बधन' है।

पीडन डडा, बेत, चाबुक आदि से घात करना, अपने पालतू पशुओं तथा परिजनों को पीडा पहुचाना तथा कठोर एव अपमानजनक शब्दों का प्रयोग कर किसी को पीडा पहुचाना 'पीडन' नाम का अतिचार है।

अतिभारारोपण क्षमता से अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण है। दुर्भावनावश अपने आश्रित कर्मियों एव पशुओं पर उनकी क्षमता से अधिक भार लादना, उनसे अधिक काम लेना आदि सब 'अति भारारोपण' की पर्याय है।

---

1 मद्य मास मधु त्यागै सहाणुव्रतपचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुं ग्रहिणा श्रमणोत्तमा॥ —र. क. श्रा. 66

2 र क श्रा 53

3 र क श्रा 54

आहार वारणा/ अन्नपान-निरोध—दुर्भावनावश अपने आश्रितों के अन्नपान का निरोध करना, उन्हें जानबूझकर भूखा रखना, समय पर उनके लिए भोजन-पानी की व्यवस्था न करना आहार वारणा है, इसे अन्नपान निरोध भी कहते हैं।

सत्याणुव्रत

अहिंसा की आराधना के लिए सत्य की उपासना भी अनिवार्य है। झूठा व्यक्ति सही अर्थों में अहिंसक आचरण कर ही नहीं सकता तथा सच्चा अहिंसक कभी असत्य आचरण नहीं कर सकता। सत्य और अहिंसा में इतना घनिष्ट संबंध है कि एक के अभाव में दूसरे की आराधना हो ही नहीं सकती। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

गृहस्थ के लिए झूठ का सर्वथा त्याग संभव नही है। इसलिए उसे स्थूल झूठ का ही त्याग कराया जाता है।[1] जिस झूठ से समाज में प्रतिष्ठा न रहे, प्रामाणिकता खंडित होती हो लोगों में अविश्वास उत्पन्न होता हो तथा राजदंड का भागी बनना पड़े, इस प्रकार के झूठ को स्थूल झूठ कहते हैं। सत्याणुव्रती श्रावक इस प्रकार के स्थूल झूठ का मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करता है, साथ ही वह कभी ऐसा सत्य भी नही बोलता जिससे किसी पर आपत्ति आती हो। वह तो अपनी अहिंसक भावना की सुरक्षा के लिए हित-मित और प्रिय वचनों का ही प्रयोग करता है।

अतिचार

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं—परिवाद, रहोभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यासपहार और पैशुन्य।[2]

1. किसी की निंदा करना अथवा किसी के साथ गाली-गलौच करना परिवाद है।

2. दूसरों के गुप्त रहस्यों को उजागर कर देना रहोभ्याख्यान है।

3. झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठे लेख लिखना, झूठी गवाही देना, किसी के जाली हस्ताक्षर बनाना अथवा झूठा अंगूठा लगाना, किसी पर झूठे आरोप लगाना यह सब कूटलेख क्रिया है।

4. चुगली करना पैशुन्य है।

5. दूसरों की धरोहर को हड़प लेना न्यासापहार है। भवन-भूमि आदि का अवैध कब्जा भी इसी के अंतर्गत आता है।

अचौर्याणुव्रत

चोरी भी हिंसा का ही रूप है। अहिंसा के सम्यक् परिपालन के लिए चोरी का त्याग भी आवश्यक है। जब किसी की कोई चीज चोरी हो जाती है अथवा वह किसी प्रकार से ठगा जाता है तो उसे बहुत मानसिक पीड़ा होती है, उस मानसिक पीड़ा के परिणामस्वरूप

1. र क श्रा. 55
2. र क. श्रा. 56

कभी-कभी हृदयाघात (हार्टफेल) भी हो जाता है। अतः चोरी करने से अहिंसा नहीं पल सकती तथा चोरी करने वाला सत्य का भी पालन नहीं कर सकता क्योंकि सत्य और चोरी दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते।

जिस पर अपना स्वामित्व नहीं है ऐसी किसी भी पराई वस्तु को बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता है। वह जल और मिट्टी के सिवा बिना अनुमति के किसी के भी स्वामित्व की वस्तु का उपयोग नहीं करता। हां, सार्वजनिक वस्तुएं जो सब के लिए खुली हों, उसके लिए उसे किसी से अनुमति की जरूरत नहीं होती। वह मार्ग में पड़ी हुई, रखी हुई या किसी की भूली हुई, अल्प या अधिक मूल्य वाली किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता।[1]

अचौर्याणुव्रती उक्त प्रकार की समस्त चोरियों का त्याग कर देता है जिसके करने से राजदंड भोगना पड़ता है। समाज में अविश्वास बढ़ता है तथा प्रामाणिकता खंडित होती है। प्रतिष्ठा को धक्का लगता है। किसी को ठगना, किसी की जेब काटना, किसी का ताला तोड़ना, किसी को लूटना, डाका डालना, किसी के घर सेंध लगाना, किसी की संपत्ति हड़प लेना, किसी का गड़ा धन निकाल लेना आदि सब स्थूल चोरी के उदाहरण हैं। अचौर्याणुव्रती इनका त्याग करता है।

अतिचार

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं— 1. चौर प्रयोग, 2. चौरार्थ आदान, 3. विलोप, 4. हीनाधिक विनिमान और 5. प्रतिरूपक व्यवहार।[2]

1. चौर प्रयोग : तरह-तरह के उपाय बताकर चोरी में सहायक होना, चोरी की योजना बनाना, चोरों को प्रेरणा देना तथा चोरों की प्रशंसा करना, दूसरों से चोरी करवाना तथा चोरी का अनुमोदन करना चौर प्रयोग है।

2. चौरार्थादान : जानबूझकर चोरी का माल खरीदना, उन्हें गिरवी रखना, चोरों से संबंध ननाए रखना, तस्करी का सामान खरीदना चौरार्थादान है।

3. विलोप : राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, जैसे किसी की संपत्ति को छीन लेना या हड़प लेना, भूमि-भवन पर अवैध कब्जा करना, सार्वजनिक अथवा शासकीय भूमि पर अतिक्रमण कर अधिकार जमा लेना आदि क्रियाएं विलोप हैं।

4. हीनाधिक विनिमान : गैलन, मीटर आदि माप हैं, और किलो, तोला, ग्राम आदि तौल। माप-तौल के साधन बांट आदि में कमती-बढ़ती रखकर व्यापार में अधिक लेने और कम देने की नियत रखना हीनाधिक विनिमान है।

5. प्रतिरूपक व्यवहार : मिलावट करना, अधिक मूल्य की वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना, शुद्ध वस्तु में अशुद्ध वस्तु मिलाना, नकली वस्तुओं का व्यापार करना आदि सबको प्रतिरूपक व्यवहार कहा जाता है। इस प्रकार पवित्र में अपवित्र वस्तु मिलाकर अनुचित लाभ उठाना श्रावक के लिए वर्जित है।

1 र क श्रा 57
2 र क श्रा 58

ब्रह्मचर्याणुव्रत

यौनाचार के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं।[1] गृहस्थ अपनी कमजोरीवश पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण नहीं कर पाता। उसके लिए विवाह का मार्ग खुला है। गृहस्थ विवाह करके कौटुम्बिक जीवन में प्रवेश करता है। उसके विवाह का प्रमुख उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवन करना ही होता है। विवाह के बाद वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों को माता-बहन और पुत्री की तरह समझता है, तथा पत्नी अपने पति के सिवा अन्य सभी पुरुषों को पिता, भाई और पुत्र की तरह समझती हुई अपने पति को सेवा में ही संतुष्ट रहती है। इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत या स्वदार संतोष व्रत कहते हैं।[2] इसके भी पांच अतिचार हैं।[3]

अतिचार

1. अन्य विवाह करण : दूसरे के विवाह कराने का व्यवसाय करना, दिन-रात उसी चिंतन में लगे रहना, जिनका विवाह करना, अपने गार्हस्थिक कर्त्तव्य में सम्मि लित नहीं है, उनका स्नेह व लोभवश विवाह करना अन्य विवाहकरण है।

2. अनंग क्रीड़ा : विकृत और उच्छृंखल यौनाचार में रुचि रखना, अप्राकृतिक मैथुन करना, अनंग क्रीड़ा है।

3. विटत्व : काम संबंधी कुचेष्टाओं को विटत्व कहते हैं।

4. कामतीव्राभिनिवेश : काम की तीव्र लालसा रखना, निरंतर उसी के चिंतन में लगे रहना, कामोत्तेजक निमित्तों का संयोजन करना काम तीव्राभिनिवेश है।

5. इत्वरिकागमन : चरित्रहीन स्त्री-पुरुषों की संगति में रहना, व्यभिचारिणी स्त्रियों के साथ उठना-बैठना, उनसे संबंध बनाए रखना इत्वरिकागमन हैं।

परिग्रह-परिमाणव्रत

धन्य धान्यादि बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व, मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहते हैं। मनुष्य के पास जितनी अधिक संपत्ति की कामना होती है उसके पास उतना ही अधिक ममत्व, मूर्च्छा या आसक्ति होती है। अपनी इसी आसक्ति के कारण आवश्यकता न होने पर भी वह अधिकाधिक धन प्राप्त करने की कोशिश करता है, किंतु जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ भी बढ़ता ही जाता है। वह अपने इसी लोभ के कारण अधिकाधिक धन-संग्रह करता है। परिग्रह की होड़ में दिन-रात बेचैन रहता है। यह लोभ और तृष्णा ही हमारे दुःख का मूल कारण है। धन-संपत्ति से सुख की कामना करना आग से आग बुझाने का प्रयास करने की तरह है।

यद्यपि आवश्यकताएं बहुत सीमित हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति थोड़े से प्रयत्न से की जा सकती है, किंतु आकांक्षाओं के अनंत होने के कारण मनुष्य में और-और जोड़ने

1. मैथुनमब्रह्म त. सू. 7/16
2. र. क. श्रा. 59
3. र. क. श्रा. 60

की भावना बनी रहती है। इच्छा तो आकाश की तरह अनंत है। उसकी कभी पूर्ति हो ही नहीं सकती। इच्छाओं का नियंत्रण ही इच्छा तृप्ति का श्रेष्ठ साधन है। अतः आकांक्षाओं की इस अंतहीन परंपराओं को देखते हुए आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें सीमित बनाने का प्रयास करना ही सच्चा पुरुषार्थ है। इसी से अहिंसा की सही साधना हो सकेगी। इसी दृष्टि से जैन गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप धन्य-धान्यादि बाह्य पदार्थों की सीमा बनाकर उतने में ही संतोष रखता है। उसके अतिरिक्त पदार्थों के प्रति कोई ममत्व नहीं रखता। इससे सहज ही वह अपनी अंतहीन इच्छाओं को एक सीमा में बांध लेता है, इसलिए इसे इच्छा परिमाणव्रत भी कहते हैं।[1]

अतिचार

परिग्रह परिमाणव्रत के पांच अतिचार हैं— 1. अतिवाहन, 2. अतिसंग्रह, 3. अतिविस्मय, 4. अतिलोभ और 5. अतिभार वहन।[2]

1. **अतिवाहन** : अधिक लाभ की आकांक्षा से शक्ति से अधिक दौड़-धूप करना, दिन-रात उसी आकुलता में उलझे रहना तथा दूसरों से भी नियम विरुद्ध अधिक काम लेना 'अतिवाहन' है।

2. **अतिसंग्रह** : अधिक लाभ की इच्छा से उपभोग्य वस्तुओं का अधिक समय तक संग्रह करके रखना अर्थात् अधिक मुनाफाखोरी की भावना रखकर अधिक संग्रह करना 'अतिसंग्रह' है।

3. **अतिविस्मय** : अपने अधिक लाभ को देखकर अहंकार में डूब जाना तथा दूसरों के अधिक लाभ में विषाद करना, जलना, कुढ़ना, हाय-हाय. करना 'अतिविस्मय' है।

4. **अतिलोभ** : मनचाहा लाभ होते हुए भी और अधिक लाभ की आकांक्षा करना, क्रय-विक्रय हो जाने के बाद भाव घट-बढ़ जाने से अधिक लाभ की संभावना हो जाने पर इसे अपना घाटा मानकर संक्लेश करना 'अतिलोभ' है।

5. **अतिभार वहन** : लोभ के वश होकर किसी पर न्याय-नीति से अधिक भार डालना तथा सामने वाले की सामर्थ्य से बाहर काम लेना आदि 'अतिभार' वहन है।

अष्टमूलगुण

उक्त हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के त्याग के साथ-साथ मद्य, मांस और मधु के सेवन का त्याग प्रत्येक जैन गृहस्थ का मूल गुण है। ये जैनों के मूल चिह्न हैं। जिस प्रकार मूल/जड़ के शुद्ध और पुष्ट होने पर वृक्ष भी सबल और सरस होता है, उसी प्रकार मूलभूत उपर्युक्त नियमों से जीवन अलंकृत होने पर साधक मुक्ति पथ में प्रगति करना प्रारंभ कर देता है।

वर्तमान युग की उच्छृंखल भोगोन्मुख प्रवृत्ति को दृष्टिगत रखते हुए बाद के आचार्यों

1. र. क. श्रा. 61
2. र. क. श्रा. 62

ने मूल गुणों में कुछ सशोधन कर अलग प्रकार से परिगणना की है, किंतु सभी की मूल भावना अहिसात्मक आचरण की सुरक्षा की ही रही है। एक आचार्य ने मूल गुणों को निम्न प्रकार से परिगणित किया है—

मद्य, मास, मधु, रात्रि-भोजन, पीपल, ऊमर, बड कठूमर/ अजीर, पाकर सदृश पच उदम्बर फलों का त्याग। अरिहत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधु नामक पच परमेष्ठियो की स्तुति, जीव दया तथा पानी को वस्त्र द्वारा अच्छी तरह छानकर पीना यह आठ मूल गुण है।[1]

उपर्युक्त आठों बाते अहिसा की दृष्टि से कही गयी है, अर्थात एक जैन श्रावक को इतने नियमों का पालन तो अवश्य ही करना चाहिए। इसके बिना वह नाम का जैनो भी नहीं कहला सकता। जैन होने के यह मूल चिह्न है। मद्य, मास एव मधु तो स्पष्ट हिसा के कारण होने से त्याज्य ही है, क्योकि इनके सेवन मे सकल्पी हिसा है तथा इस प्रकार का आहार मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध भी है। कुछ लोग तथाकथित अहिसक शहद को (जो मधुमक्खियों के उडने/उडाने के बाद निकाली जाती है) खाने की सलाह दते है। उनकी यह दलील है कि उसमे मधुमक्खियो का घात नही होता, अत उसके खाने मे कोई दोष नही है। लेकिन उनकी उक्त मान्यता ठीक नही है। शहद का सेवन किसी भी अर्थ मे निर्दोष नहीं है क्योंकि शहद तो मधुमक्खियो की उगाल (थूक) है। किसी भी प्राणी के उच्छिष्ठ पदार्थ का सेवन शिष्टजन नही करते तथा उस शहद मे अन्य भी छोटे छोटे त्रस जीव पाये जाते है। अत एक अहिसक गृहस्थ के लिए तो यह त्याज्य ही है। बड, पीपल, पाकर, ऊमर (गूलर), कठुमर (अजीर) इन पाचो फलो मे दूध निकलने के कारण ये क्षीर फल भी कहलाते है। इनके अदर बहुसख्या मे त्रस जीव पाए जाते है। अत इनका भी त्याग करना चाहिए।

जल गालन

जल मे अनेक त्रस जीव पाए जाते है। वे इतने सूक्ष्म होते है कि दिखाई नही पडते। आधुनिक वैज्ञानिको ने सूक्ष्मदर्शी यत्रो की सहायता से देखकर एक बूद जल मे 36450 जलचर जीव बताए है। जैन ग्रथो के अनुसार उक्त जीवों की सख्या काफी अधिक है। ऐसा कहा जाता है कि एक जल बिदु मे इतने जीव पाए जाते है कि वे यदि कबूतर की तरह उडें तो पूरे जम्बू द्वीप को व्याप्त कर ले।[2] उक्त जीवो के बचाव के लिए पानी को वस्त्र से छानकर पीना चाहिए। मनुस्मृति मे भी 'दृष्टिपूतम् न्यसेतपादम वस्त्रपूतम्[3] पिबेत् जलम्' कहकर पानी छानकर पीने की सलाह दी गयी है।

1 मद्य पल मधु निशाशन पचफलीविरति पचकाप्तनुति
जीव दया जलगालनमिति च क्वचिदष्ट मूल गुणा ।सा ध 2 ।18
2 (अ) एक विन्दूद्भवा जीवा परावत समायदि ।
भुत्वा चरन्ति चेज्जम्बु द्वीपोऽपि पूर्यते यत ॥ व्रत विधान सग्रह
(ब) एगम्मि उदग विंदुमि जे जीवा जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
ते जई सरसिमित्ता जम्बू दीवेण मायति ॥ प्रवचन सारोद्धार
3 मनुस्मृति 6/46

अनछना पानी पीने से हिंसा की संभावना तो रहती ही है, अनेक प्रकार के रोगों का शिकार भी होना पड़ता है। आजकल तो चिकित्सक भी छना जल पीने की ही सलाह देते हैं। वस्त्र द्वारा पानी छानने का प्रमुख उद्देश्य करुणा है, उसके साथ-साथ अनेक रोगों से भी बचाव हो जाता है। अभी कुछ दिन पहले भारत के राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा (तत्कालीन उपराष्ट्रपति) ने एक धर्मसभा को संबोधित करते हुए इंदौर की एक घटना सुनाकर पानी छानकर पीने का महत्त्व बताते हुए कहा था कि "कुछ दिन पूर्व इंदौर के एक मुहल्ले में एक विशेष प्रकार का रोग फैला जिसमें पूरा-का-पूरा परिवार बिस्तर पकड़ लेता था। एक सीमित क्षेत्र में ही रोग से प्रभावी होने से चिकित्सक चिंतित थे। उस समय यह भी देखा गया कि उस मोहल्ले के जैन परिवार में इस रोग का लक्षण नहीं दिखा। डॉक्टर इससे चकित थे। बाद में खोंज करने पर मालूम हुआ कि वॉटर टैंक जिससे कि पूरे मोहल्ले में पानी वितरित होता था, कई दिनों से उसमें एक चिड़िया मरी पड़ी थी। उसके पूरे शरीर में कीड़े पड़े थे। इसी कारण पूरा पानी विकृत हो गया था, वह विषाक्त पानी ही रोगों का कारण बना था।" जैन परिवारों में इस रोग का प्रभाव न होने का कारण छने जल का उपयोग ही था।

आजकल तो जो नल का पानी आता है कई बार तो उसमें नाली का पानी भी आ जाता है। कभी-कभी नल के पानी में केंचुएं भी देखे गये हैं, ऐसी घटनाएं आये दिन समाचार-पत्रों में छपती रहती हैं। अतः पानी को छानकर ही पीना चाहिए।

पानी छानने की विधि

जल को अत्यंत गाढ़े (जिससे सूर्य का बिंब न दिखे) ऐसे वस्त्र को दोहरा करके छानना चाहिए। छन्ने की लंबाई-चौड़ाई से डेढ़ गुनी होनी चाहिए।[1] ऐसा करने से अहिंसा व्रत की रक्षा होती है तथा त्रस जीव उस वस्त्र में ही रह जाते हैं, जिससे छना हुआ जल त्रस जीवरहित हो जाता है। त्रस जीवों का रक्षण होने से मांस भक्षण के दोषों से बच जाता है। जल छानने के पश्चात् छनने में बचे जल को एक-दूसरे पात्र में रखकर उसके उपर छने जल की धार छोड़नी चाहिए उसके बाद उसे मूल श्रोत में पहुंचा देना चाहिए। इसके लिए कड़ीदार बाल्टी रखी जाती है, जिसे जल की सतह पर ले जाकर उड़ेला जाता है, ऐसा करने से उनको धक्का नहीं लगता तथा करुणा भी पूरी तरह पलती है। उक्त क्रिया को जीवाणी कहते हैं।[2] छना हुआ जल एक मुहूर्त तक सामान्य गर्म जल छः घंटे तक तथा पूर्णतः उबला जल चौबीस घंटे

1. व्रत विधान सग्रह पृ 30 पर उद्धृत
2. वस्त्रेणातिसूपीनने गालितं नत्पिवेत्जलम्,
   अहिंसा व्रत रक्षार्थं मास दोषापनोदने ।
   अम्वुगालित शेष तन्नक्षिपेत क्वचिदन्यतः,
   तथा कूप जल नदया तज्जलकूप वारिणि ॥ ध. स. श्रावकाचार अ. 6

तक उपयोग करना चाहिए।[1] इसके बाद उसमें त्रस जीवों की पुनरुत्पत्ति की संभावना रहने से उनकी हिंसा का डर रहता है।[2]

रात्रि भोजन त्याग

रात्रि भोजन का भी प्रत्येक गृहस्थ को त्याग करना चाहिए। रात्रि में भोजन करने से त्रस

1 मुहूर्त गालित तोय प्रासुक प्रहर द्वयम ।
उष्णोदक महोरात्र तत· समुर्च्छिन भवेत् ॥ व्रत विधान सग्रह पृ 31

2 जैनेतर ग्रथो मे भी जल छानकर पीने का प्रावधान किया गया है। लिग पुराण मे तो यहाँ तक कहा गया है कि एक मछली मारने वाला वर्ष भर मे जितना पाप अर्जित नही करता उतना पाप बिना छने जल का उपयोग करने वाला एक दिन में कर लेता है।

सवत्सरेण यत्पाप कुरुते मत्स्यवेधक ।
एकाहेन तदाप्नोति अपूत जल सगृही ॥ (लिग पुराण 202)

उत्तर मीमासा मे तो जल छानने की विधि भी जैन परपरा के अनुरूप बतायी है,
त्रिंशद्गुल प्रमाण विशन्यगुलमायत । तद्वस्त्र दिगुणी कृत्य गालयेच्चोदक पिबेत्
तस्मिन् वस्त्रे स्थिता जीवा स्थापयेज्जलमध्यत ।
एव कृत्वा पिबेत्तोय स याति परमागतिम् ॥ (उत्तर मीमासा 203)

अर्थात् तीस अगुल लबे और बीस अगुल चौड़े वस्त्र को दोहरा करके उससे छानकर जल पिए तथा उस वस्त्र मे जो जीव हैं उनको उसी जलाशय मे (जहा से वह जल आया है, वही पर) स्थापित कर देना चाहिए। इस प्रकार से जो मनुष्य जल पीता है वह उत्तम गति को प्राप्त करता है।

सयम प्रकाश उत्तरार्द्ध 1/102 पर उद्धृत

रात्रि भोजन त्याग के महत्त्व को अन्य धर्मों और सम्प्रदायो मे भी बताया गया है। महाभारत में नरक के चार द्वारों मे रात्रि भोजन का प्रथम द्वार बताते हुए युधिष्ठिर से रात्रि म जल भी न पीने की बात कहते हुए कहा गया है—

नरकद्वारणि चत्वारि प्रथम रात्रि भोजन ।
परस्त्री गमन चैव सन्धानानन्त कायिके ॥
ये रात्रौ सर्वदाहार वर्जयन्ति सुमेधस ।
तेषा पक्षोपवासस्य फल मासेन जायते ॥
नोदकमपि पातव्य रात्रावत्र युधिष्ठिर ।
तपस्विना विशेषेण गृहिणाच विवेकिना (महाभारत)

अर्थात् रात्रि भोजन करना, परस्त्री गमन करना, अचार, मुरब्बा आदि के सेवन करना तथा कदमूल आदि अनतकाय पदार्थ खाना ये चार नरक के द्वार हैं। उनमे पहला रात्रि भोजन करना है। जो रात्रि में सब प्रकार के आहार का त्याग कर देते हैं उन्हे एक माह में एक पक्ष के उपवास का फल मिलता है। हे युधिष्ठिर ! रात्रि मे तो जल भी नही पीना चाहिए, विशेषकर तपस्वियों एव ज्ञान सपन्न गृहस्थों को तो रात्रि में जल भी नही पीना चाहिए। जो लोग मद्य और मास का सेवन करते हैं, रात्रि में भोजन करते हैं तथा कदमूल खाते हैं उनके द्वारा की गयी तीर्थयात्रा तथा जप और तप सब व्यर्थ हैं।

मद्यमासाशन रात्रौ भोजन कन्द भक्षणम् ।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषा तीर्थयात्रा जपस्तपः ॥ (पद्मपुराण)

गरुड़ पुराण में रात्रि में अन्न को मास तथा जल को खून की तरह कहा गया है—

अस्तगते दिवानाथे आपो रुधिर मुच्यते ।
अन्न मास सम प्रोक्त मार्कण्डेय महर्षिणा ।

अर्थात् दिवानाथ यानी सूर्य के अस्त हो जाने पर मार्कण्डेय महर्षि ने जल को खून तथा अन्न को मास की तरह कहा है। अतः रात्रि का भोजन त्याग करना चाहिए।

हिसा का दोष लगता है। भले ही बल्ब आदि के प्रकाश में आप अपने भोजन को देखते हैं किंतु उसमें पड़ने वाले जीवों को नहीं बचा सकते। कुछ कीट-पतंग तो उनके प्रकाश में ही आते हैं, और भोज्य सामग्री पर गिरते रहते हैं। अतः रात्रि में भोजन करने से त्रस हिंसा से बचा नहीं जा सकता। दिन में सूर्य प्रकाश होने के कारण उनका सद्भाव नहीं पाया जाता। इसका कारण सूर्य प्रकाश में पायी जाने वाली अल्ट्रावायलेट (Ultravoilet) और इन्फ्रारेड (Infrared) नाम की अदृश्य किरणें हैं। सूर्य के प्रकाश में उक्त दोनों नाम वाली अदृश्य और गर्म किरणें निकलती रहती हैं। उसके प्रभाव से सूक्ष्म जीव दिन में यहां कहीं छिप जाते हैं तथा नये जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। रात्रि होते ही वे निकलने लगते हैं। सूर्य प्रकाश के अतिरिक्त प्रकाश के किसी अन्य स्रोत में उक्त किरणें नहीं पायी जातीं। इसलिए रात्रि होते ही ये निकलने लगते है। यही कारण है कि बरसात के दिनों में भी दिन में बल्ब जलाने पर कीड़े नहीं आते। अतः त्रस हिंसा से बचने के लिए रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य है।

रात्रि भोजन स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिकर है। चिकित्सा शास्त्रियों का अभिमत है कि कम से कम सोने के तीन घंटे पूर्व तक भोजन कर लेना चाहिए। जो लोग रात्रि भोजन करते हैं वे भोजन के तुरंत बाद सो जाते हैं जिससे अनेक रोगों का जन्म होता है। दूसरी बात यह कि सूर्य प्रकाश में केवल प्रकाश ही नहीं होता, अपितु जीवनदायिनी शक्ति भी होती है। सूर्य प्रकाश से हमारे पाचन तंत्र का गहरा संबंध है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश पाकर कमलदल खिल जाते हैं तथा उसके अस्त होते ही सिकुड़ जाते हैं, उसी प्रकार जब तक सूर्य प्रकाश रहता है तब तक उसमें रहने वाले पूर्वोक्त गर्म किरणों के प्रभाव से हमारा पाचन तंत्र ठीक काम करता है। उसके अस्त होते ही उसकी गतिविधि मंद पड़ जाती है, जिससे अनेक रोगों की संभावना बढ़ जाती है अतः रात्रि में भोजन का त्याग करना ही चाहिए। पाक्षिक श्रावक यदि रात्रि भोजन का पूर्णतः त्याग नहीं कर पाता तो कम से कम पान, दवा, जल, दूध आदि की छूट रखकर अन्य स्थूल आहार का त्याग तो करना ही चाहिए।[1]

इसी तरह पाक्षिक श्रावक को पंचपरमेष्ठि की पूजा/स्तुति एवं प्राणियों पर जीव दया का भाव भी रखना चाहिए।

नैष्ठिक श्रावक

व्रतधारी श्रावक नैष्ठिक कहलाते हैं।[2] 'नैष्ठिक' शब्द निष्ठा से निष्पन्न है। व्रतों का पूरी निष्ठा से पालन करने वाला श्रावक नैष्ठिक है। पाक्षिक श्रावक अपने व्रतों को कुलाचार के रूप नें पालन करता है, उसमें कदाचित् अतिचार भी लग सकते हैं, किंतु नैष्ठिक श्रावक निरतिचार रूप से व्रतों का पालन करते हैं।[3]

नैष्ठिक श्रावक की ग्यारह श्रेणियां बताई गई हैं, जिन्हें ग्यारह प्रतिमाएं कहते हैं।

1. (अ) सा. ध. 2/76
   (ब) ला. स. 2/92
2. जै. सि. को. 3/46
3. दुर्लेश्याभि-भवाज्जातु विषये क्वचिदुत्सुकः।
   स्खलन्नपि क्वापि गुणे पाक्षिकः स्यान्नः नैष्ठिकः॥ सा. ध. 3/4

साधक अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ निचली दशा से क्रमपूर्वक उठता चला जाता है, वे हैं दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त विरत, दिवा मैथुन, त्याग, पूर्णब्रह्मचर्य आरंभ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग तथा उद्दिष्ठ त्याग ।[1]

वैराग्य की प्रकर्षता के अनुसार इन्हें इस क्रम में रखा गया है कि धीरे-धीरे क्रमशः इन पर कोई भी आरूढ़ हो, जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। ये ग्यारह श्रेणियां उत्तरोत्तर विकास को लिए हैं। साधक पूर्व-पूर्व की भूमिकाओं से उत्तरोत्तर भूमिकाओं में प्रवेश करता जाता है। जैसे ग्यारहवीं कक्षा में प्रवेश करने वाले में दसवीं कक्षा की योग्यता होनी चाहिए, वैसे ही उत्तर-उत्तर की प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व के गुण समविष्ट रहते हैं ।[2]

ग्यारह प्रतिमाएं

आइये अब हम क्रमपूर्वक उनके स्वरूप पर विचार करें—

1. दर्शन : पूर्व कथित पाक्षिक श्रावक की समस्त क्रियाओं का पालन करने वाला श्रावक दार्शनिक कहलाता है। वह श्रावक के आठों मूल गुणों को निरतिचार रूप से पालन करता हुआ आगे के व्रतों के पालन करने मे उत्सुक रहता है। अब वह संसार, शरीर और भोगों के प्रति विरक्त चित्त रहता हुआ पच परमेष्ठि के चरणों में पूर्णतः समर्पित रहता है ।[3] भोगों के प्रति उदासीनता आ जाने के कारण वह अचार मुरब्बा आदि पदार्थ तथा जिसमें फुई/फफूंद लगी हो, जिन वस्तुओं का स्वाद बिगड गया हो ऐसी वस्तु भी नहीं खाता। वह मद्य, मांस, मधु आदि का सेवन तो करता ही नहीं, इस प्रकार के निद्य व्यवसाय का भी त्याग कर नीति और न्यायपूर्वक ही अपने परिवार का भरण-पोषण करता है ।[4]

2. व्रत प्रतिमा : यह श्रावक की दूसरी श्रेणी है। इस श्रेणी वाले श्रावक पूर्वोक्त मूल गुणों के साथ पांच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करते है। इस प्रतिमा में पंचाणुव्रतों के साथ-साथ तीन गुण व्रत और चार 'शिक्षा व्रत' पाले जाते हैं। इस प्रकार व्रती श्रावक 5 + 3 + 4 कुल बारह व्रतों को निःशल्य होकर निरतिचार पालन करता है ।[5]

गुण व्रत—जिससे अणुव्रतों में विकास होता है उन्हें गुण व्रत कहते हैं। गुणव्रत तीन हैं—दिगव्रत, देशव्रत तथा अनर्थ दंड त्याग ।[6]

दिग्व्रत : जीवन पर्यन्त के लिए दशों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा बना लेना दिग्व्रत है[7] लोभ के शमन के लिए दिगव्रत लिया जाता है, क्योंकि इससे मर्यादीकृत क्षेत्र से बाहर के क्षेत्र में कितना भी बड़ा प्रलोभन हो, वह बाहर जाने का भाव नहीं रखता ।[8] तथा अपने सीमित साधनों में ही संतुष्ट रहता है। तृष्णा की कमी हो जाने से यह व्यक्तिगत निराकुलता का साधन तो है ही, विदेशी उद्योग का नियमन हो जाने से देश की संपत्ति और प्रतिभा भी विदेश जाने से बच जाती है।

देशव्रत : दिग्व्रत में ली गयी जीवन भर की मर्यादा के भीतर भी अपनी

1. का. अनु 305-6 2 र क श्रा 136 3 र क श्रा 137 4 का. अनु 328 5 र का. श्रा 138
6 (अ) र. का. श्रा 67 (ब) कई आचार्य देश व्रत को शिक्षा व्रत में लेकर भोगोपभोग व्रत को गुण व्रत कहते हैं। देखें महा. पु. 10/165
7. र. क. श्रा 68 8 का. अनु 341-42

आवश्यकताओं एवं प्रयोजन के अनुसार आवागमन को सीमित समय के लिए कम करना देश व्रत कहलाता है। इस व्रत में वह सीमा बांध लेता है कि मैं अमुक समय तक अमुक स्थान तक ही लेन-देन का संबंध रखूंगा। (उससे बाहर के क्षेत्र से न तो कुछ वह मांगता है, न ही भेजता है) यही उसका देशव्रत है। इच्छाओं को रोकने का यह श्रेष्ठ साधन है।[1]

अनर्थदंड त्याग व्रत : बिना प्रयोजन पाप के कार्य करने को अनर्थदंड कहते हैं। इनका त्याग करना अनर्थदंड त्याग व्रत है।[2] इस व्रत के पांच भेद हैं—

(1) **पापोपदेश**—बिना प्रयोजन खोटे व्यापार आदि पाप क्रियाओं का उपदेश देना।[3]

(2) **हिंसादान**—अस्त्र-शस्त्रादि हिंसक उपकरणों का दान देना तथा उनका व्यापार करना, इससे दूसरों की जान भी ली जा सकती है।[4]

(3) **अपध्यान**—कोई हार जाए, कोई जीत जाए, अमुक का मरण हो जाए, अमुक को लाभ हो जाए, अमुक को हानि हो जाए, बिना प्रयोजन इस प्रकार के चिंतन को अपध्यान कहते हैं।[5] व्रती इसका भी त्याग कर देता है। इन क्रियाओं में व्यर्थ ही समय नष्ट होता है, तथा पाप का संग्रह होता है।

(4) **प्रमाद चर्या**—बिना मतलब पृथ्वी खोदना, पानी बहाना, बिजली जलाना, पंखा चलाना, आग जलाना तथा वनस्पति काटना/तोड़ना आदि प्रदूषण फैलाने वाली क्रियाओं को प्रमाद चर्चा कहते हैं।[6]

(5) **दुःश्रुति**—चित्त को कलुषित करने वाले अश्लील साहित्य पढ़ना, सुनना तथा अश्लील गीत, नाटक एवं सिनेमा देखना दुःश्रुति है।[7] चित्त में विकृति उत्पन्न करने वाले होने के कारण व्रती को इनका भी त्याग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूसरों से व्यर्थ हंसी-मजाक करना, कुत्सित चेष्टाएं करना, व्यर्थ बकवाद् करना तथा जिससे स्वयं को कोई लाभ न हो तथा दूसरों को व्यर्थ में कष्ट उठाना पड़े, इस प्रकार हिताहित का विचार किये बिना कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। साथ ही भोगापभोग के साधनों को आवश्यकता से अधिक संग्रह करना भी एक शुद्ध गृहस्थ के लिए अनुचित हैं। ये सब क्रियाएं भी अनर्थ दंड के अंतर्गत ही आती हैं।[8]

शिक्षाव्रत—उक्त तीन गुणव्रतों के साथ वह चार शिक्षाव्रतों का भी पालन करता है, वे हैं सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग, परिमाण तथा अतिथि संविभाग व्रत।[9] इनसे मुनि बनने की शिक्षा/प्रेरणा मिलती है। इसलिए इन्हें शिक्षा व्रत भी कहते हैं।[10] वह इन्हें विशेष रूप से पालता है। साधु अवस्था में जिन कार्यों को विशेष रूप से करना होता है उनका अभ्यास करना ही शिक्षाव्रत का प्रमुख उद्देश्य है।

---

1. का. अनु. 367-68
2. वही, 393
3. वही, 346
4. वही, 367
5. र. क. श्रा. 78
6. वही, 80
7. वही, 79
8. वही 81
9. भग. आ. 2082-83
10. शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं (शिक्षा व्रतम्) सा. ध. टी. 4-4

1. सामायिक—समय आत्मा को कहते हैं। आत्मा के गुणों का चितन कर समता का अभ्यास करना सामायिक है। गृहस्थ प्रतिदिन दोनों संध्याओं में एक स्थान पर बैठकर समस्त पापों से विरत हो आत्म-ध्यान का अभ्यास करता है।[1] सामायिक ध्यान का श्रेष्ठ साधन है। मन की शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है। पांचों व्रतों की पूर्णता सामायिक में हो जाती है।[2]

सामायिक के काल में वह व्रती गृहस्थ, संसार, शरीर और भोगों के स्वरूप का चिंतन कर अपने मन को उनसे विरक्त करने का अभ्यास करता है। वह विचारता है कि संसार अशरण है, अशुभ है, संसार में दुःख ही दुःख है तथा वह नष्ट होने वाला है एवं मोक्ष उससे विपरीत है।[3] इस प्रकार की भावनाओं द्वारा अपने वैराग्य को दृढकर समता में स्थिर होता है। इस अभ्यास में णमोकारादि पदों का बार-बार नियत उच्चारण करना सहायक होने से वह भी सामायिक है, परंतु सामायिक में शब्दोच्चारण की अपेक्षा चिंतन की ही मुख्यता रहती है।

2. प्रोषधोपवास : प्रोषध का अर्थ होता है एकाशन।[4] दोनों पक्षों की अष्टमी तथा चतुर्दशी को पर्व कहते हैं, पर्व के दिनों में एकाशनपूर्वक उपवास करना प्रोषधोपवास व्रत है।[5]

प्रोषधोपवास की विधि : साधक प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करता है। इसके पूर्व सप्तमी और त्रयोदशी को एकाशन करके जिनालय या गुरुओं के पास जाकर चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा शेष दिन धर्मध्यानपूर्वक बिताता है। इसी प्रकार अष्टमी या चतुर्दशी को भी धर्मध्यानपूर्वक बिताकर नवमीं अथवा पंद्रस के दिन प्रातः देव-पूजन कर अभ्यागत अतिथि को भोजन कराकर अनासक्त भाव से भोजन ग्रहण करता है। यह प्रोषधोपवास व्रत की उत्तम विधि है। इसमें असमर्थ रहने वाला साधक मात्र जल या नीरस भोजन करता है। उससे भी असमर्थ रहने वालों के लिए कम से कम अष्टमी और चतुर्दशी को एकाशन करने का विधान है। इस व्रत के माध्यम से पक्ष में कम से कम दो दिन मुनियों की तरह एकाशन करने का अवसर मिल जाता है।

उपवास के दिनों को घर-गृहस्थी और व्यवसाय धंधे के समस्त कार्यों को छोड़कर धर्मध्यानपूर्वक बिताना चाहिए। उपवास का अर्थ मात्र भोजन का त्याग ही नहीं है, अपितु पांचों इंद्रियों के विषयों को त्यागकर आत्मा के पास बैठने को उपवास कहते हैं। विषयों से विरक्त हुए बिना उपवास करना निष्फल है। वह तो लंघन की कोटि में आता है।[6]

3. भोगोपभोग परिमाण व्रत : भोग और उपभोग के साधनों को कुछ समय या जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करना भोगोपभोग परिमाण व्रत कहलाता है।[7] भोजन, माला आदि एक ही बार उपयोग में आने योग्य वस्तु को भोग कहते हैं तथा वस्त्राभूषण आदि बार-बार उपयोग में आने वाली सामग्री उपभोग कहलाती है।[8] यह भोगपभोग परिमाण व्रत

1. र. क. श्रा. मू. 97
2. वही, 101
3. र. क. श्रा. मू. 104
4. प्रोषधः सकृद भुक्तिः। र. क. श्रा. 109
5. वही, 106
6. का. अनु. टी. 358-359
7. सर्वा. सि. 7/21, पृ 280
8. र. क. श्रा. 83

व्यक्तिगत निराकुलता एवं सामाजिक सद्भाव दोनों दृष्टियों से उपयोगी है, क्योंकि इस व्रत के हो जाने पर अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह/संचय और उपभोग बंद हो जाता है। इससे गृहस्थ अनावश्यक खर्च और आकुलता से बच जाता है तथा एक जगह अनावश्यक संग्रह न होने से दूसरों के लिए वह सुलभ हो जाती हैं। अनावश्यक मांग न होने के कारण समाजवाद में यह व्यवस्था बहुत ही उपयोगी है कि व्यक्ति अपने उपयोग की ही वस्तु का संग्रह करे। अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह होने से दूसरे उसके उपभोग से वंचित हो जाते हैं।

जो मनुष्य भोग और उपभोग के साधनों को कम करके अपनी आवश्यकताओं को कम कर लेता है, उसका खर्च भी कम हो जाता है। खर्च कम हो जाने से वह सीमित साधनों में भी अपने जीवन का निर्वाह कर लेता है। तृष्णा घट जाने से वह न्याय और नीति का विचार करके ही अपना कार्य करता है। अतः इस व्रत के धारी को दूसरों की कष्टदायी आजीविका की भी जरूरत नहीं पड़ती।

भोगोपभोग परिमाणव्रती अपने खान-पान को भी सात्त्विक रखता है। वह मद्य, मांस, मधु का त्याग तो करता ही है, अपने भोजन में मादकता बढ़ाने वाले पदार्थों को भी नहीं लेता। वह तो शरीर पोषक तत्त्वों के साथ संतुलित भोजन ही लेता है। इसी प्रकार वह केतकी के फूल, अदरक, गाजर, मूली आदि जमींकंदों का भी सेवन नहीं करता क्योंकि वे अनंतकाय होते हैं, अर्थात् इनमें एक-एक के आश्रय से अनंतानंत निगोदिया जीव निवास करते हैं। इसी प्रकार और भी अशुचि पदार्थ जैसे गोमूत्र आदि उनका भी सेवन नहीं करता।[1] वर्तमान में प्रचलित ऐसी औषधियां जिनके निर्माण का ठीक से पता नहीं चलता तथा जिनमें अशुचि पदार्थों के सम्मिश्रण की संभावना रहती है या जो पेय औषधि है, उसका सेवन भी भोगोपभोग परिमाणव्रती को नही करना चाहिए।

4. **अतिथि संविभाग** : जो संयम को पालते हुए भ्रमण करते हैं [2] उनको अतिथि या साधु कहते हैं ऐसे अतिथियों को अपने लिए बनाये गये भोजन में से विभाग करके भोजन देना अतिथि संविभाग कहलाता है।[3] व्रती, श्रावक प्रतिदिन अपने भोजन से पूर्व उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के पात्रों की प्रतीक्षा करता है। मुनि उत्तम पात्र है, आर्यिका ऐलक क्षुल्लक, क्षुल्लिका या व्रती श्रावक मध्यम पात्र कहलाते हैं तथा सामान्य जैन गृहस्थ जघन्य पात्र कहलाते हैं। तीन प्रकार के पात्रों में जो भी पात्र मिलते हैं उन्हें वह श्रद्धा भक्ति पूर्वक भोजन कराता है।[4]

यदि कोई मुनिराज मिलते हैं तो इसे अपना सौभाग्य समझ, श्रद्धा, भक्ति अलुब्धता, दया, क्षमा और विवेक इन सात गुणों से भूषित होकर नवधा भक्तिपूर्वक उन्हें आहार देता है।[5] नवधा भक्ति निम्न है—

(1) प्रतिग्रह (2) उच्चासन (3) पादप्रक्षालन (4) पूजन (5) प्रणाम (6) मनशुद्धि

---

1 र. क. श्रा. 84
2 सर्वा सि. 7/21, पृ 280
3 वही
4 का. अनु. गा. 360
5 का. अनु. गा. टी., पृ 263

(7) वचन शुद्धि (8) काय शुद्धि (9) अन्नपान शुद्ध ।

प्रतिग्रह : जैसे ही वह अपने सामने से किन्हीं मुनिराज को आहार मुद्रा में निकलते देखता है तो बड़े हर्ष के साथ निवेदन करता है कि हे ! स्वामी नमोऽस्तु ! नमोऽस्तु; आइए, आइए; ठहरिए, ठहरिए; हमारा आहार जल शुद्ध है । यदि मुनिराज उसकी प्रार्थना सुनकर ठहर जाते हैं तो वह उनकी तीन प्रदक्षिणा देता है, फिर वह अत्यंत विनय के साथ उन्हें अपने घर में प्रवेश करने का निवेदन करता है, उसकी उक्त क्रिया को प्रतिग्रह या पड़गाहन कहते हैं । गृह-प्रवेश होने के बाद उन्हें उच्चासन पर विराजमान कर सर्वप्रथम प्रासुक जल से उनके चरणों को धोकर अहोभाव से अपने मस्तक पर लगाता है । तत्पश्चात् जल, गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलरूप अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा करता है । उसके बाद उन्हें प्रणाम कर वह निवेदन करता है कि हे स्वामी हमारा मनशुद्ध है, वचन शुद्ध है, शरीर से भी हम शुद्ध हैं, हमारे द्वारा निर्मित आहार जल भी अत्यंत शुद्ध है कृपा कर भोजन ग्रहण कीजिए ।[1] उसके इस निवेदन पर मुनिराज जब आहार ग्रहण करते हैं तब वह पूर्वोक्त, श्रद्धादि सातों गुणों से युक्त होता हुआ आहार दान देता है ।[2] उक्त नवधा भक्ति और सात गुणों का जोड़ सोलह होता है इसलिए इसे 'सोला' कहते हैं । शुद्धि के अर्थ में रूढ़ सोला का अर्थ मात्र वस्त्रादिकों की शुद्धि से न होकर उक्त सोलह शुद्धियों से ही है ।

इसी प्रकार शेष पात्रों को भी यथायोग्य विनय करके वह आहार दान देता है । वह सिर्फ आहार दान ही नहीं देता बल्कि आवश्यकतानुसार औषधि दान भी देता है, समय-समय पर मुनियों को पिच्छि, कमंडलु एवं शास्त्रादि उपकरण भी देता है । इसी प्रकार मुनियों के रहने योग्य स्थान भी बनवाकर या व्यवस्था कर स्वयं को कृतार्थ करता है । यह सब क्रियाएं उसकी अतिथि संविभाग व्रत के अंतर्गत आती है ।[3] ऐसा कहा गया है कि इस प्रकार अभ्यागत् अतिथि की पूजा और सत्कार करने से उसके द्वारा गृह-कार्यों से अर्जित समस्त कर्म धुल जाते हैं ।[4]

3. **सामयिक** : यह नैष्ठिक श्रावक की तीसरी श्रेणी है । इसे तीसरी प्रतिमा भी कहते हैं । इस श्रेणी में आते ही वह पूर्वगृहीत सभी व्रतों के साथ तीनों संध्याओं में सामायिक करता है । अभी तक वह दिन में दो बार अपनी सुविधानुसार सामायिक करता था, किंतु इस श्रेणी में आते ही वह तीनों संध्याओं में कम से कम 48 मिनट तक सर्वसंकल्प विकल्पों को छोड़कर आत्मचिंतन करता है[5] । पूर्व में वह सामायिक अभ्यास रूप में करता था, अब वह व्रत के साथ करता है । सामायिक व्रत और प्रतिमा में इतना ही अंतर है ।

4. **प्रोषधोपवास** : इस श्रेणी में आने पर पूर्व की तरह पर्व के दिनों में वह उसी विधि से उपवास करने लगता है । पर्व के दिनों में पहले कही गयी विधि के अनुसार उपवास के अभ्यास हो जाने के उपरांत जब वह इन्हें व्रत रूप से करने लगता है, तब वह प्रोषधोपवासी कहलाता है ।[6]

1. वसु. श्रा. 226-231
2. र. क. श्रा. 113
3. सर्वा. सि. 7/21, पृ. 280
4. गृहकर्मणापि निचित कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ।
   अतिथिनाम् प्रतिपूजा रुधिर मल धावते वारि ॥ र. क. श्रा. 114
5. चा. पा. टी. गा. 25
6. वसु. श्रा. टी. गा. 378

5 **सचित विरति** पाचवी श्रेणी वाला वह दयालु श्रावक सचित पदार्थों का त्यागी होता है। वह मूल, फल, साक-सब्जी आदि वनस्पति के किसी भी अग या अश को अग्नि से सस्कारित किये बिना नही खाता।[1] जैन धर्म के अनुसार वनस्पतियों में भी जीव पाये जाते हैं, जब तक ये कच्ची अवस्था में रहते हैं तब तक सजीव रहते हैं। अग्नि से सस्कारित हो जाने पर वे अचित्त हो जाते हैं। उससे प्राणी सयम और इद्रिय सयम दोनों पल जाता है, क्योंकि कच्चे फलादि वनस्पति अधिक स्वादिष्ट होने से अधिक खाये जाते हैं[2] जबकि उबली वनस्पति कम खा पाते हैं। इसी प्रकार वह जल भी उबालकर हो पीता है।

6. **दिवा मैथुन त्यागी/रात्रि भुक्ति त्यागी** पाचों प्रतिमाओं का पालन करते हुए साधक जब दिन में मन, वचन, काय से स्त्री मात्र के ससर्ग का त्याग कर देता है, तब वह दिवा मैथुन विरत कहलाता है।[3] इस भूमिका में आते ही वह दिन में सब प्रकार के काम-भोग का त्याग कर उन्हें रात्रि तक के लिए ही सीमित कर लेता है। इस प्रतिमा को रात्रि भुक्ति त्याग भी कहते हैं। वह रात्रि भोजन का मन, वचन, काय से त्यागी हो जाता है।[4]

7. **पूर्ण ब्रह्मचर्य** पूर्वोक्त सयम के माध्यम से अपने मन को वश में करता हुआ साधक जब मन, वचन, काय से स्त्री मात्र के ससर्ग का त्याग करता है तब उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। इस भूमिका में आने पर वह शरीर की अशुचिता को समझकर, काम से विरत हो, यौनाचार का सर्वथा परित्याग कर देता है।[5] ब्रह्मचारी बनने के बाद वह अपने खान-पान और रहन-सहन में और अधिक सादगी ले आता है तथा घर-गृहस्थी के कार्यों से प्राय उदासीन रहता है।

8. **आरभ विरति** ब्रह्मचारी बन जाने के बाद उसके अतस् में ससार के प्रति और भी अधिक उदासी आ जाती है, तब वह सब प्रकार के व्यापारादि कार्यों का पूर्णतया परित्याग कर देता है। इस प्रतिमा में आरभ सबधी समस्त क्रियाओ का त्याग हो जाता है।[6अ] अत यहा आकर वह आरभी हिसा से भी बचने लगता है।[6ब] यहा तक कि अपना भोजन भी वह अपने हाथों से नही बनाता, किसी के द्वारा निमत्रण मिलने पर भोजन कर लेता है। हा, परिस्थिति विशेष में अपना भोजन स्वय भी बना सकता है। आरभविरति श्रावक खेती-बाडी, नौकरी आदि सब छोड देता है, और पूर्व में अर्जित अपनी सीमित सपत्ति से ही अपने जीवन का निर्वाह करता है।

9. **परिग्रह विरति** पहले की आठ प्रतिमाओं का पालन करने वाला श्रावक जब अपनी जमीन-जायदाद से अपना स्वत्व छोड देता है तब वह परिग्रह विरति कहा जाता है। आठवी प्रतिमा में वह अपना उद्योग-धधा पुत्रों के सुपुर्द कर देता है किंतु संपत्ति अपने ही अधिकार में रखता है। जब वह देख लेता है पुत्रों ने भली-भाति उद्योग/व्यवसाय को सभाल लिया है अब यदि इन्हें सौंप दिया जाए तो ये उसका रक्षण कर लेंगे, तब वह अपने पुत्र या दत्तक पुत्र को पचों के सामने बुलाकर सब कुछ सौंप देता है। अपने पास मात्र अपने पहनने

1 र क श्रा 141
2 का अनु 381
3 वसु श्रा 296
4 र क श्रा 142
5 र क श्रा 143
6 (अ) र क श्रा 144
(ब) का अनु 385

के वस्त्र ही परिग्रह के रूप मे रखता है ।[1]

इस प्रकार वह सब कुछ पुत्रो को सौपकर गार्हस्थिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है, किंतु मुक्त हो जाने पर भी सहसा घर नही छोडता । वह उदासीन होकर घर में ही रहता है, यदि उसके पुत्र कुछ सलाह मागते है तो वह उन्हे सम्मति भी दे देता है ।

10 **अनुमति विरति** इस प्रकार नवमी प्रतिमा में समस्त सपत्ति एव जमीन जायदाद से अपना ममत्व हटाकर सब कुछ पुत्रो को सौपने के बाद, जब वह देख लेता है कि अब मेरी सलाह के बिना भी ये अपना काम-काज कर सकते हैं तो वह घर-गृहस्थी एव व्यापार के कार्यो मे किसी भी प्रकार की सलाह देना भी बद कर देता है । अब वह अत्यत उदासीन होकर तटस्थ भाव से रहने लगता है । उसे किसी भी प्रकार की लाभ-हानि में कोई रुचि नही रहती ।[2]

अब वह प्राय घर में न रहकर मदिर, चैत्यालय आदि एकात स्थानों में ही रहता है और अपना समय स्वाध्याय, सामायिक, ध्यान, चितन आदि में ही व्यतीत करता है । तथा अपने घर अथवा अन्य किसी साधर्मी बधु का निमत्रण मिलने पर ही वह भोजन ग्रहण करता है । इसके बाद घर छोडने में समर्थ हो जाने पर वह अगली श्रेणी की ओर कदम बढाता है ।

11 **उद्दिष्ट त्याग** यह श्रावक की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है । इस भूमिका वाला साधक गृह-त्यागकर मुनियों के पास रहने लगता है तथा भिक्षावृत्ति से अपना जीवन बिताता है । इस प्रतिमा के क्षुल्लक एव ऐलक रूप दो भेद हैं—

क्षुल्लक क्षुल्लक का अर्थ होता है छोटा । मुनियों से छोटे साधक को क्षुल्लक कहते हैं । यह गृह-त्यागकर मुनियों के पास उपाश्रय में रहता है । दिन में एक बार भिक्षावृत्ति से भोजन ग्रहण करता है तथा मुनियों की सेवा, सुश्रूषा एव स्वाध्याय में लगा रहता है ।[3] इस क्षुल्लक के भी दो भेद होते है—1 एक गृह भोजी 2 अनेक गृह भोजी ।[4]

अनेक गृहभोजी भिक्षावृत्ति करके भोजन करता है, वह श्रावकों के घर जाकर 'धर्म-लाभ हो' ऐसा कहता है, उसके ऐसा कहने पर यदि श्रावक उसे कुछ दे देते हैं तो ले लेता है अन्यथा बिना किसी विषाद के आगे बढ जाता है । इस प्रकार पाच सात घरों में उसे जहा अपने योग्यपूर्ण भोजन मिल जाता है, वही बैठकर किसी से पानी मागकर, सरस-विरस, गर्म-ठडे का विकल्प किए बिना भोजन करता है । इसी बीच कोई श्रावक विनयपूर्वक अपने यहा ही भोजन करने का निवेदन करता है, तो वह वही पर बैठकर भी अपने पात्र में भोजन कर लेता है । भोजन के बाद गुरु के पास जाकर चारों प्रकार के आहार का अगले दिन तक के लिए (प्रत्याख्यान) त्याग कर देता है ।

एक गृह-भोजी क्षुल्लक मुनियों के आहार के लिए निकलने के बाद चर्या के लिए निकलता है । श्रावकों के द्वारा विधि के साथ भक्तिपूर्वक आहार दिये जाने पर वह भोजन करता है । दोनों प्रकार के क्षुल्लक अपने तप, सयम और ज्ञानादिक का गर्व किए बिना अपना बर्तन अपने ही हाथों से साफ करते हैं । ऐसा नही करने पर महान् असयम का दोष

1 का. अनु 386
2 र क श्रा 146
3 र क श्रा. 147
4 जै सि. को 2/189

लगता है ।[1] आजकल एक गृहभोजी क्षुल्लक ही मिलते है ।

ऐलक—ऐलक उद्दिष्ट त्यागी श्रावक का दूसरा भेद है । यह वस्त्र के रूप मे मात्र लगोटी धारण करता है ।[2] अपने हाथ में ही अजलि बनाकर दिन में एक बार भोजन करता है, तथा दो से चार माह के भीतर अपने सिर और दाढी मूछों के बालों को उखाडकर केशलोच करता है ।[3]

क्षुल्लक पात्र में भोजन करता है, तथा कभी-कभी हाथ मे भी कर लेता है, लेकिन ऐलक सदा कर पात्र में ही भोजन ग्रहण करता है । क्षुल्लक प्राय केशलोच करता है तथा कभी-कभी कैंची से भी कटवा लेता है, ऐलक हमेशा ही केशलोंच करता है । ऐलक एकमात्र लगोट धारण करता है, क्षुल्लक लगोट के साथ एक खड वस्त्र (जितने वस्त्र खड से सिर ढकने पर पैर उघड जाये तथा पैर ढकने पर सिर उघड जाये) भी रखता है । ऐलक अपने हाथों में मयूर पखों की बनी पिच्छिका रखता है, क्षुल्लक के लिए पिच्छिका का प्रावधान नियम नही है । क्षुल्लक और ऐलक की शेष क्रियाए समान रहती हैं । दोनो ही उद्विष्ट त्यागी श्रावक कहलाते हैं ।

इस प्रकार दार्शनिक से लेकर उद्दिष्ट त्यागी तक नैष्ठिक श्रावक के ग्यारह भेद हो जाते है । स्त्री पुरुष सभी इन प्रतिमाओं का पालन कर सकते है । पुरुष श्रावक कहलाते है तथा स्त्रिया श्राविका । ग्यारहवी प्रतिमाधारी स्त्रिया क्षुल्लिका कहलाती हैं । वह अपने पास मात्र एक साडी और एक खड वस्त्र रखती हैं, तथा पात्र में ही भोजन करती है । पहली से छठवी प्रतिमा तक के श्रावक जघन्य, सातवी से नवमी तक मध्यम एव दशवी और ग्यारहवी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं । साधक अपनी क्षमताओं को बढाता हुआ ज्यों-ज्यों अपनी साधना मे विकास करता है त्यों त्यों ऊपर की श्रेणियो मे चढता जाता है ।

प्रतिमाओ का उक्त क्रम जिम्मेदारियों का निर्वाह करते हुए क्रमश आगे बढने की दृष्टि से रखा गया है । कोई भी साधक अपने उत्तरदायित्वो का अच्छी तरह निर्वाह करते हुए क्रमश इनका पालन कर कल्याण के पथ मे अग्रसर हो सकता है ।

साधक श्रावक

साधक श्रावक—जीवन के अत में मरणकाल सम्मुख उपस्थित होने पर भोजन-पानादि का त्याग कर विशेष प्रकार की साधनाओ द्वारा सल्लेखनापूर्वक देह त्याग करने वाले श्रावक साधक श्रावक कहलाते है ।[4] सल्लेखना मे क्रमश शरीर और कषायों को कृश किया जाता है । इसका स्वरूप आगे बताया जायेगा ।

शास्त्र से ज्यादा महत्वपूर्ण गुरु है । नाव न भी मिले यदि माझी मिल जाए तो धन्य भाग्य, माझी पार लगाने के कोई न कोई उपाय खोज लेगा । या हो सकता है तैरना सिखा दे, तो तुम खुद ही तैर जाओ इसलिए कोई अनुभवी चाहिए उस किनारे पर पहुचाने वाला ।

1 सा. ध 7/144
2 वसु श्रा 301
3 वसु श्रा 311
4 महा. पु. 149

मुनि आचार

- मुनिव्रत की पात्रता
- कैसे होते है जैन मुनि
- अट्ठाईस मूल गुण
- नग्नता अशिष्टता नही
- साधु के भेद
- आर्यिका

मुनि आचार

जैनाचार का प्रमुख उद्देश्य अनादिकालीन राग-द्वेषादिक विकारों का समूल उच्छेदकर आत्मा की शुद्ध-बुद्ध अवस्था को प्राप्त करना है। इसलिए श्रावक अपने 'श्रावक-धर्म' सबधी नियमों का पालन करता हुआ साधुत्व की ओर कदम बढ़ाता है। आचार्य श्री 'समन्त भद्र' ने एक जैन साधक को चरित्र को ओर अग्रसर होने के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

मोह तिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्त संज्ञान
रागद्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु।[1]

अर्थात् मोहरूपी अंधकार के दूर होने पर साधक जब सत्य दृष्टि और यथार्थ बोध प्राप्त करता है तब वह राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए चरित्र को अगीकार करता है। गृहस्थ देश चरित्र को अंगीकार करता है,जबकि साधु पापों का परिपूर्ण रूप से त्याग कर महाव्रतों को धारण करता है।

जो अपनी आत्मा की उपलब्धि के लिए सतत् साधनारत् रहता है वह साधु है। जैन दर्शन में साधु को मुनि, ऋषि, यति, अनगार, श्रमण, सयत महाव्रती, अचेलक, दिगम्बर, भदन्त, दान्त आदि अनेक नामों से जाना जाता है।[2] जैन धर्मानुसार साधु व्रत का पालन करना अत्यंत दुष्कर है। इसे धारण करना तलवार की धार पर चलने की तरह माना जाता है। यह हर किसी के वश की बात नहीं है। इसीलिए हरेक व्यक्ति को मुनिव्रत धारण करने की अनुमति नहीं दी गयी है।

मुनिव्रत की पात्रता

जैन शास्त्रों में मुनि बनने की पात्रता की चर्चा करते हुए कहा गया है कि "संसार की असारता को अच्छी तरह समझने वाला, वैराग्यवान, प्रकृति से शांत, दृढ़, श्रद्धालु, विनम्र और प्रमाणिक व्यक्ति ही मुनि धर्म अंगीकार करने के अधिकारी हैं।[3] इसके विपरीत हिंसादिक कार्यों में लिप्त, हत्या आदि का अपराधी, समाज व राष्ट्र के हितों में बाधक, देशद्रोही,

1 र क श्रा 47
2 जै जि को. 4/403
3 योगसार अमितगति 8/51

कर्जयुक्त, नपुंसक, व्याधिग्रस्त, पागल, मूढ़ और विषय लोलुपी मनुष्य मुनिव्रत की पात्रता नहीं रखते।" किसी भी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक विकृति से युक्त जाति और कर्म से दूषित, अतिबाल और अतिवृद्ध मनुष्य को भी मुनिव्रत नहीं दिया जाता।[1]

कैसे होते हैं जैन मुनि ?

वैसे तो जैन मुनि का कोई वेश नहीं होता, निर्वेश रहना ही उनका वेश है। किंतु बाहर से जहां कहीं भी जन्म लेने वाले शिशु की तरह यथाजात निर्विकार नग्न मुद्रा दिखाई पड़े, जिनके सिर और दाड़ी-मूंछों के बाल हाथ से उखाड़े गए हों, तथा जिनका शरीर किसी प्रकार से संस्कारित/अलंकृत न हो, मात्र हाथ में मयूर पंखों से निर्मित सुकोमल पिच्छि और काष्ठ निर्मित कमंडलु हो इसके अतिरिक्त तिलतुष मात्र भी न हो, समझ लीजिए वह जैन मुनि है।[2] यह जैन मुनि का बाहरी चिह्न है तथा ममत्व और आरंभ से रहित योग और उपयोग की शुद्धिपूर्वक सब प्रकार से निरपेक्ष और निरीह होकर अपने ज्ञान और ध्यान में लगे रहना यह जैन साधु की भीतरी पहचान है।

अट्ठाइस मूलगुण

उपर्युक्त चिह्नों से भूषित जैन मुनि सतत् अपनी आत्म-साधना में प्रवृत्त रहते हैं। उनका साधना क्रम अत्यंत व्यवस्थित रहता है। इसके लिए जैन मुनियों के अट्ठाईस मूल गुण बताये गये हैं। वे हैं—पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इंद्रिय निरोध, छह आवश्यक, अदन्त धावन, अस्नान भूमिशयन, एक भूक्ति, स्थिति भोजन (खड़े-खड़े भोजन) केशलुंचन और नग्नता।[3] इन अट्ठाईस मूल गुणों का पालन प्रत्येक जैन मुनि को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। इससे उनकी चर्या व्यवस्थित हो जाती है और वे साधना के मार्ग पर बने रहते हैं। ये मूल गुण मुनिव्रत की मूल अर्थात् जड़ हैं। इनका पालन करने पर ही मुनित्व सुरक्षित रह सकता है। इन मूल गुणों की विस्तृत व्याख्या निम्न प्रकार है—

1. **पांच महाव्रत** : हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का प्रतिज्ञापूर्वक पूर्णरूपेण परित्याग करना पांच महाव्रत कहलाता है। अणुव्रतों की अपेक्षा यह व्रत बहुत बड़े हैं। इनका पालन करना अत्यंत कठिन है। उच्च मनोबल वाले महापुरुष ही इनका पालन कर सकते हैं। इसलिए इन्हें महाव्रत कहा जाता है। इसमें अहिंसा आदि का पालन अत्यंत सूक्ष्मता से किया जाता है। आध्यात्मिक जीवन-यात्रा के लिए यह अनिवार्य है।

अहिंसा महाव्रत : जैन मुनि अहिंसा महाव्रत के पालन के लिए सूक्ष्म तथा बादर, त्रस एवं स्थावर सभी जीवों की हिंसा का मन, वचन, काय से त्याग कर देते हैं। इस महाव्रत के धारण करने के बाद स्थावर जीवों में न तो पृथ्वी खोदते हैं, न ही अग्नि सुलगाते और तापते

1. (अ) वही, 8/52
   (ब) आ. सा. 1/11
2. मू. चा. 908
3. प्र. सा. 205-206
4. (अ) वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सय मचेलमण्हाण ।

हैं। कच्चे पानी तथा अग्नि को छूते तक भी नहीं हैं। अपनी सुविधा के लिए बिजली के पंखे, कूलर, हीटर आदि का भी उपयोग नहीं करते। फल-फूल, घास-पात आदि किसी भी प्रकार की वनस्पति का छेदन आदि नहीं करते। यहां तक कि उनका स्पर्श भी नहीं करते हैं। अहिंसा महाव्रत के पालन के लिए वे हरी घासयुक्त भूमि पर भी नहीं चलते। त्रस जीवों के साथ सूक्ष्मतम जीवों का भी घात न हो, इसका ध्यान रखते हुए सावधानीपूर्वक उठते-बैठते हैं। उनकी संवेदनशीलता अत्यंत व्यापक होती है। वे ऐसा कोई भी कार्य नहीं करते जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट पहुंचता हो।

उक्त अहिंसा महाव्रत के ठीक तरह से पालन के लिए जैन मुनि सतत् अपने मन पर नियंत्रण बनाए रखते हैं। वाणी पर भी अंकुश रखते हैं। चलने-फिरने, उठने-बैठने की क्रियाओं में पूर्ण सावधानी बरतते हैं तथा प्राकृतिक प्रकाश में दिन में एक बार ही भोजन (आहार) लेते हैं। ये पांचों अहिंसा व्रत की भावनाएं हैं।[1]

सत्य महाव्रत—सत्य के बिना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। असत्य हिंसा का जनक है। अतः जैन मुनि कभी भी असत्य वचनों का प्रयोग नहीं करते। हमेशा हित, मित और प्रिय वचनों का ही प्रयोग करते हैं। वे निष्ठुर और कर्कश वचनों का प्रयोग न कर सदा निर्दोष, अकर्कश और असंदिग्ध वचन ही बोलते हैं। कषायों से प्रेरित होकर, जानबूझकर अथवा अज्ञानवश प्रयोग किये जाने वाले कठोर वचन दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं। इसी प्रकार वे संदिग्ध अथवा अनिश्चय की दशा में निश्चय वाणी का प्रयोग नहीं करते। पूर्णतया निश्चित हो जाने पर ही निश्चित वाणी बोलते हैं। वे सत्य, मृदु और निर्दोष भाषा ही बोलते हैं तथा सत्य होने पर भी किसी की अवज्ञा सूचक वचनों का प्रयोग नहीं करते, वरन् सम्मान सूचक शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। संक्षेप में कहें तो जैन मुनि विचार व विवेकपूर्वक संयमित सत्य भाषा का ही प्रयोग करते हैं।

क्रोध के आवेग में लोभ, लालच में फंसकर, भयवश एवं हंसी-मजाक में मुख से असत्य वाणी निकलने की संभावनाएं रहती हैं। इसलिए जैन मुनि सत्य महाव्रत की रक्षा के लिए क्रोध, लोभ, भय एवं व्यर्थ की हंसी-मजाक का त्याग करते हैं। तथा सोच-समझकर विवेकपूर्ण वचनों का ही प्रयोग करते हैं। ये पांचों सत्य महाव्रत की भावनाएं हैं।[2]

अचौर्य महाव्रत : अचौर्य महाव्रत को धारण करने वाले जैन मुनि बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करते। वे जल, मिट्टी और तिनके जैसी वस्तु भी बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी समझते हैं। किसी की गिरी हुई, भूली हुई या रखी हुई अल्प या अधिक मूल्य वाली वस्तु को छूना तक निषिद्ध मानते हैं। ग्रामानुग्राम में विहार करते हुए गृह-स्वामी की अनुमति के बिना किसी भवन में विश्राम भी नहीं करते। जिस प्रकार बिना दी हुई वस्तु वे स्वयं ग्रहण नहीं करते उसी प्रकार दूसरों से करवाते भी नहीं हैं तथा करने वालों का समर्थन भी नहीं करते।

अचौर्य महाव्रत की स्थिरता और सुरक्षा के लिए वे जिसमें कोई नहीं रहता ऐसे गिरि, गुफा आदि शून्य घरों में ही आवास करते हैं। दूसरों के द्वारा छोड़े हुए मकान, जिसका कोई

1. त. सू. 7/4
2. त. सू. 7/5

स्वामी न हो अथवा जो मुक्त द्वार हो वही ठहरते हैं। जिस स्थान पर वे ठहरते हैं उसमें निजत्व का भाव नही रखते तथा कोई दूसरा आकर उसमें ठहरना चाहे तो रोकते भी नही हैं। भिक्षावृत्ति का उचित ध्यान रखकर आहार ग्रहण करते हैं। तथा अपने उपकरणों में तेरे-मेरे का भाव न रखकर अन्य साधर्मी साधुओं से विवाद नही करते। यह सब अचौर्य व्रत की भावनाए हैं।[1]

ब्रह्मचर्य महाव्रत—इस महाव्रत का पालन करने वाले जैन मुनि के लिए यौनाकर्षण से मुक्त होना अनिवार्य है। उसके लिए मन, वचन व काय से यौन विकारों का सेवन करने, कराने तथा अनुमोदन का निषेध है। यही नवकोटि ब्रह्मचर्य या नवकोटिशील कहलाता है। यौनाकाक्षा को समस्त अधर्मों का मूल तथा महादोषों का प्रथम स्थान कहा गया है। इससे अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न होते हैं। हिसादिक दोषों एव कलह सघर्ष का जन्म होता है। यह सब समझकर जैन मुनि यौनाकाक्षा पर पूर्ण विजय कर लेते है। वे उन सभी भौतिक एव मानसिक परिस्थितियों से दूर रहते हैं जिनसे किचित् भी कामोद्दीपन की सभावना हो।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की दृढता एव सुरक्षा के लिए वे रागपूर्वक स्त्रियों की चर्चा नही करते, न ही उनमें राग बढाने वाली कथाओं को सुनते हैं। दुर्भावनापूर्वक उनके आगोपागो का अवलोकन भी नही करते। इसी प्रकार पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण भी नही करते तथा गरिष्ठ, उत्तेजक और कामोद्दीपक भोज्य पदार्थो का सेवन एव अपने शरीर के सस्कार का भी त्याग करते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए यही पाच भावनाए हैं।[2]

अपरिग्रह महाव्रत जैन मुनि को परिग्रह का त्याग भी अनिवार्य है। बाह्य पदार्थों का ममत्व मूल्क सग्रह परिग्रह कहलाता है। यह परिग्रह ही हमारे दुख का मूल कारण है। मनुष्य की सारी दौड-धूप परिग्रह के अर्जन, रक्षण और सवर्धन के लिए होती है। बाह्य पदार्थों के प्रति होने वाली आसक्ति ही हमारी अशाति का मूल कारण है। मनुष्य यदि अपने पास तिलतुष मात्र भी कुछ रखता है तो उसके प्रति आसक्ति से रहित नही हो सकता। जिस प्रकार हमारे शरीर में लगी हुई एक छोटी-सी फास भी हमारे लिए कष्टकर होती है उसी तरह एक छोटी-सी लगोटी की चाहत भी कैसे पूरे ससार की सृष्टि कर देती है इससे हम पूरी तरह परिचित हैं। इसलिए कहा भी है—

फास तनिक सी तन में साले, चाह लगोटी की दुख भाले।

इसलिए पूर्णतया निर्द्वन्द और अकिचन रहकर विचरण करने वाले जैन मुनि अपने पास तिलतुष मात्र भी परिग्रह नही रखते। वे अपने शरीर से ममत्व छोडकर नग्न दिगम्बर रूप धारण करते हैं। मात्र अपने सयम की रक्षा के लिए मयूर पखों की बनी पिच्छिका तथा काष्ठ का एक कमडल रखते हैं। जरूरत पडने पर धर्म ग्रथ भी किसी के द्वारा दिए जाने पर रख लेते हैं। इस प्रकार ज्ञान एव सयम की रक्षा के लिए जो कुछ भी अल्पतम उपकरण वे ग्रहण करते हैं, उन पर भी उनका ममत्व नही होता। उनके खो जाने या नष्ट हो जाने पर भी उन्हें शोक नही होता। वे अपने शरीर की तरह इन उपकरणों के प्रति भी अनासक्त रहते हैं। मात्र सयम के साधन के रूप में उनका उपयोग करते हैं। आसक्ति ही हमारी आतरिक ग्रथि है। इस ग्रथि के छिद जाने के कारण जैन मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

1 त. सू. 7/6
2 त. सू. 7/7

संसार में अनेक प्रकार के विषय हैं। उनमें से कुछ मनोज्ञ अर्थात् मन को प्रिय लगने वाले हैं तथा कुछ अमनोज्ञ अर्थात् मन को अरुचिकर लगने वाले पदार्थ हैं। मनोज्ञ विषयों के प्राप्त होने पर राग बढ़ता है तथा अमनोज्ञ विषयों के मिलने पर द्वेष बढ़ता है, इस राग-द्वेष के कारण ही उनके संचय और त्याग की भावना आती है। इसलिए जैन मुनि अपरिग्रह महाव्रत की रक्षा के लिए मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द रूप पांचों इंद्रियों के विषयों में राग-द्वेष का त्याग कर देते हैं जिससे कि उनके ग्रहण और त्याग का विकल्प समाप्त हो जाता है तथा अपरिग्रह महाव्रत की रक्षा होती रहती है। अपरिग्रह महाव्रत की उक्त पांचों भावनाएं हैं।[1]

पांच समिति : समिति का अर्थ प्रवृत्तिगत सावधानी है। यह हम पहले पढ़ चुके हैं। जैन मुनि प्राकृतिक प्रकाश में चार हाथ भूमि को देखकर शुद्ध और निर्जन्तुक भूमि में ही विहार करते हैं। यह उनकी 'ईर्या समिति' है। वे निंदा व चापलूसी आदि दूषित भाषाओं को त्यागकर सदैव संयत, नपी-तुली, सत्यप्रिय और हितकारी वाणी का ही प्रयोग करते हैं। यह उनकी 'भाषा समिति' है। वे दिन में एक बार सदाचारी श्रावक के यहां शुद्ध और सात्विक आहार लोभरहित भिक्षावृत्ति से छियालीस दोषों को टालकर ग्रहण करते हैं। यह 'एषणा' समिति है। ज्ञान और संयम की रक्षा के लिए वे जो कुछ भी उपकरण अपने पास रखते हैं उनको उठाने रखने में पूर्ण सावधानी रखते हैं, किसी भी वस्तु को उठाने-रखने से पूर्व उस स्थान का निरीक्षण कर कोमल पिच्छिका से परिमार्जित करते हैं। यह उनकी 'आदान निक्षेपण' समिति है। अपने मलमूत्र का त्याग दूर एकांत विस्तृत, सूखे एवं जन्तुरहित ऐसे स्थान पर करते हैं जहां किसी को आपत्ति न हो। 'व्युत्सर्ग' समिति का यही स्वरूप है।

पंचेन्द्रिय रोध : जैन मुनि चक्षु आदि पांचों इंद्रियों पर नियंत्रण रखते हैं तथा इंद्रिय विषयों की ओर आकर्षित होकर इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष नहीं करते। यह पांच इंद्रिय निरोध नामक मूल गुण है।

छह आवश्यक : वे सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग रूप छह आवश्यकों का पालन करते हैं। यह छह कार्य उन्हें अवश्य करना होता है। इसलिए इन्हें आवश्यक कहते हैं।

सम की आय करना अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति समता धारण कर आत्मकेंद्रित होना 'सामायिक' है। इसे समता भी कहते हैं। जैन मुनि समस्त राग-द्वेष, मोह आदि विकारी भावों से दूर होकर लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, कांच-कंचन तथा जीवन-मरण सब में समभाव धारण कर सभी प्रकार की पापात्मक प्रवृत्तियों से दूर हो जाते हैं। यह समता ही साधुत्व का कवच है। चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन करना 'स्तुति' है। अरहंत, सिद्धों की प्रतिमा को एवं आचार्यादि को मन, वचन, काय से प्रणाम करना 'वंदना' है। स्तुति और वंदना से तीर्थंकरों के गुणों का चिंतन होता है। इससे आत्म-परिणामों में विशुद्धि आती है। स्वकृत अपराधों का स्वीकृतिपूर्वक शोधन करना 'प्रतिक्रमण' है। प्रतिक्रमण का तात्पर्य है—'पीछे हटना'। किसी

1. त. सू. 7/9

दोष के हो जाने पर जैन मुनि आत्म निंदापूर्वक उस दोष को निःसंकोच स्वीकार कर पुनः विशुद्ध चारित्र धारण कर लेते हैं। भविष्य में लग सकने वाले दोषों से बचने के लिए अयोग्य वस्तुओं का त्याग करना 'प्रत्याख्यान' है। शरीर के ममत्व का त्यागकर पंचपरमेष्ठियों का स्मरण करना अथवा आत्मस्वरूप में लीन होना 'कायोत्सर्ग' है।

जैन मुनि प्रतिदिन दोनों समय अर्थात् दिन व रात्रि में इन्हें अवश्य करते हैं। सामायिक आदि जैन मुनि के नित्यकर्म हैं।

अस्नान : शरीर से ममत्व रहित होने के कारण वे स्नान भी नहीं करते हैं, न ही किसी प्रकार से अपने शरीर का संस्कार करते हैं। इतना होने पर भी उनके शरीर से किसी प्रकार की दुर्गंध नहीं आती क्योंकि दिगम्बर मुद्रा होने के कारण वायु और धूप से उनके शरीर की शुद्धि होती रहती है।

अदन्तधावन : वे दातौन, मंजन आदि से दन्त धावन भी नहीं करते। भोजन करने के समय ही गृहस्थ के यहां मुख शुद्धि कर लेते हैं।

भू-शयन—जैन मुनि गद्दे, तकिया अथवा अन्य किसी प्रकार की शय्या पर शयन नहीं करते अपितु अपने स्वाध्याय, ध्यान एवं 'पद' विहार जन्य थकान को दूर करने के लिए भूमि, शिला, लकड़ी के पाटे, सूखे घास एवं चटाई आदि पर ही विश्राम करते हैं।

स्थिति भोजन—एक भुक्ति : वे भोजन खड़े होकर लेते हैं, वह भी दिन में एक ही बार। जैन मुनि शरीर को एक गाड़ी की तरह समझते हैं। उसके सहारे ही वे अपनी संयम यात्रा को पूर्ण करते हैं। जिस प्रकार गाड़ी को चलाने के लिए उसमें तेल डालना जरूरी है उसी प्रकार शरीर रूपी गाड़ी को चलाने के लिए वे चौबीस घंटे में एक बार खड़े-खड़े अपने हाथों को ही पात्र बनाकर गोचरी वृत्ति से आहार करते हैं। गाय जिस प्रकार घास डालने वाले व्यक्ति पर थोड़ी भी नजर न डालकर अपने आहार को लेती है, उसी प्रकार जैन मुनि देवांगनाओं के समान सुन्दरियों के द्वारा भी भक्तिपूर्वक आहार देने पर निर्मल मनोवृत्ति से भोजन करते हैं। उनकी आहार चर्या को भ्रामरी वृत्ति भी कहते हैं। जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों को पीड़ा पहुंचाए बिना उसके रस को ग्रहण करता है, उसी प्रकार वे भी गृहस्थ के यहां अपने लिए बनाया गया रूखा-सूखा, सरस-विरस, जैसा भी भोजन मिलता है, शांतभावपूर्वक ग्रहण करते हैं। उससे गृहस्थों को किंचित् भी कष्ट नही होता, अपितु जैसे भ्रमरों के मधुर गुंजार से फूल और भी अधिक खिल उठते हैं उसी प्रकार सत् पात्र का लाभ होने से गृहस्थ का हृदय कमल भी खिल उठता है।

वह आहार दान की इन घड़ियों को अपने जीवन की सुनहरी घड़ियों में गिनता है, क्योंकि साधु को आहार देने से उसके गृहस्थी के कार्यों से अर्जित समस्त पाप धुल जाते हैं। जैन मुनि दीनतापूर्वक आहार नहीं लेते। गृहस्थ जब श्रद्धा-भक्ति आदि गुणों से युक्त होकर पूर्वकथित 'नवधा भक्ति' पूर्वक उन्हें आहार करने का निवेदन करता है तब वे शुद्ध सात्विक अपनी तपश्चर्य में सहायक आहार, खड़े होकर अपने कर पात्र में ही ग्रहण करते हैं। भोजन के काल में वे किसी भी प्रकार की याचना नहीं करते, बल्कि जिस प्रकार मकान में आग लग जाने पर जिस किसी प्रकार के जल से उसे बुझाने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ द्वारा दी जाने वाली सरस-विरस जिस किसी प्रकार के भोजन को भी समतापूर्वक ग्रहण कर अपने पेट की अग्नि बुझाने का प्रयास करते हैं।

केशलोंच : अपने हाथों से अपने बालों को उखाड़ना केशलोंच कहलाता है। वे दो माह से चार माह के भीतर अपने हाथों से सिर और दाढ़ी-मूंछ के बाल उखाड़कर केशलोंच करते हैं। केशलोंच करने का उद्देश्य शरीर के प्रति निर्ममत्व एवं स्वाधीनता की भावना को बल पहुंचाना है। बाल (केश) बढ़ाकर रखने पर उनमें जुएं, लीख आदि जन्तु हो जाते हैं। नाई आदि से कटवाने पर दूसरों से याचना करने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिए जैन मुनि अपने ही हाथों से अपने बालों को उखाड़कर अलग कर देते हैं। इस क्रिया से शरीर से निर्ममत्व तो होता ही है, खरे-खोटे साधु की पहचान भी हो जाती है। जो लोग वैराग्य से प्रेरित न होकर अन्य किसी उद्देश्य से मुनिधर्म को अंगीकार करते हैं, वे केशलोंच जैसे कठिन कर्म से घबराकर दूर हो जाते हैं। ऐसा करने से पाखंडियों से साधु संघ का बचाव हो जाता है।

नग्नता अशिष्टता नहीं

जैन मुनि किसी प्रकार का वस्त्र/आवरण अपने शरीर पर नहीं डालते। वे दिशाओं को ही अपना वस्त्र बना नग्न दिगम्बर रूप धारण करते हैं। कुछ लोग उनकी इस नग्नता को अशिष्टता एवं असभ्यता मानते हैं। लेकिन नग्नता अशिष्टता नहीं है। यह तो मनुष्य की आदर्श स्थिति है। मनुष्य का प्राकृतिक रूप ही दिगम्बर है। वस्त्र तो विकारों को ढांकने का साधन है। जैसे जन्म लेते समय बालक नग्न रहता है उस क्षण उसके अन्तस में किसी प्रकार का विकार नहीं रहता तथा उसे देखने वालों के मन में भी कोई ग्लानि या घृणा का भाव नहीं आता। जैसे-जैसे उसके अन्दर विकार आने लगते हैं, वह वस्त्र धारण करने लगता है। जैन मुनि अपने वस्त्रों का परित्याग कर अपनी प्राकृतिक अवस्था की ओर लौट आते हैं। उनकी स्थिति यथाजात बालक की तरह निर्विकार रहती है। अतः इसमें अशिष्टता या असभ्यता जैसी कोई बात ही नहीं है। वस्तुतः किसी बाह्य रूप या क्रिया की शिष्टता एवं अशिष्टता का निर्णय भीतरी प्रयोजन की निर्मलता या अपवित्रता पर निर्भर करता है। आंतरिक प्रयोजन के मलिन होने पर ही उसकी प्रेरणा से किया गया कार्य अशिष्टता के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार दिगम्बरत्व तो विकारों पर विजय पाने का वैज्ञानिक साधन है। दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा में गांधी जी के निम्न वाक्य दृष्टव्य हैं, वे लिखते हैं—[1]

"वास्तव में देखा जाए तो कुदरत ने चर्म के रूप में मनुष्य को योग्य पोशाक पहनाई है। नग्न शरीर कुरूप दिखाई पड़ता है, ऐसा मानना हमारा भ्रम मात्र है। उत्तम से उत्तम सौन्दर्य के चित्र तो नग्नावस्था में ही दिखाई पड़ते हैं। पोषाक से साधारण अंगों को ढांककर मानो हम कुदरत के दोषों को दिखा रहे हैं। जैसे-जैसे हमारे पास ज्यादा पैसे होते जाते हैं, वैसे-वैसे ही हम सजावट बढ़ाते जाते हैं। कोई किसी भांति रूपवान बनना चाहता है, और बन-ठनकर कांच में मुंह देखकर प्रसन्न होते हैं कि 'वाह मैं कैसा खूबसूरत हूं'। बहुत दिनों के ऐसे अभ्यास के कारण हमारी दृष्टि खराब न हो गई हो तो हम तुरन्त ही देख सकेंगे कि मनुष्य का उत्तम से उत्तम रूप उसकी नग्नावस्था में ही है और उसी में उसका आरोग्य है।"

विदेशी विद्वान् श्रीमती स्टीवेन्सन ने अपनी पुस्तक 'The Heart of Jainism' के पृष्ठ

1. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पर उद्धृत, पृ. 10

क्रमांक 35 में दिगम्बरत्व को निश्चिन्तता का साधन बताते हुए लिखती हैं—"वस्त्रों से विमुक्त रहने के कारण मनुष्य के पास अन्य चिंताएं नहीं रहती हैं। उसे कपड़े धोने के लिए पानी की भी जरूरत नहीं पड़ती है। निर्ग्रंथ लोगों ने/दिगम्बर जैन मुनियों ने पाप-पुण्य, भले-बूरे का भेद-भाव मिटा दिया है। वे भला अपने विकारों को छुपाने के लिए वस्त्रों को क्यों धारण करें।"[1]

इतिहासातीत काल से आज तक दिगम्बर जैन साधुओं का प्रतिष्ठापूर्वक विहार होता रहा है। यहां तक कि मुगलकाल में भी जैन मुनियों ने सम्मानपूर्वक विहार कर अपने अमृतोपदेश से इस धरावासियों को उपकृत किया है।[2] प्रो. आयंगर ने लिखा है कि "जैन आचार्य अपनी चारित्र सिद्धियों एवं ज्ञान के कारण अलाउद्दीन और औरंगजेब जैसे बादशाहों से भी वंदित थे।"[3] औरंगजेब के समय में भारत आने वाले डा. वर्नियर ने लिखा कि "मुझे बहुधा देशी रियासतों में दिगम्बर मुनियों का समुदाय मिलता था। मैंने उन्हें बडे शहरों में पूर्णतया नग्न विहार करते हुए देखा है तथा उनकी ओर स्त्रियों तथा लड़कियों को बिना किसी विकार युक्त दृष्टिपात करते हुए ही देखा है। उन महिलाओं के अंतःकरण में वे ही भाव होते थे जो सड़क पर से जाते हुए किसी साधु के देखने पर होते हैं। महिलाएं भक्तिपूर्वक उनको बहुधा आहार कराती थीं।"

इतना ही नहीं उस काल में जैन मुनियों का सबसे अधिक सम्मान था। वे सर्वत्र आ-जा सकते थे। इस बात को बताते हुए एक अन्य विद्वान् 'मेक क्रिण्डल' लिखते हैं—"दिगम्बर विहार करने वाले यह जैन मुनि कष्टों की परवाह नहीं करते थे। वे सबसे अधिक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रत्येक धनी व्यक्ति का घर उनके लिए उन्मुक्त था। यहा तक कि वे अंतःपुर में भी जा सकते थे।"[4]

1. Being rad of clothes is also rid a lot of other worries. No water is needed in which to wash them. The Nirgranths have forgotton all Knowledge of good and evel why should they require clothes to hide their nakedness. —**Heart of Jainism, Page 35**
2. देखें दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, पृ. 55-60
3. The Jain Achryas by their charactor attainments and scholarship commanded the respect of even Muhammadan Sovureigns like Allauddin and Aurangzeb Badushah.

– Iyengar's Studies in South Indian Jainism, Part II, Page 132

देखें जैन शासन, पृ. 126

I have often met generally in the terretory of some Raja bands of these naked fakirs. I have seen them walk stark naked through a large town, women and girls looking at them without any more emotion thn may be created, when a hermit passes through out streets femaks often bring them alms with much devotion Doubtless believing that they were holy personages more chaste and discret then other men.

—Berrier Travels in the Mugnl Empire, Page 317

—देखें दि. और दि. मुनि, पृ. 156

4. These men (Jain Saints) went about naked innured themselves to hardships and were hold in highest honour. Every weathy house is open them even to the apartments of the women.

—Mc. Crindle's Aacient India, Page 71-72

—देखें जैन शासन, पृ. 112

इससे स्पष्ट है कि दिगम्बर जैन मुनियों को यह सम्मान उनकी निर्विकारता और तपस्विता के प्रभाव से ही मिलता था। यदि यह असभ्यता या अशिष्टता का प्रतीक होता तो उन्हें उस काल में इतन० सम्मान मिलना नामुमकिन था।

यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शरीर का दिगम्बरत्व स्वयं साध्य नहीं साधन है। दिगम्बरत्व के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती है। इस बात को बताते हुए आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने जहां एक ओर कहा है कि—

"णग्गो हि मोक्ख मग्गो सेसा उम्मग्ग गया सव्वे"

अर्थात् दिगम्बर रूप ही मोक्षमार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं।[1] वहीं यह भी लिखा है कि शारीरिक दिगम्बरत्व के साथ-साथ मानसिक दिगम्बरत्व भी अनिवार्य है। तन नंगा होने के साथ-साथ मन का नंगा होना भी आत्मसाधना के लिए अनिवार्य है। यदि शरीर की नग्नता साधन न होकर स्वयं साध्य होती तो जन्म से ही दिगम्बर रहने वाले पशु-पक्षी आदि सभी प्राणियों को कभी की ही मुक्ति मिल गयी होती।[2]

इस प्रकार इन अट्ठाईस मूल गुणों का सम्यक् रूप से पालन करने वाले साधक ही आदर्श जैन मुनि कहलाते हैं। इसके बिना शरीर मात्र से नग्न स्वच्छन्द आचरण करने वाले किसी अन्य नामधारी साधु को जैन मुनि नहीं माना जा सकता। उक्त 28 मूलगुण ऐसे व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक नियम हैं जो एक व्यक्ति को सच्चा साधु बना देते हैं। यह नियम ही दिगम्बर जैन परम्परा को बांधे हुए है। यदि उक्त वैज्ञानिक नियम प्रवाह जैन धर्म में न होता तो अन्य नग्न साधुओं की तरह दिगम्बर जैन साधुओं में भी बहुत-सी विकृतियां आ गयी होतीं तथा उनके दर्शन दुर्लभ हो जाते।

उक्त 28 मूल गुणों के अतिरिक्त जैन मुनि पूर्वकथित दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा बाईस परिषह जय, तीन गुप्तियां तथा बारह प्रकार के तप आदि संवर और निर्जरा के अंगभूत साधनों को भी अपनाते हैं।

साधु के भेद

जैन मुनियों के अलग-अलग कर्त्तव्यों की अपेक्षा आचार्य, उपाध्याय और साधु रूप के तीन भेद किए गए हैं। तीनों अपने-अपने पद के अनुरूप मुनिव्रत का पालन करते हैं।

आचार्य—आचार्य का पद जैन मुनियों में सर्वोच्च पद होता है। वे मुनि धर्म संबंधी आचरण का स्वयं पालन करते हैं तथा अन्यों से भी वैसा आचरण कराते हैं। वे धर्मोपदेश देकर मुमुक्षुओं का संग्रह करते हैं तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा पूर्ण कराकर उनका अनुग्रह भी करते हैं। आचार्य जैन मुनियों के गुरु कहलाते हैं।

उपाध्याय : उपाध्याय साधुओं के नियम पालते हुए संघ में पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन का कार्य करवाते हैं।

साधु : जो मात्र उपर्युक्त 28 मूल गुणों का पालन करते हुए ज्ञान-ध्यान में लीन रहते

1. सू. पा. 23
2. भा. गा. 67

हैं वे साधु कहलाते हैं।

इस प्रकार जैन मुनि स्व पर का हित करते हुए साधनारत् रहते हैं, तथा जीवन के अन्त में सल्लेखनापूर्वक देहोत्सर्ग करते हैं।

आर्यिका

पुरुषों की तरह स्त्रियां भी उत्कृष्ट संयम धारण कर मोक्ष मार्ग में अग्रसर हो सकती हैं। उत्कृष्ट संयम धारण करने वाली स्त्रियां आर्यिका कहलाती हैं। आर्यिकाओं का समस्त आचार प्रायः मुनियों के समान ही होता है। अन्तर मात्र इतना है कि पर्यायगत मर्यादा के कारण आर्यिकाएं मुनियों की तरह निर्वस्त्र नहीं रहतीं अपितु अपने शरीर पर एक सफेद साड़ी धारण करती हैं। उसी तरह मुनियों की भांति खड़े होकर आहार करने की अपेक्षा बैठकर ही अपनी अंजुलि पुटों में आहार करती हैं। आर्यिकाएं दो-तीन आदि आर्यिकाओं के समूह में रहती हैं। इनकी प्रधान गणनी कहलाती है जिनके निर्देशन में ये अपने संयम का अनुपालन करती हैं। इनके महाव्रतों को औपचारिक महाव्रत कहा जाता है। आर्यिकाएं क्षुल्लक, ऐलक से उच्च श्रेणी की मानी गयी हैं।

संत तो पक्षियों की भांति होते हैं, उड़ते अनन्त आकाश में हैं, और पदचिन्ह पृथ्वी पर छोड़ते जाते हैं। संतों से लोग अज्ञान हैं। पक्षी दाना चुगने आता है इसलिए उसके पदचिन्ह बनते हैं और संत करुणाबुद्धि से उपदेश देने तथा आहार हेतु आते हैं इसलिए उनके चरण चिन्ह बनते हैं। यदि संत की आहार-विहार की क्रिया बंद हो जाए तो गृहस्थों का जीवन अंधकारमय हो जाएगा। इसलिए संतों का रहना, और आना-जाना मंगलकारी है।

सुख को कितने ही आश्वासन हों पर मिलता दुख ही है। सुख की कितनी ही योजनाएं हों पर मिलता दुख ही है। बस तुम्हारी कामना वैसी है जैसे कोई पानी को साफकर पीने की चेष्टा कर रहा है।

आदर्श स्थिति

- मनुष्य मात्र की आदर्श स्थिति दिगम्बर ही है। मुझे स्वयं नग्नावस्था प्रिय है।

—महात्मा गांधी

- सबसे उच्च पद जो कि मनुष्य धारण कर सकता है, वह दिगम्बर मुनि का पद है। इस अवस्था में मनुष्य साधारण मनुष्य न रहकर अपने ध्यान के बल से परमात्मा का मानो अंश हो जाता है।

ए. डुबोई
"—दिगम्बरत्व व दिगम्बर मुनि" से

सल्लेखना

- सल्लेखना का उद्देश्य
- क्या है सल्लेखना ?
- सल्लेखना आत्माघात नहीं
- सल्लेखना का महत्त्व
- सल्लेखना की विधि
- सल्लेखना के अतिचार

सल्लेखना

सल्लेखना का उद्देश्य

सूरज और चांद के उदय और अस्त होने की तरह जन्म और मृत्यु प्रकृति के शाश्वत नियम हैं। जन्म लेने वाले का मरण सुनिश्चित है। संसार में कोई व्यक्ति अमर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को मरना पड़ता है। इस मृत्यु से अपरिचित रहने के कारण व्यक्ति उसके नाम से ही डरते हैं। उससे बचने के अनेक उपाय करते हैं। किन्तु बड़ी-बड़ी औषधि, चिकित्सा, मन्त्र-तन्त्र आदि का प्रयोग करने के बाद भी कोई बच नहीं सकता। बड़े-बड़े महाबली योद्धाओं का बल भी इस कालबली के सामने निरर्थक सिद्ध होता है, और एक दिन सभी इस काल के गाल में समाकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देते हैं। आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता को समझने वाला जैन साधक मृत्यु के कारण उपस्थित होने पर भी उनसे घबराता नहीं है, अपितु उसके स्वागत में मृत्यु को भी मृत्यु-महोत्सव में बदल देता है। वह यह सोचता है कि मरने से तो कोई बच नहीं सकता, चाहे वह राजा हो या रंक, पंडित हो या मूर्ख, धनी हो या निर्धन, सभी को मरना है। यदि मैं प्रसन्नतापूर्वक मरता हूं, तो भी मुझे मरना है और यदि विषादपूर्वक मरता हूं तो भी मुझे मरना है। जब सब परिस्थितियों में मरण अनिवार्य और अपरिहार्य है तो मैं ऐसे क्यों न मरूं कि मेरा सुमरण हो जाए। इस मरण का ही मरण हो जाए। यह सोचकर वह सल्लेखना या समाधिमरण धारण कर लेता है।

क्या है सल्लेखना ?

'सल्लेखना' (सत् + लेखना) अर्थात् अच्छी तरह से काया और कषायों को कृश करने को 'सल्लेखना' कहते हैं।[1] इसे ही समाधिमरण भी कहते हैं। मरणकाल समुपस्थित होने पर सभी प्रकार के विषाद को छोड़कर समतापूर्वक देह त्याग करना ही समाधिमरण या सल्लेखना है। जैन साधक मानव-शरीर को अपनी साधना का साधन मानते हुए, जीवनपर्यन्त उसका अपेक्षित रक्षण करता है, किन्तु अत्यधिक दुर्बलता अथवा मरण के अन्य कोई कारण उपस्थित होने पर जब शरीर उसके संयम में साधक न होकर बाधक दिखने लगता है, उसे अपना शरीर अपने लिए ही भार भूत-सा प्रतीत होने लगता है, तब वह सोचता है कि यह शरीर तो मैं कई बार प्राप्त कर चुका हूं। इसके विनष्ट होने पर भी यह पुनः मिल सकता है। शरीर के छूट जाने पर मेरा कुछ भी नष्ट नहीं होगा, किन्तु जो व्रत, संयम और धर्म मैंने धारण

---

1. सर्वा. सि. 7/22, पृ. 280 सम्यक् काय कषाय लेखना सल्लेखना।

किए हैं यह मेरे जीवन की अमूल्य निधि है। बड़ी दुर्लभता से इन्हें मैंने प्राप्त किया है। इनकी मुझे सुरक्षा करनी चाहिए। इन पर किसी प्रकार की आंच न आए ऐसे प्रयास मुझे करना चाहिए, ताकि मुझे बार-बार शरीर धारण न करना पड़े और मैं अपने अभीष्ट सुख को प्राप्त कर सकूं।[1] यह सोचकर वह बिना किसी विषाद के (चित्त की प्रसन्नतापूर्वक) आत्मचिन्तन के साथ आहारादिक का क्रमशः परित्याग कर देहोत्सर्ग करने को उत्सुक होता है, इसी का नाम 'सल्लेखना' है।

सल्लेखना आत्मघात नहीं

देह त्याग की इस प्रक्रिया को नहीं समझ पाने के कारण कुछ लोग इसे आत्मघात कहते हैं, किन्तु सल्लेखना आत्मघात नहीं है। जैन धर्म में आत्मघात को पाप, हिंसा एवं आत्मा का अहितकारी कहा गया है। यह ठीक है कि आत्मघात और सल्लेखा दोनों में प्राणों का विमोचन होता है, पर दोनों की मनोवृत्ति में महान् अन्तर है। आत्मघात जीवन के प्रति अत्यधिक निराशा एवं तीव्र मानसिक असन्तुलन की स्थिति में किया जाता है, जबकि सल्लेखना परम उत्साह से सम भाव धारण कर की जाती है। आत्मघात कषायों से प्रेरित होकर किया जाता है, तो सल्लेखना का मूलाधार समता है। आत्मघाती को आत्मा की अविनश्वरता का भान नहीं होता, वह तो दीपक के बुझ जाने की तरह शरीर के विनाश को ही जीवन की मुक्ति समझता है, जबकि सल्लेखना का प्रमुख आधार आत्मा की अमरता को समझकर अपनी परलोक यात्रा को सुधारना है। सल्लेखना जीवन के अन्त समय में शरीर की अत्यधिक निर्बलता, अनुपयुक्तता, भार-भूतता अथवा मरण के किसी अन्य कारण के आने पर मृत्यु को अपरिहार्य मानकर की जाती है; जबकि आत्मघात जीवन के किसी भी क्षण किया जा सकता है। आत्मघाती के परिणामों में दीनता, भीति और उदासी पायी जाती है; तो सल्लेखना में परम उत्साह, निर्भीकता और वीरता का सद्भाव पाया जाता है। आत्मघात विकृत चित्तवृत्ति का परिणाम है; तो सल्लेखना निर्विकार मानसिकता का फल है। आत्मघात में जहां मरने का लक्ष्य है; तो सल्लेखना के ध्येय मरण के योग्य परिस्थिति निर्मित होने पर अपने सद्गुणों की रक्षा का है, अपने जीवन के निर्माण का है। एक का लक्ष्य अपने जीवन को बिगाड़ना है तो दूसरे का लक्ष्य जीवन को संवारने/संभालने का है।

आचार्य श्री 'पूज्यपाद' स्वामी ने सर्वार्थ सिद्धि में एक उदाहरण से इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—किसी गृहस्थ के घर में बहुमूल्य वस्तु रखी हो और कदाचित् भीषण अग्नि से वह जलने लगे तो वह येन-केन-प्रकारेण उसे बुझाने का प्रयास करता है। पर हर संभव प्रयास के बाद भी जब आग बेकाबू होकर बढ़ती ही जाती है, तो उस विषम परिस्थिति में वह चतुर व्यक्ति अपने मकान का ममत्व छोड़कर बहुमूल्य वस्तुओं को बचाने में लग जाता है। उस गृहस्थ को मकान का विध्वंसक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसने तो

1. (अ) भ. आ. पृ. 71-74
   (ब) र. क. श्रावकाचार 122
   (स) स. त. वा. 7/21/11

अपनी ओर से रक्षा करने की पूरी कोशिश की, किंतु जब रक्षा असंभव हो गयी तो एक कुशल व्यक्ति के नाते बहुमूल्य वस्तुओं का संरक्षण करना ही उसका कर्त्तव्य बनता है। इसी प्रकार रोगादिकों से आक्रांत होने पर एकदम से सल्लेखना नहीं ली जाती। वह तो शरीर को अपनी साधना का विशेष साधन समझ यथासंभव उसका योग्य उपचार/प्रतिकार करता है, किंतु पूरी कोशिश करने पर भी जब वह असाध्य दिखता है और वह निःप्रतिकार प्रतीत होता है तो उस विषम परिस्थिति में मृत्यु को अवश्यम्भावी जानकर अपने व्रतों की रक्षा में उद्यत हो, समभावपूर्वक मृत्युराज के स्वागत में तैयार हो जाता है।[1]

सल्लेखना को आत्मघात नहीं कहा जा सकता। यह तो देहोत्सर्ग की तर्कसंगत और वैज्ञानिक पद्धति है, जिससे अमरत्व की उपलब्धि होती है। सल्लेखना की इसी युक्तियुक्तता एवं वैज्ञानिकता से प्रभावित होकर बीसवीं शताब्दी के विख्यात संत 'विनोबा भावे' ने जैनों की इस साधना को अपनाकर सल्लेखनापूर्वक देहोत्सर्ग किया था।

सल्लेखना का महत्त्व

सल्लेखना को साधक की अंतःक्रिया कहा गया है। अंतक्रिया यानि मृत्यु के समय की क्रिया को सुधारना अर्थात् काय और कषाय को कृश करके संन्यास धारण करना, यही जीवन-भर के तप का फल है।[2] जिस प्रकार वर्ष-भर विद्यालय में जाकर विद्या-अध्ययन करने वाला विद्यार्थी, यदि परीक्षा के वक्त विद्यालय नहीं जाता, तो उसकी वर्ष-भर की पढ़ाई निरर्थक रह जाती है। उसी प्रकार जीवन-भर साधना करते रहने के उपरांत भी यदि सल्लेखनापूर्वक मरण नहीं हो पाता तो उसका वांछित फल नहीं मिल पाता। इसलिए प्रत्येक साधक को सल्लेखना जरूर स जरूर करनी चाहिए। मुनि और श्रावक दोनों के लिए सल्लेखना अनिवार्य है।[3] यथाशक्ति इसके लिए प्रयास करना चाहिए। जिस प्रकार युद्ध का अभ्यासी पुरुष रणांगन में सफलता प्राप्त करता है उसी प्रकार पूर्व में किए गए अभ्यास के बल से ही सल्लेखना सफल हो पाती है।[4] अतः जब तक इस भव का अभाव नहीं होता तब तक हमें प्रति समय 'समतापूर्वक मरण हों' इस प्रकार का भव्व और पुरुषार्थ करना चाहिए। वस्तुतः सल्लेखना के बिना साधना अधूरी है। जिस प्रकार किसी मंदिर के निर्माण के बाद जब तब उस पर कलशारोहण नहीं होता, तब तक वह शोभास्पद नहीं लगता; उसी प्रकार जीवन-भर की साधना, सल्लेखना के बिना अधूरी रह जाती है। सल्लेखना साधाना के मंडप में किया जाने वाला कलशारोहण है।

सल्लेखना की विधि

सल्लेखना या समाधि का अर्थ एक साथ सब प्रकार के खान-पान का त्याग करके बैठ जाना

1. सर्वा. सि. 7/22
2. अन्तः क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
   तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यं ॥ र. क. श्रा. 123
3. मारणान्तिकीं सल्लेखना जोषिता। त. सू. 7/22
4. भग. आ. मू. 20-21

नहीं है। अपितु उसका एक निश्चित क्रम है। उस क्रम का ध्यान रखकर ही सल्लेखना करनी/करानी चाहिए। इसका ध्यान रखे बिना एक साथ ही सब प्रकार के खान-पान का त्याग करा देने से साधक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। कभी-कभी तो उसे अपने लक्ष्य से च्युत भी हो जाना पड़ता है। अतः साधक को किसी भी प्रकार की आकुलता न हो और वह क्रमशः अपनी काया और कषायों को कृश करता हुआ, देहोत्सर्ग की दिशा में आगे बढ़े, इसका ध्यान रखकर ही सल्लेखना की विधि बनायी गयी है।

सल्लेखना की विधि में सर्वप्रथम, कषायों को कृश करने का उपाय बताते हुए कहा गया है कि साधक को सर्वप्रथम अपने कुटुम्बियों, परिजनों एवं मित्रों से स्नेह, अपने शत्रुओं से बैर तथा सब प्रकार के बाह्य पदार्थों से ममत्व का शुद्ध मन से त्यागकर, मिष्ट वचनों के साथ अपने स्वजनों और परिजनों से क्षमा याचना करनी चाहिए तथा अपनी ओर से भी उन्हें क्षमा करनी चाहिए। उसके बाद किसी योग्य गुरु (निर्यापकाचार्य) के पास जाकर कृत कारितानुमोदना से किए गए सब प्रकार के पापों की छलरहित आलोचना कर, मरणपर्यन्त के लिए महाव्रतों को धारण करना चाहिए। (यदि गृहस्थ हो तो) उसके साथ ही उसे सब प्रकार के शोक, भय, संताप, खेद, विषाद, कालुष्य, अरति आदि अशुभ भावों को त्याग कर अपने बल, वीर्य, साहस और उत्साह को बढ़ाते हुए गुरुओं के द्वारा सुनाई जाने वाली अमृत-वाणी से अपने मन को प्रसन्न रखना चाहिए। कषाय सल्लेखना का यह संक्षिप्त रूप है। इसका विशेष कथन ग्रंथों से जानना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कषायों को कृश करने के साथ वह अपनी काया को कृश करने के हेतु सर्वप्रथम स्थूल/ठोस आहार—दाल-भात, रोटी जैसे आहार का त्याग करता है तथा दुग्ध, छाछ आदि जैसे पेय पदार्थों में रहने का अभ्यास बढाता है। धीरे-धीरे जब दूध, छाछ आदि पर रहने का अभ्यास हो जाता है, तब वह उनका भी त्याग कर मात्र गर्म जल ग्रहण करता है। इस प्रकार चित्त की स्थिरतापूर्वक अपने उक्त अभ्यास और शक्ति को बढ़ाकर, धीरजपूर्वक, अंत में उस जल का भी त्याग कर देता है और अपने व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए 'पंच-नमस्कार' मंत्र का स्मरण करता हुआ शांतिपूर्वक, इस देह का त्यागकर परलोक को प्रयाण करता है।[1]

सल्लेखना के अतिचार

सल्लेखना धारी साधक को अपनी सेवा, सुश्रुषा होती देखकर अथवा अपनी इस साधना से बढ़ती हुई प्रतिष्ठा के लोभ में और अधिक जीने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। "मैंने आहारादि का त्याग तो कर दिया है, किंतु मैं अधिक समय तक रहूं, तो मुझे भूख-प्यास आदि की वेदना भी हो सकती है इसलिए अब और अधिक न जीकर शीघ्र ही मर जाऊं तो अच्छा है।" इस प्रकार मरण की आकांक्षा भी नहीं करनी चाहिए। "मैं सल्लेखना तो धारण कर ली है, पर ऐसा न हो कि क्षुधादिक की वेदना बढ़ जाए और मैं उसे सह न पाऊं।" इस प्रकार का भय भी मन से निकाल देना चाहिए। "अब तो मुझे इस संसार से विदा होना ही

1. र. क. श्रा. 122-130

है, किंतु एक बार मैं अपने अमुक मित्र से मिल लेता तो बहुत अच्छा होता।" इस प्रकार का भाव मित्रानुराग है। सल्लेखनाधारी साधक को इससे भी बचना चाहिए।" "मुझे इस साधना के प्रभाव से आगामी जन्म में विशेष भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त हो," इस प्रकार का विचार करना निदान है। साधक को इससे भी बचना चाहिए। जीने-मरने की चाह, भय, मित्रों से अनुराग और निदान ये पांचों सल्लेखना को दूषित करने वाले अतिचार हैं।[1] साधक को इनसे बचना चाहिए। जो एक बार अतिचार रहित होकर सल्लेखनापूर्वक मरण प्राप्त करता है, वह अति शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है। जैन शास्त्रों के अनुसार सल्लेखना-पूर्वक मरण करने वाला साधक या तो उसी भव से मुक्त हो जाता है या एक या दो भव के अंतराल में। ऐसा कहा गया है कि सल्लेखनापूर्वक मरण होने से अधिक से अधिक सात-आठ भवों के अंतर से तो मुक्ति हो ही जाती है।[2] इसीलिए जैन साधना में सल्लेखना को इतना महत्त्व दिया गया है तथा प्रत्येक साधक (श्रावक और मुनि दोनों) को जीवन के अंत में प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करने का उपदेश दिया गया है।

शूरवीर की अहिंसा

राष्ट्र की रक्षा के लिए ऐसा कोई कार्य नहीं है जो जैनी न कर सकता हो। जैनियों के पुराण तो युद्धों से भरे पड़े हैं : और युद्धों में अच्छे-अच्छे अणुव्रतियों ने भी भाग लिया है।

पद्म पुराण में लड़ाई पर जाते हुए क्षत्रियों के वर्णन में निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य है :—

सम्यग्दर्शन सम्पन्नः शूरः कश्चिदणुव्रती।
पृष्ठतों वीक्ष्यते पत्न्या पुरस्त्रिदशकन्यया॥

किसी सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती सिपाही को पीछे से पत्नी और सामने से देव कन्याएं देख रहीं हैं।

स्वामी रामभक्त के लेख "जैन धर्म में अहिंसा" से
उद्धृत. वर्णी अभिनंदन ग्रंथ, पृ. 31

---

1. र. क. श्रा. १४९
2. प्रतिक्रमण सूत्र

अनेकांत और स्यादवाद

- **अनेकांत—**
    - अनेकांत का अर्थ
    - वस्तु अनेकांतात्मक है
    - विरोध में अविरोध कैसे ?
    - अनेकांत की आवश्यकता
- **स्यादवाद—**
    - स्याद्वाद का अर्थ
    - स्याद्वाद का अर्थ शायदवाद नहीं
    - नित्य व्यवहार की वस्तु
- **सप्तभंगी—**
    - सप्त भंगी का अर्थ
    - भंग सात ही क्यों ?
    - अनेकांत स्यादवाद और सप्त भंगी में संबंध

अनेकांत और स्यादवाद

अनेकांत

अनेकांत जैन दर्शन का हृदय है। समस्त जैन वाङ्मय अनेकांत के आधार पर वर्णित हैं, उसके बिना जैन दर्शन को समझ पाना दुष्कर है। अनेकांत दृष्टि एक ऐसी दृष्टि है जो वस्तु तत्त्व को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु बहुआयामी है। उसमें परस्पर विरोधी अनेक गुण धर्म हैं। हम अपनी एकांत दृष्टि से वस्तु का समग्र बोध नहीं कर सकते। वस्तु के समग्र बोध के लिए समग्र दृष्टि अपनाने की जरूरत है। वह अनेकांतात्मक दृष्टि अपनाने पर ही संभव है। अनेकांत दर्शन बहुत व्यापक है, इसके बिना लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता। समस्त व्यवहार और विचार इसी अनेकांत की सुदृढ़ भूमि पर ही टिका है। अतः उसके स्वरूप को जान लेना भी जरूरी है।

अनेकांत का अर्थ

'अनेकांत' शब्द 'अनेक' और 'अंत' इन दो शब्दों के सम्मेल से बना है। 'अनेक का अर्थ होता है एक से अधिक, नाना। 'अंत' का अर्थ है धर्म। (यद्यपि अंत का अर्थ विनाश, छोर आदि भी होता है पर वह यहां अभिप्रेत नहीं है।) जैन दर्शन के अनुसार वस्तु परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्मों का पिंड है। वह सत् भी है असत् भी, एक भी है अनेक भी, नित्य भी है अनित्य भी। इस प्रकार परस्पर विरोधी अनेकों धर्म युगल वस्तु में अंतगर्भित है। उसका परिज्ञान हमें एकांत दृष्टि से नहीं हो सकता, उसके लिए अनेकांतात्मक दृष्टि चाहिए।

वस्तु अनेकांतात्मक है

प्रत्येक पदार्थ जहां अपने स्वरूप की अपेक्षा सत् है वहीं पर रूप की अपेक्षा वह असत् भी है। यथा घट अपने स्वरूप की अपेक्षा ही सत् है वहीं पर रूप की अपेक्षा असत् है। इसी तरह वह अपने अखंड गुण-धर्मों की अपेक्षा एक है तथा अपने रूप, रस आदि अनेक गुणों की अपेक्षा अनेक है। प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय 'उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक' परिणमन होता आ रहा है। प्रतिसमय परिणमनशील होने का बाद भी उसकी चिरसंतति सर्वथा उच्छिन्न नहीं होती इसलिए वह नित्य है, तथा उसकी पर्याय प्रति समय बदल रही है इस अपेक्षा से वह अनित्य भी है। इस प्रकार वस्तु परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्मों का पिंड है। इस दृष्टि से हम कहें कि वस्तु बहुमुखी है, बहुआयामी है। उसके एक पक्ष को ग्रहण करके उसका पूर्ण

परिचय नहीं पाया जा सकता। हम अपने एकांगी/एक कोणिक/एक पक्षीय दृष्टि से वस्तु के एकांश को ही जान सकते हैं। वस्तु के विराट स्वरूप को बहुमुखीन दृष्टि से ही समझा जा सकता है, तभी उसका समग्र बोध होगा। इस प्रकार अनेकांत का अर्थ हुआ वस्तु का समग्र बोध कराने वाली दृष्टि।

विरोध में अविरोध कैसे ?

एक ही वस्तु परस्पर विरोधी धर्म वाली कैसे हो सकती है ? यह बात सामान्य व्यक्ति के मन में उठ सकती है। किंतु हम वस्तु तत्त्व पर गहराई से विचार करें तो जगत् के चराचर सभी पदार्थ परस्पर विरोधी ही दिखाई पड़ेंगे। यह सब अनेकांतात्मक दृष्टि पर ही संभव है, क्योंकि वस्तु को हम जैसा देखना चाहें, वस्तु हमें वैसी ही दिखती है। पानी से भरे आधे गिलास को हम यह भी कह सकते हैं कि 'गिलास आधा भरा है' तथा यह भी कहा जा सकता है कि 'गिलास आधा खाली है'। यह सब देखने वाले की दृष्टि पर निर्भर है, क्योंकि गिलास खाली भी है और उसी समय भरा भी है। यदि हम एकांत आग्रहपूर्वक 'गिलास आधा भरा ही है', 'गिलास आधा खाली ही है', ऐसा कहते हैं तो यह गिलास के साथ अन्याय होगा। यथार्थतः वह खाली और भरा दोनों है। इसी प्रकार जगत् के प्रत्येक पदार्थ हमें अनेकांतात्मक दिखते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। एक ही अणु में जहां आकर्षण शक्ति विद्यामन है, वहां विकर्षण शक्ति भी अपना समान अस्तित्व रखती है। उसमें जहां संहारकारी शक्ति विद्यमान है वहीं उसमें स्थित-निर्माणकारी शक्ति भी अपना परिचय दे रही है।

जल हमारे जीवन का प्रमुख आधार है। उसके पीने से हमारी प्राण रक्षा होती है, वहीं जल तैरते समय गुटका लग जाने से जान लेवा सिद्ध होता है। अग्नि हमारे लिए बहुत उपकारक है, यह सभी जानते हैं। वह हमारे भोजन आदि के निर्माण में सहायक होती है; किंतु वही अग्नि जब किसी मकान में लग जाती है, तब वह कितनी संहारक होती है, कहने की जरूरत नहीं। इस प्रकार एक ही अग्नि में पाचकत्व और दाहकत्व जैसे दो विरोधी धर्म हमें दिखते ही हैं। जिस भोजन से हमारी क्षुधा दूर होती है, जो भोजन भूखे का प्राण रक्षक होता है; वही भोजन किसी अजीर्णग्रस्त रोगी के लिए विष साबित होता है। विष जो हमारे प्राणों का घातक है वही वैद्यों द्वारा कभी-कभी औषधि के रूप में दिया जाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु विष और अमृत दोनों है।

एकान्तवादियों को यह बात समझ में नहीं आ सकती। वे कहते हैं कि "इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को स्वीकार करने पर विरोध उपस्थित होता है।" लेकिन विरोध देखने वाले की दृष्टि में हो सकता है, विरोध वस्तु में नहीं है। वस्तु तो अनेक विरोधी धर्मों का अविरोधी आश्रय स्थल है। विरोध तो तब होता जब अग्नि को जिस दृष्टि से पाचक कहा जाए उसी दृष्टि से दाहक कहते, किंतु जब परस्पर विरोधी धर्मों का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सापेक्ष कथन किया जाता है तब विरोध की कोई संभावना नहीं रहती। सब कुछ सापेक्ष ही है। इसे इस उदाहरण से समझें—

शिक्षक ने छात्रों के सामने बोर्ड पर एक रेखा खींची और कहा कि "इस रेखा को बिना मिटाए छोटी करो।" सभी छात्र सोच में पड़ गये कि रेखा को मिंटाए बिना उसे छोटी कैसे किया जा सकता है? किंतु एक चतुर छात्र उठा उसने चॉक उठाया और उस रेखा के नीचे बड़ी रेखा खींच दी। पहली रेखा आपों-आप छोटी हो गयी। सारे छात्र चकित थे। शिक्षक ने पुनः कहा "अब इस रेखा को छोटी करो।" छात्र पुनः उठा और उसके नीचे एक बड़ी रेखा और खींच दी। वह रेखा भी छोटी हो गयी। इस प्रकार एक ही रेखा किसी अपेक्षा से बड़ी है तो किसी अपेक्षा से छोटी भी है। इस उदाहरण में सिर्फ इतना ही बताना है कि उस रेखा में 'लघुत्व' और 'दीर्घत्व' परस्पर विरुद्ध धर्म स्वरूपतः विद्यमान है और उसके ऊपर खींची गयी बड़ी और छोटी रेखाओं के कारण उसमें छोटेपन और बड़ेपन की अपेक्षा से व्यवहार हुआ। इससे स्पष्ट है कि वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म विद्यमान हैं। परस्पर विरोधी धर्मों का सही मूल्यांकन सापेक्ष/अनेकांत दृष्टि अपनाने पर ही संभव है। यदि हम वस्तु के एक धर्म को पकड़कर उसमें ही पूरी वस्तु का निश्चय कर बैठते हैं तो हमें वस्तु का सही परिज्ञान नहीं हो सकता।

सत्य साधक दृष्टि : यह अनेकांत दृष्टि हमें एकांगी विचार से बचाकर सर्वांगीण विचार के लिए प्रेरित करती है। इसका परिणाम होता है कि हम सत्य को समझने लगते हैं। सत्य को समझने के लिए अनेकांत दृष्टि ही एकमात्र साधन है। जो विचारक वस्तु के अनेकांत धर्म को अपनी दृष्टि से ओझल कर उसके किसी एक ही धर्म को पकड़कर बैठ जाते हैं, वे सत्य को नहीं पा सकते।

वस्तु के उक्त स्वरूप को नहीं समझ पाने के कारण ही विभिन्न मतवादों की उद्‌भूति हुई है तथा सब अपने मत को सत्य मानने के साथ-साथ दूसरे के मत को असत्य करार दे रहे हैं। नित्यवादी पदार्थ के नित्य अंश को पकड़कर अनित्यवादियों को भला-बुरा कहता है, तो अनित्यवादी नित्यवादियों को उखाड़ फेंकने की कोशिश में है। सभी वस्तु के एक पक्ष को ग्रहण कर सत्यांश को ही सत्य मानने का दुरभिमान कर बैठे हैं। अनेकांत दृष्टि कहती है कि "भाई! वस्तु को समग्रतः जानने के लिए समग्र दृष्टि की जरूरत है। हम अपने एकांत दृष्टि से वस्तु के एक अंश को ही जान सकते हैं, सत्यांश कभी भी पूर्ण सत्य नहीं हो सकता। वस्तु के विविध संदर्भों पर विचार करने पर ही उसका संपूर्ण बोध हो सकता है। वस्तु के एक अंश को जानकर उसे ही पूर्ण वस्तु मान बैठना हमारी भूल है। उसके विभिन्न पहलुओं को मिलाने का प्रयास करो, वस्तु अपने पूर्ण रूप में साकार हो उठेगी।" इस तथ्य को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं—

मान लीजिए हिमालय पर अनेक पर्वतारोही विभिन्न दिशाओं से चढ़ते हैं, और भिन्न-भिन्न दिशाओं से उसके चित्र खींचते हैं। कोई पूर्व से, कोई पश्चिम से, कोई उत्तर से, कोई दक्षिण से। यह तो निश्चित है कि भिन्न-भिन्न दिशाओं से लिए गए चित्र भी एक-दूसरे से भिन्न होंगे। फलतः वह एक-दूसरे से विपरीत दिखाई पड़ेंगे। ऐसी स्थिति में कोई हिमालय के एक ही दिशा के चित्र को सही बताकर अन्य दिशा के चित्रों को झूठा बताए या उसे हिमालय का मानने से स्पष्ट इंकार कर दे तो उसे हम क्या कहेंगे?

वस्तुतः सभी चित्र एकपक्षीय हैं। हिमालय का एकदेशीय प्रतिबिंब ही उसमें अंकित

है किंतु हम उन्हें असत्य या अवास्तविक तो नहीं कह सकते। सब चित्रों को यथाक्रम मिलाया जाए तो हिमालय का पूर्ण चित्र अपने-आप हाथ आ जाएगा। खंड-खंड हिमालय अखंड आकृति ले लेगा और इसके साथ ही हिमालय के दृश्यों का खंडित सौंदर्य अखंडित सत्य की अनुभूति को अभिव्यक्ति देगा।

यही बात वस्तुगत सत्य के साथ है। हम वस्तु के एकपक्ष से उसके समग्र रूप को नहीं जान सकते। वस्तु के विभिन्न पक्षों को अपने नाना संदर्भों के बीच सुंदर समन्वय स्थापित करने के बाद ही हम वास्तविक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

अनेकांत की आवश्यकता

वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए अनेकांत की महती आवश्यकता है। किसी वस्तु/बात को ठीक-ठीक न समझकर उसके ऊपर अपने हठपूर्ण विचार अथवा एकांत आग्रह लादने पर बड़े अनर्थों की संभावना रहती है। इस विषय में एक परंपरित कथा है—

एक गांव में पहली बार हाथी आया। गांव वालों ने अब तक हाथी देखा नहीं था। वे हाथी से पूरी तरह अपरिचित थे। उस गांव में पांच अंधे भी रहते थे। उन्होंने भी जब सुना कि गांव में हाथी आया है तो सभी की तरह वे भी प्रदर्शन स्थल पर पहुंचे। आंखों के अभाव में सबने हाथी को छूकर अलग-अलग देखा। उनमें से एक ने कहा, "हाथी रस्सी की तरह है," उसने पूंछ को छुआ था। दूसरे ने उसके पैर को छुआ और कहा कि "हाथी तो खंबे जैसी कोई आकृति है।" तीसरे ने हाथी की सूंड को छुआ और कहा, "अरे! यह तो कोई झूलने वाली वस्तु की आकृति का प्राणी है।" चौथे ने हाथी के पेट/घड़ को छुआ और कहा "हाथी तो दीवार की तरह है।" पांचवें ने उसके कान को स्पर्श किया और कहा, "हो न हो यह तो सूप की आकृति वाला कोई प्राणी है।" अलग-अलग अनुभवों के आधार पर पांचों के अपने-अपने निष्कर्ष थे। पांचों ने हाथी को अंशों में जाना था। परिणामतः पांचों एक जगह बैठकर हाथी के विषय में झगड़ने लगे। सब अपनी-अपनी बात पर अड़े थे। इतने में एक समझदार आंख वाला व्यक्ति आया। उसने उनके विवाद का कारण जानकर कहा, "भाई झगड़ते क्यों हो? तुम सब अंधेरे में हो, तुममें से किसी ने भी हाथी को पूर्ण नहीं जाना है। केवल हाथी के एक अंश को जानकर और उसी को पूर्ण हाथी समझकर आपस में लड़ रहे हो। ध्यान से सुनो—मैं तुम्हें हाथी का पूर्ण रूप बताता हूं। कान, पेट, पैर, सूंड और पूंछ आदि सभी अवयवों को मिलाने पर हाथी का पूर्ण रूप होता है। कान पकड़ने वालों ने समझ लिया कि हाथी इतना ही है और ऐसा ही है। पैर आदि पकड़ने वालों ने भी ऐसा ही समझा है; लेकिन तुम लोगों का ऐसा समझना कूप-मंडुकता है। कुंए में रहने वाला मेंढक समझता है संसार इतना ही है। हाथी का स्वरूप केवल कान, पैर आदि ही नहीं है, किंतु कान-पैर आदि सभी अवयवों को मिला देने पर ही हाथी का पूर्ण रूप बनता है।" अंधों को बात समझ में आ गयी। उन्हें अपनी-अपनी एकांत दृष्टि पर पश्चाताप हुआ। सभी ने हाथी विषयक पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर संतोष का अनुभव किया।

समन्वय का श्रेष्ठ साधन—यथार्थ में अनेकांत पूर्णदर्शी है और एकांत अपूर्णदर्शी।

सबसे बुरी बात तो यह है कि 'एकांत' मिथ्या अमिनिवेश के कारण वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण वस्तु मान बैठता है, और कहता है कि वस्तु इतनी ही है, ऐसी ही है इत्यादि। इसी से नाना प्रकार के झगड़े उत्पन्न होते हैं। एक मत का दूसरे मत से विरोध हो जाता है; लेकिन अनेकांत उस विरोध का परिहार करके उनका समन्वय करता है।

इस प्रकार अनेकांत दृष्टि वस्तु तत्त्व के विभिन्न पक्षों को तत्तत दृष्टि से स्वीकार कर समन्वय का श्रेष्ठ साधन बनता है। अनेकांत दृष्टि का अर्थ ही यही है कि प्रत्येक व्यक्ति की बात सहानुभूतिपूर्वक विचार कर परस्पर सौजन्य और सौहार्द स्थापित करे। अपने एकांत और संकीर्ण विचारधारा के कारण ही आज कलह और कलुषता की स्थिति निर्मित होती जा रही है। किंतु संकीर्ण दायरों से मुक्त होकर जहां प्रत्येक व्यक्ति की बात का सहानुभूतिपूर्वक विचार कर उसका समुचित आदर किया जाता है वहां कलह और कलुषता की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती।

आज वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक या जीवन के किसी भी क्षेत्र में हमारे एकांतिक रुख के कारण ही विसंवाद हो रहे हैं। इस क्षेत्र में अनेकांत दृष्टि बहुत उपयोगी है, क्योंकि अनेकांत दृष्टि सिर्फ अपनी ही बात नहीं करती, अपितु सामने वाले की बात को भी धैर्यपूर्वक सुनती है। जहां सिर्फ अपनी ही बात का आग्रह होता है सत्य हमसे दूर हो जाता है। परंतु जहां अपनी बात के साथ-साथ दूसरों की बात की भी सहज स्वीकृति रहती है, सत्य का सुंदर फूल वहीं खिलता है। एकांत 'ही' का प्रतीक है तो अनेकांत 'भी' का। जहां 'ही' का आग्रह होता है वहां संघर्ष जन्म लेता है तथा जहां 'भी' की अनुगूंज होती है वहां समन्वय की सुरभि फैलती है। 'ही' में कलह है 'भी' में समन्वय, 'ही' में आग्रह है 'भी' में अपेक्षा। कहा गया है कि 'आग्रहशील व्यक्ति युक्तियों को खींचतान कर वहीं ले जाता है जहां पहले से ही उसकी बुद्धि जमी होती है'। किंतु पक्षपात से रहित मध्यस्थ व्यक्ति अपनी बुद्धि को वहीं ले जाता है जहां उसे युक्तियां ले जाती हैं।[1]

अनेकांत दर्शन यही सिखाता है कि युक्ति सिद्ध वस्तु स्वरूप को ही शुद्ध दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए, बुद्धि का यही वास्तविक फल है। जो एकांत के प्रति आग्रहशील है और दूसरों के सत्यांश को स्वीकारने के लिए तत्पर नहीं है, वह तत्त्वरूपी नवनीत को प्राप्त नहीं कर सकता। गोपी नवनीत तभी पाती है, जब वह मथानी की रस्सी के एक छोर को खींचती है और दूसरे छोर को ढीला छोड़ती है। अगर वह एक ही छोर खींचे और दूसरे को ढीला न छोड़े तो नवनीत नहीं निकल सकता। इसी प्रकार जब एक दृष्टिकोण को गौण करके दूसरे दृष्टिकोण को प्रधान रूप से प्रकाशित किया जाता है, तभी सत्य का नवनीत हाथ लगता है। अतएव एकांत के गंदले पोखर से निकलकर अनेकांत के शीतल सरोवर में अवगाहित होना ही श्रेयस्कर है।[2]

1. आग्रहीबत् निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्ति यत्र मतिरेति निवेशम्॥
2. एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

स्याद्वाद

जब वस्तु तत्त्व ही अनेकानात्मक है तो उसके प्ररूपण के लिए किसी भाषा-शैली को अपनाना भी जरूरी है। स्याद्वाद उसी भाषा-शैली का नाम है जिससे अनेकांत्मक वस्तु तत्त्व का प्ररूपण होता है। प्रायः अनेकांत और स्याद्वाद को पर्यायवाची मान लिया जाता है किंतु दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। अनेकांत ज्ञानात्मक है और स्याद्वाद वचनात्मक अनेकांत और स्याद्वाद में वाच्य वाचक संबंध है। अनेकांत वाच्य है तो स्याद्वाद वाचक, अनेकांत प्रतिपाद्य है तो स्याद्वाद प्रतिपादक। अतः अनेकांत और स्याद्वाद को पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता। हां! अनेकांतवाद और स्याद्वाद को पर्यायवाची कहा जा सकता है।[1] वस्तुतः 'स्याद्वाद' अनेकांतात्मक वस्तु तत्त्व को अभिव्यक्त करने की प्रणाली है।[2]

स्याद्वाद का अर्थ

'स्याद्वाद' पद 'स्यात' और 'वाद' इन दो शब्दों के योग से बना है। प्रकृत में स्यात् शब्द अव्ययनिपात है। क्रिया या प्रश्नादि रूप नहीं। इसका अर्थ है कथंचित किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि विशेष से। 'वाद' शब्द का अर्थ है मान्यता, कथन, वचन अथवा प्रतिपादन। जो 'स्यात' का कथन अथवा प्रतिपादन करने वाला है वह स्याद्वाद है।[3] इस प्रकार स्याद्वाद का अर्थ हुआ—विभिन्न दृष्टि बिंदुओं से अनेकांतात्मक वस्तु का परस्पर सापेक्ष कथन करने की पद्धति। इसे कथंचितवाद, अपेक्षावाद और सापेक्षवाद भी कहा जा सकता है।

स्याद्वाद वस्तु के परस्पर विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए परस्पर मुख्य गौणता के साथ अनेकान्तात्मक वस्तु तत्व का प्रतिपादन करता है। हम यह जान चुके हैं कि वस्तु तत्त्व अनेकांतात्मक है। उसे हम अपने ज्ञान के द्वारा जान तो सकते हैं किंतु वाणी द्वारा उसका एक साथ प्रतिपादन संभव नहीं है। शब्द की एक सीमा होती है। वह एक बार में वस्तु के किसी एक धर्म का ही कथन कर सकता है, क्योंकि 'सकृदुच्चारितः शब्दः एकमेवार्थं गमयति' इस नियम के अनुसार एक बार बोला गया शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है। वक्ता अपने अभिप्राय को यदि एक ही वस्तु धर्म के साथ प्रकट करता है तो उससे वस्तु

1. स्यादिति अव्ययमनेकांतता द्योतकं ततः स्याद्वाद : अनेकांतवाद इतियावत्। स्याद्वाद मंजरि।
2. अनेकांतत्मकार्थ कथनं स्याद्वादः
3. समयसार स्याद्वाद अधिकार ता. व., पृ. 381

तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो सकता। किंतु स्यात् पूर्वक अपने अभिप्राय को प्रकट करने से वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन होता है, क्योंकि 'स्यात्' पूर्वक बोला गया वचन अपने अर्थ को कहता हुआ भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता बल्कि उनकी मौन स्वीकृति बनाये रखता है। हां जिसे वह कहता है वह प्रधान हो जाता है और शेष गौण। क्योंकि जो विवक्षित होता है वह मुख्य कहलाता है। और अविवक्षित गौण। इस प्रकार स्याद्वाद वचन में अनेकांत सुव्यवस्थित रहता है

स्याद्वाद का अर्थ शायदवाद नहीं

स्याद्वाद के अर्थ को समझने में भारतीय दार्शनिकों ने भयानक भूल की है। शंकराचार्य का अनुकरण करते हुए आज भी डा. राधाकृष्णन जैसे कतिपय विद्वान् उसी भ्रांत परंपरा का अनुसरण करते चले आ रहे हैं। वे 'स्यात्वाद' में 'स्यात्' पद का अर्थ फारसी के शायद से जोड़कर स्याद्वाद को शायदवाद, संदेहवाद, संभावनावाद अथवा कदाचित्वाद मानते हैं। खेद की बात तो यह है कि जैन ग्रंथों में इस पद का रहस्य समझाने वाले अनेक उल्लेखों के होने पर भी यह भ्रांत परंपरा अभी तक चली आ रही है।

'स्याद्वाद' के 'स्यात्' पद का अभिप्रेत अर्थ शायद संभावना, संशय या कदाचित् आदि कदापि नहीं है, जिससे कि इसे शायदवाद, संशयवाद अथवा संभावनावाद कहा जा सके। जैन ग्रंथों में स्पष्टोल्लेख है कि 'स्यात्' शब्द अनेकांत का वाची शब्द है जो एक निश्चित दृष्टिकोण को प्रकट करता है।[1] वस्तुतः मूल जैन ग्रंथों को नहीं देख पाने के कारण ही स्याद्वाद के विषय में इस प्रकार की धारणा बनी है। वर्षों से चली आ रही इस प्रकार की भ्रांत धारणा का उन्मूलन करते हुए काशी विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्ष रह चुके स्व. प्रो. फणिभूषण अधिकारी ने बड़ी मार्मिक बात कही है। वे कहते हैं—"जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धांत को जितना गलत समझा गया है उतना अन्य किसी सिद्धांत को नहीं। यहां तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धांत के साथ अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी किंतु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान के लिए तो अक्षम्य ही कहूंगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूं। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रंथों को पढ़ने की परवाह नहीं की।"

इसी प्रकार प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति महामहोपाध्याय स्व. डॉ. गंगानाथ झा लिखते हैं,[2] "जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धांत का खंडन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ कि उस सिद्धांत में बहुत कुछ है, जिसे वेदांत के आचार्यों ने

---

1. (अ) वाक्येषु अनेकांत द्योति गाम्यं प्रति विशेषक स्यात निपातोऽर्थ योगित्वात् तव केवलिनामपि। आ. मी. .103

(ब) सवर्थात्व निषेधकोऽनेकांतता द्योतकः कथंचिदर्थे स्यात शब्द निपातः। पंचा. का. टी.

(स) स्याद्वाद सवथैकांतत्यागात् किंवत चिद्विधि। आ. मी. 104

2. एकेनाकर्षयंती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेन जायति जैनी नीतिर्मन्थान नेत्रमिव गोपी॥

नहीं समझा। और जो कुछ मैं जैन धर्म को अब तक जान सका हूं उससे मेरा यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे इस धर्म के मूल ग्रंथों को पढ़ने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन धर्म का विरोध करने की कोई बात ही नहीं मिलती।"[1]

स्यात् शब्द सुनिश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इस धर्म वाली ही नहीं है, उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म विद्यमान हैं। वाणी के द्वारा वस्तु का एक साथ प्रतिपादन संभव नहीं है इसलिए जिस या जिन धर्मों का कथन किया जाता है वे प्रधान हो जाते हैं और शेष गौण। 'स्यात्' शब्द अन्य अविवक्षित गुण धर्मों के अस्तित्व की रक्षा करता है। जैसे यह कलम लंबी है, गोल है, मोटी है, स्पर्श रूपादि अनेक गुण-धर्म उसके अंदर विद्यमान हैं। यदि कोई कहे कि 'स्यात्' यह कलम लंबी है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि शायद कलम लंबी है। लंबाई की दृष्टि से तो कलम लंबी ही है लेकिन कोई कलम लंबी है, ऐसा सुनकर कलम को लंबी ही न मान बैठे, इसलिए स्यात् लगाया गया है। 'स्यात्' शब्द का तो सिर्फ इतना ही उद्देश्य है कि वस्तु के विवक्षित किसी एक धर्म को ही पूर्ण वस्तु न मान ली जाए। वह वस्तु के विवक्षित धर्मवाची शब्द को वस्तु पर पूर्णाधिकार जमाने से रोकता है। 'स्यात्' शब्द कहता है कि "वस्तु का अस्तित्व बहुत विराट है। भाई! कलम! यह सत्य है कि तुम लंबी हो पर तुम सिर्फ लंबी ही नहीं हो। इस समय शब्द के द्वारा उच्चारित होने के कारण यद्यपि तुम मुख्य हो, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तु पर ही तुम्हारा अधिकार हो। मोटाई, गोलाई आदि तुम्हारे शेष/अनंत धर्म भाई भी तुम्हारे ही तरह अस्तित्ववान हैं। वे भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि तुम।"

'स्यात्' शब्द के इसी रहस्य को उजागर करते हुए प्रो. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने लिखा है कि[2]— 'शब्द का स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है इसलिए अन्य का प्रतिषेध करने में वह निरंकुश हो जाता है। उस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान घटः' वाक्य घट के रूप का प्रतिपादन भले ही करे, पर वह रूपवान ही है यह अवधारण करके घड़े में रहने वाले रस, गंध आदि का प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह अपने स्वार्थ को मुख्य रूप से कहे यहां तक तो कोई हानि नहीं पर यदि वह इससे आगे बढ़कर अपने ही स्वार्थ को सब कुछ मान शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तुस्थिति का विपर्यास करना है। स्यात् शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्याय वचन पद्धति की सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्य के साथ अनुस्यूत रहता है, और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य गौण भाव से अनेकांत अर्थ का प्रतिपादक बनाता है।

स्याद्वाद सुनय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा पद्धति है। स्यात् यह निश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्मवाली ही नहीं है। उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म समान हैं। उसमें अविवक्षित गुण धर्मों के अस्तित्व की रक्षा स्यात् शब्द करता

---

1. जैन दर्शन स्याद्वाद अंक पृ. 182
2. जैन दर्शन पृ. 363

है। 'रूपवान घटः' में 'स्यात्' शब्द रूपवान के साथ नहीं जुटता, क्योंकि रूप के अस्तित्व की सूचना तो 'रूपवान' शब्द स्वयं ही दे रहा है। किंतु अन्य अविवक्षित शेष धर्मों के साथ उसका अन्वय है। वह रूपवान को पूरे घड़े पर अधिकार जमाने से रोकता है। और साफ कह देता है कि घड़ा बहुत बड़ा है, उसमें अनंत धर्म हैं रूप भी उसमें एक है यद्यपि रूप की विवक्षा होने से अभी रूप हमारी दृष्टि में मुख्य है और वही शब्द के द्वारा वाच्य बन रहा है। पर रस की विवक्षा होने पर वह गौण राशि में शामिल हो जाएगा और रस प्रधान हो जाएगा। इस तरह समस्त शब्द गौण मुख्य भाव से अनेकांत अर्थ के प्रतिपादक हैं। इसी सत्य का उद्घाटन 'स्यात्' शब्द सदा करता रहता है।

मैंने पहले ही बताया है कि स्यात् शब्द एक सजग प्रहरी है जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नहीं जाने देता। वह अविवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक है। इसलिए जो 'स्यात्' का 'रूपवान' के साथ अन्वय करके उसका अर्थ शायद, संभावना और कदाचित करते हैं वे प्रगाढ़ भ्रम में हैं। इसी तरह 'स्यादस्तिघटः' इस वाक्य में 'अस्ति' यह अस्तित्व अंश घट में सुनिश्चित रूप से विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्व की स्थिति कमजोर नहीं बनाता, किंतु उसकी वास्तविक आंशिक स्थिति की सूचना देकर अन्य 'नास्ति' आदि धर्मों के गौण सद्भाव का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नाम का धर्म जिसे शब्द से उच्चरित होने के कारण प्रमुखता मिली है वह पूरी वस्तु को ही न हड़प जाए और अपने नास्ति आदि अन्य सहयोगियों के स्थान को समाप्त न कर दे। इसलिए वह प्रति वाक्य में चेतावनी देता रहता है, "हे भाई! अस्ति, तुम वस्तु के एक अंश हो, तुम अपने नास्ति आदि भाइयों के हक को हड़पने की कुचेष्टा मत करना।" इस भय का कारण है कि प्राचीनकाल में 'नित्य ही है' अनित्य ही है आदि हड़पु प्रकृति के अंश वाक्यों ने वस्तु पर पूर्णाधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत् में अनेक प्रकार के वितंडा और संघर्ष उत्पन्न किए हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-प्रतिवाद ने अनेक कुमतवाद की सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, असहिष्णुता आदि से विश्व को अशांत और संघर्षपूर्ण हिंसा ज्वाला में पटक दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के उस जहर को निकल देता है जिससे अहंकार का सृजन होता है।"

नित्य व्यवहार की वस्तु

यह स्याद्वाद हमारी नित्य व्यवहार की वस्तु है। इसकी उपादेयता को स्वीकार किए बिना हमारा लोक व्यवाहर एक क्षण को भी नहीं चल सकता। लोक व्यवहार में हम देखते हैं कि एक ही व्यक्ति अपनी पिता की दृष्टि से पुत्र कहलाता है, वही अपने पुत्र की दृष्टि से पिता भी माना जाता है। इसी प्रकार अपने चाचा की अपेक्षा से भतीजा तो भतीजे की अपेक्षा से चाचा, तो मामा की अपेक्षा से भांजा और भांजे की अपेक्षा से मामा कहलाता है। इस प्रकार देखने से प्रतीत होता है कि पुत्र-पिता, चाचा-भतीजा, मामा-भांजा आदि सब रिश्ते परस्पर विरोधी हैं किंतु उनका एक ही व्यक्ति से भिन्न-भिन्न दृष्टियों की अपेक्षा से सुंदर समन्वय

पाया जाता है। इसी प्रकार पदार्थ के विषय में भी सापेक्षता की दृष्टि से अविरोधी तत्त्व प्राप्त होते हैं। विरोधी धर्मों के समन्वय के अभाव में अर्थात् एकांत के सद्भाव में सदा संघर्ष और विवाद होते रहते हैं, विवाद का अंत तो तभी संभव है जब स्याद्वाद से तत्त्वों की परस्पर सापेक्ष कथन करके अपने-अपने दृष्टिकोणों के साथ-साथ अन्यों के दृष्टिकोणों का भी समन्वय हो।

इस प्रकार स्याद्वाद वस्तु तत्त्व के निरूपण की तर्कसंगत और वैज्ञानिक प्रणाली है। यह न अनिश्चयवाद है और न संदेहवाद। यह स्पष्ट है कि स्याद्वाद किसी निश्चित अपेक्षा से एक निश्चित धर्म का प्रतिपादन करता है उसमें संदेह के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं।

अनेकांतवाद और सहिष्णुता

सहिष्णुता उदारता सामाजिक संस्कृति अनेकान्तवाद स्याद्वाद और अहिंसा को एक ही सत्य के अलग-अलग नाम है। असल में यह भारत की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है। जिसके अधीन यह देश एक हुआ है और जिसे अपनाकर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवादी वह है जो दूसरे के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है जो अपने पर भी संदेह करने की निष्पक्षता रखता है। अनेकान्तवादी वह है जो समझौतों को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्धन अनेकान्तवादी थे जिन्होंने एक धर्म से दीक्षित होते हुए भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्तवादी था, क्योंकि सत्य के सारे अंश उसे किसी एक धर्म में दिखाई नहीं दिए एवं सम्पूर्ण सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे क्योंकि हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी। और गांधीजी का तो सारा जीवन ही अनेकान्तवाद का उन्मुक्त अध्याय था।

वास्तव में भारत की सामाजिक संस्कृति का सारा दारोमदार अहिंसा पर है, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की कोमल भावना पर है। यदि अहिंसा नीचे दबी असहिष्णुता एवं दुराग्रह का विस्फोट हुआ, तो वे सारे ताने-बाने टूट जाएंगे जिन्हें इस देश में आनेवाली बीसियों जातियों ने हजारों वर्ष तक मिलकर बुना है।

रामधारीसिंह 'दिनकर'
(एई महामानवेर सागर तीरे से)

सप्तभंगी

सप्तभंगी का अर्थ

अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद का विस्तृत रूप सप्तभंगी में दृष्टिगोचर होता है। अनेकांत सिद्धांत के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रत्येक पदार्थ परस्पर विरोधी अनेक धर्म युगलों का पिंड है। वे वस्तु में एक साथ रह तो सकते हैं परंतु उन्हें युगपत् व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इसके युगपत् प्रतिपादन के लिए भाषा में क्रमिकता और सापेक्षता चाहिए। स्याद्वाद पद्धति द्वारा प्रत्येक धर्म का वर्णन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा से अस्ति (विधि) नास्ति (निषेध) और अवक्तव्य आदि रूप से सात प्रकार से किया जाता है, क्योंकि प्रत्येक धर्म युगल धर्म सप्तक लिये हुए हैं। वे सात धर्म सात वाक्यों द्वारा कहे जाते हैं। प्रत्येक धर्मों की सप्त प्रकारीय इस वर्णण शैली को सप्तभंगी कहते हैं। सप्तभंगी अर्थात् सात प्रकार के भंग, सात प्रकार के वाक्य विन्यास।[1] सप्तभंगी का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि—

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी।[2] अर्थात् प्रश्नानुसार वस्तुगत किसी भी एक धर्म में विधि और निषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। जब वस्तुगत किसी धर्म का विधि निषेधपूर्वक अविरुद्ध कथन करना होता है तब जैन दार्शनिक सप्तभंगी न्याय का अनुसरण करते हैं। सप्तभंगियां निम्न हैं[3]—

स्याद् अस्ति एव—किसी अपेक्षा से है ही।

स्याद् नास्ति एव—किसी अपेक्षा से नहीं ही है।

स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव—किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है।

स्याद् अवक्तव्यमेव—किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव अवक्तव्य एव—किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से अवक्त्तव्य ही है।

स्याद नास्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव—किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव, स्याद् नास्ति एव, स्याद् अवक्तव्य एव—किसी अपेक्षा से है ही,

---

1. सप्तभिः प्रकारैः वचन विन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते। स्या. वा. म. का. 23 टी
2. त. वा. 1.6.51
3. सिय अत्थि, णत्थि उहयं अवतव्वं पुणो य तत्तिदयं।
   दव्वं खु सत्त भंगी आदेसवसेण संभवदि॥ प. का. गा. 14

किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

भंग सात ही क्यों?

उक्त सात भंगों में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ भंग ही मूल भंग हैं। शेष चार भंगों में तीसरा, पांचवां और छठा भंग द्विसंयोगी है तथा सातवां भंग त्रिसंयोगी है। गणित के नियमानुसार भी 'अस्ति', 'नास्ति' और अवक्तव्य इन तीन भंगों से चार संयुक्त भंग बनकर सप्तभंगी दृष्टि का उदय होता है। नमक, मिर्च और खटाई इन तीनों स्वादों के संयोग से चार और स्वाद उत्पन्न होंगे। नमक, मिर्च, खटाई, नमक-मिर्च, नमकखटाई, मिर्च खटाई तथा नमक-मिर्च और खटाई। इस प्रकार सात स्वाद होंगे। इसलिए कहा गया है कि प्रत्येक धर्म युगल में सप्त ही भंग बनते हैं, हीनाधिक नहीं।

ये सातों भंग वक्ता के अभिप्रायानुसार बनते हैं। वक्ता की विवक्षा के अनुसार एक वस्तु है भी कही जा सकती है और नहीं भी। दोनों के योग से 'हां ना' एक मिश्रित वचन भंग भी हो सकता है। और इसी कारण उसे अवक्तव्य भी कहा जा सकता है। वह यह भी कह सकता है कि प्रस्तुत वस्तु है भी और फिर भी अवक्तव्य है, नहीं है फिर भी अवक्तव्य है अथवा है भी नहीं भी है फिर भी अवक्तव्य है। इन्हीं सात दृष्टियों के आधार पर सप्तभंगियां बनी हैं। सप्तभंगियों की सार्थकता को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं। किसी ने पूछा, "आप ज्ञानी हैं?" इसके उत्तर में इस भाव से कि मैं कुछ न कुछ तो जानता ही हूं। मैं कह सकता हूं कि "मैं स्याद् ज्ञानी हूं।" चूंकि मुझे आगम का ज्ञान है, किंतु गणित, विज्ञानादि अन्य अनेक विषयों का पर्याप्त ज्ञान नहीं है उस अपेक्षा से मैं कहूं कि "मैं स्याद अज्ञानी हूं" तो भी अनुचित नहीं होगा। कितनी ही बातों का ज्ञान है और कितनी ही बातों का ज्ञान नहीं है। अतः मैं यदि कहूं कि "मैं स्याद् ज्ञानी भी हूं और नहीं भी" तो भी असंगत नहीं होगा। अगर इस दुविधा के कारण मैं इतना ही कहूं कि "मैं कह नहीं सकता कि मैं ज्ञानी हूं या नहीं" तो भी मेरा वचन असत्य नहीं होगा। इन्हीं आधारों पर सत्यता के साथ यह भी कह सकता हूं कि "मुझे कुछ ज्ञान है तो, फिर भी कह नहीं सकता कि आप जिस विषय को मुझसे जानना चाहते हैं उस विषय पर प्रकाश डाल सकता हूं या नहीं।" इसी बात को दूसरी तरह से कह सकता हूं कि "मैं ज्ञानी तो नहीं हूं फिर भी संभव है आपकी बात पर कुछ प्रकाश डाल सकूं" अथवा इस प्रकार भी कह सकता हूं कि "मैं कुछ ज्ञानी भी हूं कुछ नहीं भी हूं।" अतः कह नहीं सकता कि प्रकृत विषय का मुझे ज्ञान है या नहीं। ये समस्त वचन प्रणालियां अपनी-अपनी सार्थकता रखती हैं तथा पृथक्-पृथक् रूप में वस्तु-स्थिति के एक अंश को ही प्रकट करती हैं, उसके पूर्ण स्वरूप को नहीं। स्याद्वाद का एक शास्त्रीय उदाहरण है घट, जिसका स्वरूप नियमन जैन दार्शनिक सप्तभंगी के माध्यम से इस प्रकार करते हैं—

स्याद् अस्ति एव घटः—कथंचिद् घट है ही।
स्याद् नास्ति एव घटः—कथंचिद् घट नहीं ही है।
स्याद् अस्ति नास्ति एव घटः—कथंचिद् घट है ही, कथंचिद् घट नहीं ही है।

स्याद्वक्तव्य एव घटः—कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति अवक्तव्य एव घटः—कथंचिद् घट है ही और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद्नास्ति अवक्तव्य एव घटः—कथंचिद् घट नहीं ही है और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद्अस्ति नास्ति अवक्तव्य एव घटः—कथंचिद् घट है ही, कथंचिद् घट नहीं ही है और कथंचिद घट अवक्तव्य ही है।

स्याद्अस्ति एव घटः—कथंचिद् घट है ही। इस वाक्य में 'घट' विशेष्य और अस्ति विशेषण है। एवकार विशेषण से युक्त होकर घट के अस्तित्व धर्म का अवधारण करता है। यदि इस वाक्य में 'स्यात्' का प्रयोग नहीं होता तो 'अस्तित्व एकांतवाद' का प्रसंग आ जाता, जो इष्ट नहीं है, क्योंकि घट में केवल अस्तित्व धर्म ही नहीं है, इसके अतिरिक्त अन्य धर्म भी उसमें हैं। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इस आपत्ति को निरस्त कर देता है। 'एवकार' के द्वारा सीमित अर्थ को वह व्यापक बना देता है। विवक्षित धर्म का असंदिग्ध प्रतिपादन और अविवक्षित अनेक धर्मों का संग्रहण—इन दोनों की निष्पत्ति के लिए 'स्यात्कार' और 'एवकार' का समन्वित प्रयोग किया जाता है।

सप्तभंगी के प्रथम भंग में विधि की और दूसरे में निषेध की कल्पना है। प्रथम भंग में विधि प्रधान है और दूसरे में निषेध। वस्तु स्वरूप शून्य नहीं है इसलिए विधि की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है और वह सर्वात्मक नहीं है। अतः निषेध की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है।

जैसे विधि वस्तु का धर्म है वैसे ही निषेध भी वस्तु का धर्म है। स्व-द्रव्य की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। यह विधि है पर द्रव्य की अपेक्षा से घट का नास्तित्व है। यह निषेध है। इसका अर्थ यह हुआ कि निषेध आपेक्षिक पर्याय है, दूसरे के निमत्त से होने वाला पर्याय है। किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है। निषेध की शक्ति द्रव्य में निहित है। द्रव्य में यदि अस्तित्व धर्म हो और नास्तित्व धर्म न हो तो वह अपने द्रव्यत्व को बनाए नहीं रख सकता। निषेध 'पर' की अपेक्षा से व्यवहृत होता है इसलिए उसे आपेक्षिक या पर निमित्तक पर्याय कहते हैं। वह वस्तु के सुरक्षा कवच का काम करता है, एक के अस्तित्व में दूसरे को मिश्रित नहीं होने देता। 'स्व द्रव्य की अपेक्षा से घट है' और 'पर द्रव्य की अपेक्षा से घट नहीं है' ये दोनों विकल्प इस सत्यता को प्रकट करते हैं कि घट सापेक्ष है। वह सापेक्ष है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस क्षण में उसका अस्तित्व है, उस क्षण में उसका नास्तित्व नहीं है। अस्तित्व और नास्तित्व (विधि और निषेध) दोनों युगपत हैं, किंतु एक क्षण में एक साथ दोनों का प्रतिपादन कर सकें, ऐसा कोई शब्द नहीं है। इसलिए युगपत् दोनों धर्मों का बोध कराने के लिए अवक्तव्य भंग का प्रयोग होता है। इसका तात्पर्य है कि दोनों धर्म एक साथ हैं, किंतु उनका कथन नहीं किया जा सकता। उक्त विवेचन का सार यह है कि स्याद्वाद के अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य आदि भंग घट वस्तु के द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव पर निर्भर करते है। घट जिस द्रव्य से निर्मित है जिस क्षेत्र काल और भाव में हैं उस द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से उसका अस्तित्व है। किंतु अन्य द्रव्य, अन्य क्षेत्र, अन्य काल और अन्य भाव की अपेक्षा में उसका नास्तित्व है। इस प्रकार घट में

अस्तित्व-नास्तित्व दोनों हैं और इन युगल धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता। अतः वह (घट) अवक्तव्य भी है। अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य—ये तीनों मूल भंग हैं। शेष चार इन्हीं भंगों से निष्पन्न होते हैं। अतः उनका विवेचन अनावश्यक है। सप्तभंगी से घटादि वस्तु समग्र भावाभावात्मक, सामान्य विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक और वाच्यावाच्यात्मक धर्मों का युगपत् कथन संभव है।

अनेकांत स्याद्वाद और सप्तभंगी में संबंध

यहां पर जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि अनेकांत, स्याद्वाद और सप्तभंगी इन तीनों में क्या अंतर है। इसका उत्तर संक्षेप में यह है कि अनेकांत वस्तु है/वाच्य है, स्याद्वाद उसका व्यवस्थापक है/वाचक है और सप्तभंगी स्याद्वाद का साधन है। स्याद्वाद जब अनेकांत रूप वस्तु का कथन करता है तो सप्तभंगी के माध्यम से ही करता है। इसका आश्रय लिये बिना वह उसका निरूपण नहीं कर सकता। इसे और स्पष्टतया समझें की स्याद्वाद स्याद्वादी वक्ता का वचन है। अनेकांत उसके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है, और सप्तभंगी उसके प्रतिपादन की शैली, पद्धति या प्रक्रिया है। अतः सप्तभंगी में सात भंगों का समन्वय है इसलिए उसे सप्तभंगी कहा जाता है।

इस प्रकार यह स्याद्वाद का संक्षिप्त रूप है। यद्यपि यह विषय अत्यंत व्यापक है और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, फिर भी यहां उसका संक्षिप्त स्वरूप दर्शाना ही इष्ट है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए जैन न्याय ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए।

गुरु गरिमा

- गुरु वचन आपत्तियों में भी पथ प्रदर्शित करते हैं।
- गुरु के द्वारा दिये गये निर्देश दीपक की तरह हमारे पंथ को आलोकित करते हैं।
- जिसे गुरुओं द्वारा राह मिल जाती है फिर उसके लिए किसी तरह की परवाह नहीं होती है।
- यह बात ठीक है कि आंखें हमारी हैं, दृष्टि हमारी है लेकिन उसका उपयोग कैसे करना है? यह हमें गुरु ही सिखलाते हैं, यही तो गुरु की महिमा है।

—आचार्य श्री विद्यासागर जी के प्रवचनों से

● ●

परिशिष्ट-1
पारिभाषिक शब्द सूची

पाराशष्ट-2

संदर्भ ग्रंथ सूची

मांक	संकेताक्षर	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
1.	अमित श्रा.	अमित गति श्रावकाचार	आचार्य अमितगति	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत	वि. सं. 2015
2.	अष्ट पाहुड़	अष्ट पाहुड़	आचार्य कुंदकुंद	अनेकांत जैन विद्वत् परिषद्, सोनागिरि	
3.	अष्ट स.	अष्टसहस्री	आचार्य विद्यानन्द	निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई	1915
4.	अष्टाध्यायी	अष्टाध्यायी			
5.	आ. सा.	आचार सार	आ. वीरनंदि सि. चक्रवर्ती	दिगम्बर जैन समाज, अशोकनगर	1992
6.	आदिपुराण	—	आचार्य जिनसेन	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	
7.	आ. मी.	आप्त मीमांसा	आचार्य समन्तभद्र	भा. जै. सि. प्रकाशिनी संस्था, काशी	1914
8.	आ. मी. वृ.	आप्त मीमांसा पदवृत्ति	आ. वसुनंदि सिद्धांत चक्रवर्ती	भा. जै. सि. प्रकाशिनी संस्था, काशी	1914
9.	आ. प.	आलाप पद्धति	आ. देवसेन	अनेकांत विद्वत् परिषद्, सोनागिरि	
10.	आव. नि.	आवश्यक निर्युक्ति	आ. भद्रबाहु (द्वितीय)	दे. ला. जै. पुस्तक फंड, सूरत	वि. 1976
11.	आव. वृ.	आवश्यक वृत्ति	हरिभद्र सूरि	—	1976
12.	उत्तरा. सू.	उत्तराध्ययन सूत्र	—	पुष्पचंद खेमचंद वलाद	—
13.	उपा.	उपसकाध्ययन	सोमदेव सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ	1964

14.	ऋग्वेद	—			
15.	कठोपनिषद	—	—	गीता प्रेस, गोरखपुर	
16.	कर्म ग्रंथ	—	देवेन्द्र सूरि	जै. पू. प्रचारक मंडल, आगरा	1939
17.	कल्पसूत्र	—	आ. भद्रबाहु	प्राचीन पुस्तकोद्धारक फंड, सूरत	1939
18.	कर्म प्र.	कर्म प्रकृति	आचार्य नेमिचंद्र	भारतीय ज्ञानपीठ	1944
19.	क. पा.	कषाय पाहुड़	आचार्य गुणधर	दि. जैन संघ, मथुरा	2000
20.	का. अनु.	कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामी कुमार	परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास	
21.	गीता	—	—	गीता प्रेस, गोरखपुर	
22.	गो. क. का.	गोम्मटसार कर्मकांड	आचार्य नेमिचंद्र	भारतीय ज्ञानपीठ	1980
23.	गो. जी. का.	गोम्मटसार जीवकांड	" "	" "	1978
24.	चा. पा.	चारित्र पाहुड़	आ. कुंदकुंद	निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई	
25.	चा. सा.	चारित्र सार	चामुंडराय	दि. जैन ग्रंथमाला, मुम्बई	1974
26.	छहढाला	—	पं. दौलतराम		
27.	छांदोग्य उपनिषद्	—	—	गीता प्रेस, गोरखपुर	
28.	जयधवला		आचार्य वीरसेन	दि. जैन संघ, मथुरा चौरासी	
29.	जै. द. सा.	जैन दर्शन सार	पं. चैनसुखदास	वीर पुस्तक भंडार, जयपुर	1974
30.	जैन लक्षणावली	—	पं. बालचंद सिद्धांत शास्त्री	वीर सेवा मंदिर दरियागंज, दिल्ली	1973
31.	जै. सि. को.	जैनेन्द्र सिद्धांत कोष	जिनेन्द्र वर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ	1985
32.	त. अ.	तत्त्वानुशासन	आचार्य रामसेन	भा. अनेकांत विद्वत परिषद्, सोनागिरि	
33.	तत्त्वबोध		शंकराचार्य	स्टीम प्रेस, मुम्बई	संवत् 1988

35.	त. भा. वृ.	तत्त्वार्थ भाष्य वृत्ति	हरिभद्र सूरि	ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम	1992
36.	त. वा.	तत्त्वार्थवार्तिक	भट्टाकलंक देव	दुलीचंद वाकलीवाल देरगांव, असम	
37.	त. वृ.	तत्त्वार्थ वृत्ति	श्रुतसागर सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ	
38.	त. वृ. भा.	तत्त्वार्थ वृत्ति (भास्करनंदि)	अनु. आ. जिनमति	पांचूलाल जैन, किशनगढ़	
39.	त. सा.	तत्त्वार्थ सार	आचार्य अमृतचंद	वर्णी दिगम्बर जैन ग्रंथालय, वाराणसी	1970
40.	त. सू.	तत्त्वार्थ सूत्र	आचार्य उमास्वामी	पं. मोहनलाल शास्त्री) जबलपुर	
41.	त. सू.	तत्त्वार्थ सूत्र	पं. फूलचंद्र सिद्धांत शास्त्री	वर्णी दि. जैन ग्रंथमाला, वाराणसी	
42.	त. सं.	तर्क संग्रह	अन्नम भट्ट	हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला, संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी	सप्तम संस्करण
43.	तर्क भा.	तर्क भाषा	केशव मिश्रा	साहित्य भंडार, मेरठ	1976
44.	ति. प.	तिलोयपण्णत्ति	आ. यतिवृषभ	भारतवर्षीय दि. जैन महासभा, लखनऊ	
45.	द्र. सं.	द्रव्य संग्रह	नेमिचंद्र सिद्धांति देव		
46.	द्वात्रिंशतिका	द्वात्रिंशतिका	आचार्य अमितगति		
47.	ध.	धवला	आचार्य वीरसेन	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	
48.	धर्म सं. श्राव.	धर्म संग्रह श्रावकाचार		अनेकांत विद्वत परिषद्, सोनागिरि	
49.	नि. सा.	नियमसार	आचार्य कुंदकुंद		
50.	न्या. कु. च.	न्याय कुमुदचंद्र	प्रभाचंद्राचार्य	माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, हीराबाग, मुम्बई	
51.	न्याय सू.	न्याय सूत्र	गौतमऋषि	संस्कृति संस्थान, बरेली	1964

52	पं. सं. प्रा.	पंच संग्रह प्राकृत	अज्ञात	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	
53.	पंचम कर्म ग्रंथ				
54.	पंचास्तिकाय		आचार्य कुंदकुंद	अनेकांत विद्वत परिषद, सोनागिरि	
55.	पंचाध्यायी		पं. राजमल	महावीर आश्रम, कारंजा	1978
56.	पं. सं. स्वो.	पंचसंग्रह स्वोपज्ञ वृत्ति		मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर, डभोई	1938
57.	पद्मनंदि पंचविंशतिका	पद्मनंदि पंचविंशतिका	आ. पद्मनंदि	जीवराज ग्रंथमाला	1932
58.	पद्मपुराण (जैनेतर)				
59.	पातञ्जल महाभाष्य	—	—	—	
60.	पु. सि. उ.	पुरुषार्थ सिद्धि उपाय	आचार्य अमृतचंद्र		
61.	प्रतिक्रमण सूत्र				
62.	प्र. मी.	प्रमाण मीमांसा	आचार्य हेमचंद्र	सीधी ग्रंथमाला, कलकत्ता	1939
63.	प्रवचनसोरोद्धार		नेमिचंद्र सूरि	जीवनचंद खेबरचंद ज्वेहरी, मुम्बई	
64.	प्रमेयकमलमार्तण्ड		प्रभाचंद्राचार्य	निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई	1941
65.	वा. अनु.	वारस अणुपेक्खा	आचार्य कुंदकुंद		
66.	भग. आ.	भगवती आराधना	आ. शिवकोटि	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	
67.	भ. आ. वि. टी.	भगवती आराधना विजयोदया टीका	अपराजित सूरि	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	
68.	भा. सं.	भाव संग्रह	वामदेव सूरि	माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रंथमाला	
69.	मज्झिम निकाय	—	—	महाबोधि सभा, सारनाथ	
70.	मनुस्मृति	—	—	रणधीर बुक सेल, हरिद्वार	

71.	महा. पु.	महापुराण	आ. जिनसेन	भारतीय ज्ञानपीठ	
72.	महाभारत	—		गीता प्रेस, गोरखपुर	
73.	मी. श्लो. वा.	मीमांसक श्लोक वार्तिक	—	—	
74.	मु. उ.	मुण्डक उपनिषद्		गीता प्रेस, गोरखपुर	
75.	मू. चा.	मूलाचार	आ. वट्टकेर	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	
76.	मो. मा. प्र.	मोक्षमार्ग प्रकाशक	पं. टोडरमल	मुसद्दीलाल चेरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली	
77.	य. चम्पू	यशस्तिलक चम्पू	सोमदेव सूरि	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई	1968
78.	यो. सार	योगसार	आ. अमितगति	भारतीय ज्ञानपीठ	1968
79.	योगसार स्वो. वृ.	योगसार स्वोपज्ञ वृत्ति	आ. हेमचंद्र	आत्मानंद जैन पुस्ताकालय मंडल, आगरा	1922
80.	र. क. श्रा.	रत्न करण्डक श्रावकाचार	आ. समंतभद्र	मुनि संघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर	
81.	रयणसार	—	आ. कुंदकुंद		
82.	ल. सा.	लब्धिसार	आ. नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती		
83.	ला. सं.	लाटी संहिता	कवि राजमल	माणिकचंद जैन ग्रंथमाला, मुम्बई	
84.	वसु. श्रा.	वसुनंदि श्रावकाचार	आचार्य वसुनंदि	भारतीय ज्ञानपीठ	1992
85.	व्र. वि. सं.	व्रत विधान संग्रह	पं. बारेलाल जैन (राजवैद्य)	वैद् बाबूलाल राजेन्द्र कुमार जैन, टीकमगढ़	
86.	वि. त. प्र.	विश्व तत्त्व प्रकाश	भावसेन त्रैविध्य	जै. सं. संरक्षक संघ, सोलापुर	1964
87.	ष. खं.	षटखंडागम	आ. पुष्पदंत भूतबली	जै. सं. संरक्षक संघ, सोलापुर	
88.	ष. समु.	षड्दर्शन समुच्चय	आ. हरिभद्र सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ	1981
89.	सं. प्र.	संबोध प्रकरण	आ. हरिभद्र सूरि		

90.	स. सा.	समयसार	आ. कुंदकुंद	ज्ञानोदय प्रकाशन, जबलपुर	1987
91.	स. सि.	सर्वार्थसिद्धि	आ. पूज्यपाद	भारतीय ज्ञानपीठ	1989
92.	सां. का.	सांख्य कारिका	ईश्वर कृष्ण	डा. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, दिल्ली	1976
93.	सा. ध.	सागार धर्मामृत	पं. आशाधर	भा. दि. जै. ग्रंथमाला, मुम्बई	1972
94.	सि. विनि.	सिद्धि विनिश्चय	आ. अकलंकदेव	भारतीय ज्ञानपीठ	1959
95.	स्था.	स्थानांग	—	—	
96.	स्या. मं.	स्याद्वाद मंजरी	आ. मल्लिसेन	परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास	
97.	स्वयंभूस्तोत्र	स्वयंभूस्तोत्र	आ. समंतभद्र		
98.	ह. पु.	हरिवंश पुराण	आ. जिनसेन	भारतीय ज्ञानपीठ	

हिन्दी की पुस्तकें

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष
1.	अशोक के धर्म लेख	जनार्दन भट्ट	काशी	
2.	उड़ीसा में जैन धर्म	नीलकंठदास	अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज, एटा	1958
3.	कर्म सिद्धांत	जिनेन्द्र वर्णी	जिनेन्द्र वर्णी ग्रंथमाला, पानीपत	
4.	जैन इतिहास पर लोकमत	राजेन्द्र कुमार जैन	श्री जैन समाज, मेरठ	1968
5.	जैन दर्शन	प्रो. महेन्द्र कुमार जैन	गणेश वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी	
6.	जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान	मुनि नागराज	आत्माराम एंड संस, दिल्ली	
7.	जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास	डा. भागचंद भास्कर	नागपुर विद्यापीठ प्रकाशन	1977
8.	जैन धर्म	पं० कैलाशचन्द जैन	भा. दि. जै. संघ मथुरा, चौरासी	
9.	जैन धर्म	पं. नाथूराम डोंगरीय	वीर निर्वाण ग्रंथमाला, इंदौर	
10.	जैन धर्म दर्शन	मोहनलाल मेहता	—	
11.	जैन साहित्य का इतिहास	पं. कैलाशचंद जैन	गणेश वर्णी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी	
12.	जैन साहित्य में विकार	पं. बेचरदास दोशी	दि. जैन युवक संघ, ललितपुर	
13.	तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रंथ	—	जीवा जी राव विश्वविद्यालय	
14.	दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि	बाबू कामता प्रसाद जैन	दि. जै. सर्वोदय तीर्थ, अमरकंटक	
15.	नय दर्पण	जिनेन्द्र वर्णी	जिनेन्द्र वर्णी ग्रंथमाला, पानीपत	
16.	प्राचीन भारत	आर. सी. मजूमदार	मोतीलाल बनारसीदास	1990
17.	पं. चंद्राबाई अभिनंदन ग्रंथ	सं. डा. नेमीचंद्र शास्त्री	आरा	
18.	भट्टारक संप्रदाय	विद्याधर जोहरा पुरकर	शोलापुर	1958
19.	भरत और भारत	डा. प्रेम सागर	कुंदकुंद भारती, दिल्ली	

20.	भारतीय इतिहास और संस्कृति	डा. विशुद्धानंद पं. जयशंकर	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी	
21.	भारतीय इतिहास एक दृष्टि	डा. ज्योति प्रसाद जैन	भारतीय ज्ञानपीठ	1966
22.	भारत के प्राचीन राजवंश	विश्वम्भरनाथ रेउ	हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, मुम्बई	
23.	भारतीय दर्शन	प्रो. हरेन्द्र प्रसाद	मोतीलाल बनारसीदास	1974
24.	भारतीय दर्शन	डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्	राजपाल एंड संस, दिल्ली	
25.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय		1966
26.	भारतीय दर्शन	वाचस्पति गोरैला	लोकभारती प्रकाशन	
27.	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	एम. हिरियन्ना	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	1993
28.	भारत में संस्कृति और धर्म	डा. एम. एल. शर्मा		
29.	मानवता की धुरी	नीरज जैन	मनीशा ट्रस्ट, सतना	
30.	मार्कण्डेय पुराण एक अध्ययन	डा. वासुदेवशरण अग्रवाल		
31.	मोहनजोदड़ो जैन परंपरा और प्रमाण	आ. विद्यानंद	कुंदकुंद भारती, दिल्ली	
32.	शांतिपथ प्रदर्शन	जिनेन्द्र वर्णी	जिनेन्द्र वर्णी ग्रंथमाला, पानीपत	
33.	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारीसिंह दिनकर	लोकभारती प्रकाशन	
34.	हिमालय में भारतीय संस्कृति	विश्वम्भर सहाय प्रेमी		
35.	हिन्दू सभ्यता	राधाकुमुद मुखर्जी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	

English Books

S.No.	Name of Book	Writer's Name	Publisher	Year
1.	Cosmology old and new	G.R. Jain	Bhartiya Gyanpith	
2.	The Heart of Jainism	Miss. Stevension	Munshiram Manohar Lal, Delhi	
3.	The Jain Stupe Mathura			
4.	Indian Antiquary			
5.	Harrappa and Jainism	T.N. Ramchandran	Kundkund Bharti Prakashan	
6.	The Nature of the Physical World			

पत्रिकाएं

1.	अहिंसा वाणी (ऋषभदेव विशेषांक) अप्रैल-मई 1957	संपादक, बाबू कामता प्रसाद जैन	अखिल विश्व जैन मिशन	
2.	श्रमण	डा. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्या आश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	
3.	ऋषभ सौरभ	हृदय राज जैन	ऋषभदेव प्रतिष्ठान, दिल्ली	
4.	णाण सायर (ऋषभ अंक)	डा. अशोक जैन	अरिहंत इंटरनेशनल, दिल्ली	
5.	जैन सिद्धांत भास्कर		जैन सिद्धांत भवन, आरा	